नीतिवाक्यामृत में राजनीति

डॉ. एम. एल. शर्मा
एम ए, पी-एच. डी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला :
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्रन्थांक : ३१६
प्रथम संस्करण : सितम्बर १९७१

नीतिवाक्यामृत मे राजनीति

(राजनीति)

डॉ एम एल शर्मा

©

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

o o o o

NITI VAKYAMRITA MEN RAJANITI

(Political Ethics)

Dr M L Sharma

Published by : BHARATIYA JNANPITH

3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6

(*Phone* 272582 *Gram* • 'JNANPITH', Delhi)

Price

Rs 15.00

मूल्य : पन्द्रह रुपये

प्राक्कथन

न्याय एव विधि के अध्ययन की भाँति भारत में राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की परम्परा अठारहवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती रही। आचार्य सोमदेवसूरि का 'नीतिवाक्यामृत' भी इसी परम्परा में विरचित राजशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य सोमदेव का द्वितीय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'यशस्तिलक चम्पू' है। इन दोनो ग्रन्थो में राजनीतिक आदर्शों एवं सस्थाओं का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। राजनीतिक दृष्टि से 'यशस्तिलक' का तृतीय आश्वास अवलोकनीय है। ये दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक हैं और ये सोमदेव के सूक्ष्म अध्ययन, महान् अनुभव, अद्वितीय विद्वत्ता तथा बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं।

प्रस्तुत पुस्तक लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी एच-डी के लिए स्वीकृत लेखक के शोध-प्रबन्ध 'नीतिवाक्यामृत में राजनीतिक आदर्श एवं संस्थाएँ' का सशोधित रूप है। इस में नीतिवाक्यामृत में प्रतिपादित राजनीतिक आदर्श एव सस्थाओ का वैज्ञानिक और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। राजशास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक उपेक्षित ही था। इस ग्रन्थ के उद्धरण कुछ राजनीति-प्रधान ग्रन्थो में उपलब्ध होते हैं तथा पत्र-पत्रिकाओ में भी इस के कतिपय विषयो पर लेख प्रकाशित हुए हैं। किन्तु सागोपाग रूप से इस सम्पूर्ण ग्रन्थ के आधार पर कोई ग्रन्थ प्रकाशित नही हुआ है। वैज्ञानिक ढग से इस ग्रन्थ के विवेचन का यह सर्वप्रथम प्रयास है। इस के विवेचन की मौलिकता को सुरक्षित रखने के लिए लेखक ने सोमदेव के मूल ग्रन्थो—'नीतिवाक्यामृत' एव 'यशस्तिलक चम्पू' का ही आश्रय लिया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निदेशक एवं प्रेरक डॉ रामकुमारजी दीक्षित—भूतपूर्व डीन, फैकल्टी ऑफ आर्ट्स तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एव पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ—का लेखक हृदय से आभारी है, जिन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक इस शोध-प्रबन्ध का निदेशन किया। शोध-प्रबन्ध को ग्रन्थ-रूप देते समय पूज्य विद्वन्मूर्धन्य डॉ आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येजी ने बहुमूल्य सुझाव दिये, जिन के सुझावों से यह रचना और भी उपयोगी हो गयी है। परिशिष्ट में 'नीतिवाक्यामृत' के सम्पूर्ण समुद्देशों का समावेश उन्हीं के परामर्श पर किया गया है। दोनो विद्वानों के चरणो में लेखक अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता है। भारतीय ज्ञानपीठ की परामर्शदात्री

समिति, उस के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन तथा डॉ. गोकुलचन्द्रजी जैन का लेखक आभारी है, जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को प्रकाशनार्थ स्वीकार किया और अत्यन्त जागरूकतापूर्वक इस के प्रकाशन का कष्ट वहन किया।

अन्त में लेखक उन समस्त विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करना आवश्यक समझता है, जिन के ग्रन्थों से इस शोध-प्रबन्ध के प्रणयन में उसे सहायता प्राप्त हुई।

दिगम्बर जैन कॉलेज,
बड़ौत (मेरठ)

—डा. एम. एल. शर्मा

अनुक्रम

भारत में राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की परम्परा

पाश्चात्य विद्वानो की यह धारणा, कि राजशास्त्र का विकास ग्रीस अथवा यूनान में हुआ, नितान्त भ्रमपूर्ण है। प्लेटो और अरस्तू से बहुत पूर्व भारत में राजनीति शास्त्र का विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। भारतीय परम्परा तो राजनीतिशास्त्र की सत्ता सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानती है। महाभारत के शान्तिपर्व के ५९वें अध्याय में लिखा है कि समाज की व्यवस्था को ठीक रखने के लिए प्रजापति ने एक लाख अध्याय वाले नीतिशास्त्र की रचना की। इसमें धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग तथा चातुर्वर्ग मोक्ष और उसके त्रिवर्ग सत्त्व, रज और तम का विवेचन किया था। इसके साथ ही उन्होने दण्डज त्रिवर्ग—स्थान, काल और क्षय तथा नीतिज षड्वर्ग—वित्त, देश, काल, उपाय, कार्य और सहाय के अतिरिक्त आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारो राजविद्याओं और इनसे सम्बन्धित विषयोका वर्णन किया था।[1] वात्स्यायनके कामसूत्रमे भी यही बात कही गयी है कि प्रजापति ब्रह्मा ने त्रिवर्गशासन—धर्म, अर्थ और काम-विषयक महाशास्त्र की रचना की, जिस में एक लाख अध्याय थे।[2] यह ग्रन्थ अत्यन्त विशाल था। अत उस को सरल और सुबोध बनाने के उद्देश्य से विशालाक्ष ने दस हजार अध्यायो मे उस को संक्षिप्त किया। विशालाक्ष महादेवजी का ही दूसरा नाम है, क्योकि वे त्रिकालदर्शी थे। विशालाक्ष के पश्चात् उस नीतिशास्त्र की रचना इन्द्र ने पाँच हजार अध्यायो में की, इस के उपरान्त बृहस्पति ने उस को सक्षिप्त कर के तीन हजार अध्यायो में लिखा।[3] नीतिप्रकाशिका में भी प्राचीन राज-शास्त्र प्रणेताओ के नामो का उल्लेख मिलता है। उस में लिखा है कि ब्रह्मा, महेश्वर, स्कन्द, इन्द्र, प्राचेतसमनु, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, वेदव्यास, गौरशिरा आदि राज-

---

१ महा० शान्ति० ५९, २९, ३१।
ततोऽध्यायसहस्राणां शत चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थ कामश्चैवाभिवर्णित ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थ पृथग्गुण ॥
मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्य प्रोक्त सत्त्वं रजस्तम।
स्थानं वृद्धि क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डज ॥

२ वात्स्यायन कामसूत्र, अ० १।
प्रजापतिर्हि प्रजा सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच।

३. महा० शान्ति० ५९, ८१, ८५।

शास्त्र प्रणेता माने जाते हैं। ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायो में राजशास्त्र की रचना की थी, जिस को उपर्युक्त आचार्यों ने क्रमश संक्षिप्त किया। गौरशिरा ने इस नीतिशास्त्र की रचना पाँच सौ अध्यायों में की तथा व्यास ने उस को तीन सौ अध्यायों में संक्षिप्त कर दिया।[1]

इस प्रकार मनुष्यो के कल्याणार्थ विभिन्न देवताओ ने दण्डनीति पर ग्रन्थ रचना की। महाभारत के वर्णन से राजशास्त्र अथवा दण्डनीति की प्राचीनता प्रकट होती है। भारत मे इस शास्त्र का उद्भव कब हुआ, इस की ऐतिहासिक तिथि बताना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इस में कोई सन्देह नही कि इस शास्त्र का अध्ययन भारत में बहुत प्राचीन काल से हो रहा था। महाभारत के शान्तिपर्व मे राजशास्त्र के प्राचीन आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन आचार्यों ने राजनीतिशास्त्र पर विशाल ग्रन्थो की रचना की थी। इन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—विशालाक्ष, बृहस्पति, मनुप्राचेतस, भारद्वाज, गौरशिरा आदि।[2] कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र मे उपर्युक्त अधिकांश आचार्यों का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में विभिन्न स्थलो पर इन आचार्यो के मत उद्धृत किये गये हैं। उस मे वर्णित आचार्यों के नाम इस प्रकार है—भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र।[3] कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे राजनीति के पाँच प्रसिद्ध सम्प्रदायो का भी उल्लेख मिलता है, जिन के मत कौटिल्य ने उद्धृत किये हैं। इन सम्प्रदायो के नाम है—मानवा, बार्हस्पत्या, औशनसा, पाराशरा. और वाम्भीया।[4] कौटिल्य ने उपर्युक्त आचार्यों के प्रति अपना आभार प्रदर्शित किया है तथा उन की रचनाओ को अपने ग्रन्थ का आधार बनाया है। इस से सिद्ध होता कि कौटिल्य से पूर्व ही भारत में राजशास्त्र का विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था तथा इस विषय पर अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थो की रचना उपर्युक्त आचार्यों द्वारा की जा चुकी थी। पाँच-पाँच सम्प्रदायो की गुरु-शिष्य परम्परा एव उन के द्वारा राजशास्त्र पर अनेक ग्रन्थो की रचना करने में पर्याप्त समय लगा होगा। इन समस्त बातो को दृष्टि में रखते हुए डॉ० भण्डारकर ने यह मत प्रकट किया है कि भारतमें इस शास्त्र का विधिवत् अध्ययन ईसा से सातवी शताब्दी पूर्व से कम नही हो सकता।[5] यह सम्भव है कि इस शास्त्र का प्रारम्भ और भी पहले हो चुका हो। भारतीय परम्परा द्वारा भी इस शास्त्र की प्राचीनता की पुष्टि होती है।

नीतिवाक्यामृत में भी उस के अज्ञात टीकाकार ने बहुत से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध राजशास्त्र के आचार्यों के मतो का उल्लेख सोमदेव के मतो के समर्थन मे प्रस्तुत किया है। इस मे नारद, अत्रि, अगिरा, ऋषिपुत्रक, कार्णिक, राजपुत्र, कौशिक, गर्ग,

---

१ नीतिप्रकाशिका—१, २१-२२।

२ महा० शान्ति०, ५८, १-३।

३ कौ० अर्थ०, १, ८।

४ वही, ५, ५।

५ Prof D R Bhandarkar—Some Aspects of Ancient Hindu Polity PP 2-3

गौतम, जैमिनी, देवल, याज्ञवल्क्य, भागुरि, वशिष्ठ, हारीत, बादरायण, विदुर, नारायण, रैभ्य, वल्लभदेव, शौनक, कामन्दक, राजगुरु वर्ग आदि आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। इन समस्त आचार्यों के श्लोक टीकाकार ने नीतिवाक्यामृत में उद्धृत किये हैं। इस में जिन प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं उन की सख्या पचास से कम नहीं है। इस में उद्धृत अधिकांश श्लोक ऐसे हैं जो वर्तमान काल में उपलब्ध मनु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो एव शुक्रनीतिसार में नही मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव और औशनस सम्प्रदायो के अन्य भी बहुत से ग्रन्थ प्राचीन काल में उपलब्ध होंगे, जो अब काल के कराल गर्त मे विलीन हो गये हैं।

बृहत् पराशर तथा अग्नि, गरुड, मत्स्य, विष्णु, मार्कण्डेय आदि पुराणों में भी राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध होती है। मध्यकाल में भी राजनीति साहित्य की धारा अनवरत रूप से प्रवाहित होती रही। मध्यकाल के प्रमुख राजनीति प्रधान ग्रन्थों में लक्ष्मीधर का राजनीतिकल्पतरु, देवलभट्ट का राजनीतिकाण्ड, चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर, नीलकण्ठका नीतिमयूख, भोज का युक्तिकल्पतरु, मित्रमिश्र का राजनीतिप्रकाश, चन्द्रशेखर का राजनीतिरत्नाकर तथा अनन्तदेव का राजधर्म उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों को प्राचीन नीति साहित्य का सग्रह-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। इन को हम मौलिक रचना नही कह सकते। इन विद्वानो ने उसी प्राचीन परम्परा का अनुकरण किया है।

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेता और सोमदेव सूरि

भारत मे राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। यह देश राजनीति के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों से बहुत आगे था। आचार्य कौटिल्य तथा सोमदेव से बहुत पूर्व यहाँ अनेक महान् राजनीतिज्ञ हो चुके थे, जिन के मतो का उल्लेख महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दक के नीतिसार एवं नीतिवाक्यामृत की संस्कृत टीका मे प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर विशालाक्ष, इन्द्र (बहुदन्त), बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज आदि प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं के मत उद्धृत है। कौटिल्य के उपर्युक्त विद्वानों के मतो का उल्लेख करने के उपरान्त अपना मत व्यक्त किया है। दुर्भाग्य से आज यह समस्त राजनीति प्रधान साहित्य उपलब्ध नही है, किन्तु उस के उपयोगी अश महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दक के नीतिसार तथा सोमदेव के नीतिवाक्यामृत में प्राप्त होते हैं, जिन से यह सिद्ध होता है कि भारत में इस शास्त्र की रचना महाभारत से पूर्व ही हो चुकी थी। वर्तमान उपलब्ध राजनीतिक साहित्य में मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार, अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीतिसार एव सोमदेव का नीतिवाक्यामृत ही प्रमुख ग्रन्थ हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि वर्तमान उपलब्ध मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रन्थ बहुत बाद की रचनाएँ है, जैसा कि उन में प्राप्त सामग्री से सिद्ध होता है। जिस प्रकार मनुस्मृति का सकलन भृगु

ने किया, उसी प्रकार उशनस् सम्प्रदाय के किसी अन्य विद्वान् ने वर्तमान शुक्रनीतिसार का संकलन कर उस में अनेक स्वरचित श्लोक सम्मिलित कर के उस को नवीन स्वरूप प्रदान किया। यही बात याज्ञवल्क्य स्मृति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यही कारण है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उद्धृत मनु, शुक्र तथा याज्ञवल्क्य के बहुत से श्लोक इन वर्तमान ग्रन्थो मे नही मिलते। कौटिल्य ने उपर्युक्त विद्वानो के जिन श्लोको को उद्धृत किया है वे उन मूल ग्रन्थो में ही होगे और कौटिल्य के समय में सम्भवत. यह समस्त राजनीतिक साहित्य किसी न किसी रूप में अवश्य ही उपलब्ध होगा। यही बात नीतिवाक्यामृत की टीका मे भी मिलती है। टीकाकार ने आचार्य सोमदेव के मतो की पुष्टि के लिए मनु, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदि के जो अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं वे भी वर्तमान काल में उपलब्ध मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राप्त नही होते। अत यह स्पष्ट है कि कौटिल्य एव नीतिवाक्यामृत के टीकाकार द्वारा उद्धृत मनु, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदि के श्लोक इन विद्वानो के मूल ग्रन्थो के ही होगे। इस सम्बन्ध मे डॉ० श्यामशास्त्री का मत उल्लेखनीय है जो कि उन्होने कौटिलीय अर्थशास्त्र की भूमिका मे व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—"इस से ज्ञात होता है कि चाणक्य क समय का याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र वर्तमान याज्ञवल्क्य स्मृति से पृथक् ही था। इसी प्रकार कौटिल्य न अपने अर्थशास्त्र मे स्थान-स्थान पर बार्हस्पत्य और औशनस आदि से जो अपने भिन्न विचार व्यक्त किये है वे मत वर्तमान काल मे उपलब्ध इन धर्मशास्त्रो म दृष्टिगोचर नही होते। अत यह भली-भाँति सिद्ध होता है कि कौटिल्य ने जिन शास्त्रा का उल्लेख किया है वे अन्य ही ग्रन्थ थे[1]। डॉ० श्यामशास्त्री महोदय के उपर्युक्त विचारो से हम पूर्णतया सहमत हैं।

वर्तमान उपलब्ध विशुद्ध राजनीति प्रधान ग्रन्थो में राजनीतिज्ञों को आश्चर्यचकित कर देने वाला कौटिल्य का अथशास्त्र, राजशास्त्र की विशद व्याख्या करने वाला सोमदेव का नीतिवाक्यामृत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर विरचित एव उस के सूत्रो की स्पष्ट व्याख्या करने वाला कामन्दक का नीतिसार ही है। यद्यपि स्मृतियो तथा महाभारतमें भी राजनीति की पर्याप्त चर्चा की गयी है, किन्तु इन ग्रन्थो मे राजनीति का वर्णन गौण रूप से ही हुआ है। स्मृतियाँ धर्मप्रधान ग्रन्थ है और उन मे धर्म, आचार एव सामाजिक नियमो का वर्णन प्रधान रूप से हुआ है। अत स्मृतियो एव महाभारत का हम शुद्ध राजनीति प्रधान ग्रन्थो की श्रेणी मे नही रख सकते। केवल कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही समस्त प्राचीन नीति साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाला एक मात्र ग्रन्थ है। अत नीतिवाक्यामृत की तुलना मे हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कामन्दक के नीतिसार को ही सम्मिलित करते हैं।

---

१ डॉ० श्यामशास्त्री, कौटिल्य अर्थशास्त्र की भूमिका।
अतश्च चाणक्यकालिक धर्मशास्त्रमधुनातनायाज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रादन्यदेवासीदिति। एवमेव ये पुनर्मानवबार्हस्पत्यौशनसा भिन्नाभिप्रायास्तत्र तत्र कौटिल्येन परामृष्टा न ते़ऽधुनोपलभ्यमानेषु तत्तद्धर्मशास्त्रेषु दृश्यन्त इति कौटिल्यपरामृष्टानि तानि शास्त्राण्यन्यान्येवेति बाढ ब्रुवाम्।

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य कौटिल्य महान् राजनीतिज्ञ थे। कौटिल्य से पूर्व अनेक प्राचीन आचार्यों ने अर्थशास्त्रो की रचना की थी। उन समस्त अर्थशास्त्रोंमें कौटिलीय अर्थशास्त्र का अद्वितीय स्थान है। उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि प्राचीन आचार्यों ने जिन अर्थशास्त्रों की रचना की थी उन सब का सार लेकर कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र की रचना की है।[1] इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र केवल सकलन मात्र है और उस में कोई मौलिकता नही है। वास्तव में कौटिल्य का अर्थशास्त्र अनेक दृष्टियो से एक मौलिक ग्रन्थ है। परन्तु इस विषय पर रचना करने वाले वे प्रथम आचार्य नही थे। अपने ग्रन्थ में उन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारो की अनेक स्थलो पर आलोचना की है और उन से भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। कई स्थानों पर उन्होंने परम्परागत विचारधारा को छोड़ कर नये सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इस के अतिरिक्त व्यापकता तथा विशालता में इस विषय पर लिखित कोई अन्य ग्रन्थ इस की तुलना मे नही ठहर सकता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना के पश्चात् किसी भी आचार्य ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखने का साहस नही किया और सभी ने उस को प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया है। शुक्र-नीति तथा नीतिवाक्यामृत के अतिरिक्त जो भी ग्रन्थ अर्थशास्त्र के पश्चात् लिखे गये वे या तो अर्थशास्त्र के मुख्य-मुख्य उद्धरणो का सकलन मात्र है अथवा उस के प्रतिपाद्य विषय का सक्षिप्त रूप से वर्णन करते है। अत. लगभग एक सहस्र वर्ष तक कौटिलीय अर्थशास्त्र की प्रधानता बनी रही और आज भी बनी हुई है। यह उस की उत्कृष्टता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय राज्य तथा उस के अन्तर्गत निवास करने वाली जनता का कल्याण है। राज्य की वृद्धि और सरक्षण तथा उस में निवास करने वालो की सुरक्षा तथा कल्याण किस प्रकार से हो सकता है, इन्ही उपायों का वर्णन अर्थशास्त्र मे प्रमुख रूप से किया गया है। अर्थशब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र मे एक विशिष्ट अथ मे किया गया है। कौटिल्य के अनुसार मनुष्यो से युक्त भूमि का ही नाम अर्थ है। इस भूमि को प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायो का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थ-शास्त्र कहलाता है।[2] अत कौटिल्य ने अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में प्राचीन आचार्यों ने दण्डनीति शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार दण्ड-नीति और अर्थशास्त्र में कोई भेद नही है। दोनो ही शास्त्र राज्य तथा उस की शासन

---

१ कौ० अर्थ० १, १।
पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैं प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि सहृत्यैकमिदमर्थ-शास्त्र कृतम्।

२ कौ० अर्थ० १५, १।
मनुष्याणां वृत्तिरर्थ। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ। तस्या पृथिव्या लाभपालनोपाय शास्त्रमर्थ-शास्त्रमिति।

व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। कौटिल्य ने एक स्थान पर लिखा है कि दण्डनीति अथवा अर्थशास्त्र अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्त कराने, प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करने तथा रक्षित वस्तु की वृद्धि कराने और वृद्धिगत वस्तु को सत्पात्रो मे व्यय कराने में समर्थ है।[1] इसी विद्या के ऊपर ससार की उन्नति निर्भर है। दूसरे शब्दों में अर्थशास्त्र अथवा दण्डनीति उन उपायों का वर्णन करने वाला शास्त्र है जिन से समाज तथा विश्व का कल्याण हो सके।

अर्थशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य शासन-कार्य में राजा का पथ-प्रदर्शन करना तथा शासन की मूल समस्याओ का समाधान करना ही है। युद्ध एव शान्ति काल में शासन यन्त्र का क्या स्वरूप होना चाहिए, इस विषय का जैसा सांगोपाग वर्णन अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। राजतन्त्र के पोषक होते हुए भी आचार्य कौटिल्य राजा की स्वच्छन्दता का समर्थन नही करते। वे राजा को मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करने तथा उस के परामर्श से कार्य करने का आदेश देते हैं।[2] उन्होने जनता के पक्ष का सर्वत्र समर्थन किया है। उन की स्पष्ट घोषणा है कि प्रजा के सुखी रहने पर ही राजा सुखी रहता है और प्रजा का हित होने पर ही राजा का हित हो सकता है। जो राजा को प्रिय हो, वह राजा का हित नही है, अपितु प्रजा को जो प्रिय हो वही राजा का हित होता है।[3] इस प्रकार कौटिल्य ने लोकहितकारी राज्य की पुष्टि की है। उन के अनुसार यह लोक कल्याण राजा के बिना सम्भव नही है। अत राजा का होना अनिवार्य है। एक राजा कैसा होना चाहिए, उस में कौन-कौन से गुण अपेक्षित है, उस को किस प्रकार जितेन्द्रिय होकर शासन करना चाहिए इन सब बातो का विशद वर्णन अर्थशास्त्र मे मिलता है। ग्राम के सगठन से लेकर स्थानीय, प्रान्तीय एव केन्द्रीय शासन व्यवस्था का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। राजा को किन राज्यो से मित्रता, किन से उदासीनता तथा किन से शत्रुता करनी चाहिए, इस का भी उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। राज्य विस्तार तथा उस के संरक्षण के लिए युद्ध का होना भी सम्भव है। अत इस विषय पर भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। युद्ध कब किया जाये, किस प्रकार किया जाये, सेना और उस का सगठन, उस के प्रयोग के लिए सामग्री का निर्माण, विभिन्न प्रकार के दुर्गों का निर्माण, व्यूह रचना तथा युद्ध एव कूटनीति सम्बन्धी नियमों का वर्णन विस्तारपूर्वक इस ग्रन्थ में किया गया है। इस प्रकार अर्थशास्त्र मे अत्यन्त उच्चकोटि की शासन व्यवस्था का वर्णन मिलता है। इस में राजनीति से सम्बन्ध रखने वाली प्राय सभी बातो पर प्रकाश डाला गया है। समस्त विश्व मे अभी तक कोई एक ग्रन्थ ऐसा उपलब्ध नही हुआ है जिस में राज-

---

१ वही १, ४।
२ कौ० अर्थ० १,७, १,१५।
३ वही १, १६।
प्रजासुखे सुख राज्ञ प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हित राज्ञ प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

शास्त्र सम्बन्धी समस्त विषयों का इतना विशद एव सारगर्भित विवेचन हुआ हो। कौटिल्य जैसा महान् राजनीतिक एवं कूटनीतिज्ञ अभी तक ससारमें उत्पन्न ही नही हुआ।

कौटिल्य राजनीतिके ज्ञाता ही नहीं राजनीति के एक प्रमुख सम्प्रदाय के संस्थापक भी थे। वे इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि लोक कल्याण के लिए केवल उत्तम शासन व्यवस्था ही पर्याप्त नही वरन् उस के लिए आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था भी उतनी ही आवश्यक है। सुगठित सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था स्थायी एव सुदृढ राज्य की आधार शिला है। अत जहाँ कौटिल्य ने आर्थिक नीति सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन किया है वहाँ उन्होंने उन नियमो का भी उल्लेख किया है जिन से एक आदर्श तथा सुव्यवस्थित समाज की स्थापना सम्भव हो सकती है। समाज के दुर्गुण, असन्तोष तथा उस की शिथिलता सम्पूर्ण राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिए कौटिल्य ने उन नियमो का भी प्रतिपादन किया है जिन से एक विशुद्ध एव सुन्दर समाज की स्थापना हो सके और उस में निवास करने वाले व्यक्तियो की नैतिक तथा भौतिक उन्नति हो सके। उत्तम राजनीतिक सगठन तथा सामाजिक संगठन दोनो ही लोक कल्याण के लिए बहुमूल्य साधन हैं।

अर्थशास्त्र का रचना काल

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के मन्त्री विष्णुगुप्त ने इस की रचना की थी। अर्थशास्त्र में उन के लिए कौटिल्य नाम भी प्रयुक्त हुआ है।[१] अन्य स्रोतों से यह भी ज्ञात होता है कि उन को चाणक्य भी कहते थे (१३, १४)। अर्थशास्त्र के अन्त साक्ष्य[२] तथा बहि साक्ष्य[३] दोनो से ही यह सिद्ध होता है कि इस के रचयिता मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु एव प्रधान मन्त्री कौटिल्य ही थे और यह ग्रन्थ मौर्यकाल में ही रचा गया। चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनकाल ३२१ अथवा ३२३ ई० पूर्व प्रारम्भ होता है। अत अर्थशास्त्र का रचनाकाल भी इसी तिथि के समीप मानना न्यायसगत होगा। अर्थशास्त्र के १५वे अधिकरण में लिखा है कि जिस ने शास्त्र, शस्त्र और नन्द राजाओं से भूमि का उद्धार किया, उसी विष्णुगुप्त ने यह अर्थशास्त्र बनाया है।[४] अन्य प्राचीन ग्रन्थो से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कौटिल्य नन्दवश का अन्त करने वाला तथा चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के सिंहासन पर आसीन कराने वाला व्यक्ति था और उसी ने अर्थशास्त्र की

---

१ कौ० अर्थ० २, १।
सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थं शासनस्य विधि कृत॥
२ कौ० अर्थ० १५, १।
३ कामन्दक नीतिसार १, ६।
४ कौ० अर्थ० १५, १।

रचना की थी। इन ग्रन्थों मे अर्थशास्त्र के उद्धरण भी मिलते हैं। अर्थशास्त्र का रचना काल ई० पू० ३०० निर्णीत हुआ है।

डॉ० जॉली, विन्टरनित्स् तथा कीथ अर्थशास्त्र को मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधानमन्त्री कौटिल्य की कृति नहीं मानते।[2] डॉ० जायसवाल ने डॉ० जॉली तथा उन सभी विद्वानों के तर्कों का अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण उत्तर दिया है और यह सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थ की रचना ३०० ई० पू० में हुई थी और कौटिल्य अथवा विष्णुगुप्त मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के मन्त्री थे।[3] डॉ० श्यामशास्त्री, गणपतिशास्त्री, डॉ० आर० भण्डारकर आदि विद्वानों ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि अर्थशास्त्र मौर्यकालीन रचना है। श्री पी० वी० काणे ने भी अर्थशास्त्र का रचना काल ई० पू० ३०० ही माना है।[4] उन्होंने यह भी लिखा है कि अभी तक कोई ऐसा प्रमाण उपस्थित नहीं हुआ है जिस के आधार पर अर्थशास्त्र की तिथि इस के पश्चात् निर्धारित की जाय। अत किसी नवीन तर्क अथवा पर्याप्त प्रमाण की अनुपस्थिति में उक्त विद्वानो के मतानुसार अर्थ-शास्त्र का रचना काल ३०० ई० पू० मानना सर्वथा उचित है।

नीतिसार

कौटिल्य के पश्चात् कामन्दक ने अपने ग्रन्थ नीतिसार की रचना की। कामन्दक का नीतिसार शुद्ध राजनीति प्रधान ग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर ही की गयी है, किन्तु फिर भी राजनीति के क्षेत्र में इस का अपूर्व महत्त्व है। अर्थशास्त्र के आधार पर इस की रचना होने के कारण ही कुछ विद्वान् इसे अर्थशास्त्र का सक्षिप्त रूप भी कहते हैं।[5] इस ग्रन्थ का रचना काल छठी शताब्दी माना जाता है। अर्थशास्त्र को समझने मे नीतिसार से बहुत सहायता मिलती है। इस ग्रन्थ में बहुत से पारिभाषिक शब्दो, जिन का प्रयोग कौटिलीय अर्थशास्त्र मे हुआ है, की सरल एव सारगर्भित व्याख्या की गयी है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राय गद्य में है और उस की रचना में सूत्र पद्धति का प्रयोग किया गया है, किन्तु नीतिसार श्लोकबद्ध है। कामन्दक ने अपने गुरु विष्णुगुप्त का ऋण स्वीकार किया है और कई श्लोको मे उन की प्रशसा की है। वे लिखते हैं कि जिस ने दान न लेने वाले उत्तम कुल मे जन्म लिया और जो ऋषियो की तरह इस भूमण्डल मे प्रसिद्ध हुआ, जो अग्नि के समान तेजस्वी था और जिस ने एक वेद के समान चारो वेदो का अध्ययन किया

---

१ विष्णु पुराण ४, २४, २६-२८।

२ डॉ० जॉली-इन्ट्राडक्शन टु अर्थशास्त्र,
कीथ—हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ ४५८।

३ डॉ० के० पी० जायसवाल—हिन्दू पॉलिटी, परिशिष्ट 'सी'।

४ पी० वी० काणे—हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, वाल्यूम १, पृ० १०४।

५ डॉ० श्यामशास्त्री—अर्थशास्त्र की भूमिका।
यच्च यशोधरमहाराजसमकालेन—तदपि कामन्दकीयमिव कौटिलीयार्थशास्त्रादेव संक्षिप्य रूगृहीत-मिति—।

था। वज्र के समान प्रज्वलित तेजवाले जिस के अभिचार वज्र से श्रीमान् सुन्दर पर्व वाला नन्दवंश रूपी पर्वत समूल नष्ट हो गया। जो कार्तिकेय के समान पराक्रमशील था और जिस ने अकेले ही अपनी मन्त्रशक्ति के द्वारा नृपचन्द्र चन्द्रगुप्त के लिए पृथ्वी का आहरण किया। जिस ने अर्थशास्त्ररूपी महोदधि से नीतिशास्त्ररूपी अमृत का उद्धार किया, उस ब्रह्मस्वरूप विष्णुगुप्त के लिए नमस्कार है।[१]

इस प्रकार कामन्दक ने विष्णुगुप्त के प्रति अपना आभार प्रदर्शित किया है। कामन्दक का अध्ययन विशाल था। उन्होंने अपने ग्रन्थ में विशालाक्ष, पुलोमा, यम आदि राजशास्त्र प्रणेताओं के मतों का उल्लेख किया है। उन के ग्रन्थ में राजनीति का विशद विवेचन हुआ है। कामन्दक राज्य के सप्तांग सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। उन के अनुसार स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल तथा सुहृद् राज्य के अंग हैं। ये अंग एक दूसरे के सहायक हैं।[२] उन्होंने राज्यांगों में राष्ट्र को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। इस विषय में वे लिखते हैं कि राज्य के सम्पूर्ण अंगों का उद्भव राष्ट्र से ही हुआ है, अत. राजा सभी प्रयत्नों से राष्ट्र का उत्थान करे।[3] जिस प्रकार यज्ञ में ऋत्विजों द्वारा की गयी हिंसा हिंसा नहीं मानी जाती, उसी प्रकार राजा द्वारा दुष्टों का निग्रह करने से उसे पाप नहीं लगता, अपितु महान् धर्म की प्राप्ति होती है। धर्म की सुरक्षा के लिए राजा अर्थ की वृद्धि करे। इस कार्य में प्रजा के जो व्यक्ति बाधक हों उन्हें दण्डित करे। वेद और शास्त्रों के विद्वान् जिस कार्य की प्रशंसा करें वह धर्म है और वे जिस की निन्दा करें वह अधर्म है। धर्म और अधर्म का ज्ञान प्राप्त करता हुआ राजा सज्जनों के प्रति स्नेह प्रदर्शित करे, उन की रक्षा करे तथा शत्रुओं का वध कर डाले।[४] राज्य की प्रकृतियों के विषय में भी कामन्दक ने प्रकाश डाला है। उन का कथन है कि राजशास्त्र के ज्ञाताओं ने अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्ड को विजिगीषु की प्रकृति बतलाया है।[५] उन्होंने राजा को न्यायपूर्वक व्यवहार करने का आदेश दिया है। उन का कथन है कि यदि राजा न्याय के पथ का अनुसरण करता है तो उस को एवं उस की प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है और यदि वह इस के विपरीत आचरण करता है तो इन का विनाश होता है।[६]

---

१ कामन्दक नीतिसार १, २-६।

२ कामन्दक नीतिसार ४, १—
स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारी च सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥

३ वही ६, ३।

४ वही ६, ५-८।

५ कामन्दक-नीतिसार ८, ४—
अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोशो दण्डश्च पञ्चम।
एता प्रकृतयस्तज्ज्ञैर्विजिगीषोरुदाहृता॥ ४॥

६ वही १, १५।

कामन्दक ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में भी विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है। उन्होंने दूत एव चरों का भी वर्णन किया है। उन के अनुसार दूत तीन प्रकार के होते हैं, निसृष्टार्थ, परिमितार्थ अथवा मितार्थ और शासनहारक।[1] चरो के विषय में वे लिखते हैं कि चार (चर) राजाओं के नेत्र के समान होते हैं। राजा को उन्ही के द्वारा देखना चाहिए। जो उन की आँखों से नही देखता वह समतल भूमि पर भी ठोकर खाता है क्योंकि चारों के बिना वह अन्धा है। जिस प्रकार ऋत्विक् सूत्रों के अनुसार कार्य करता रहता है उसी प्रकार राजा को भी चारों के परामर्श से ही राजकार्य करना चाहिए।[2] कामन्दक ने मण्डल सिद्धान्त की व्याख्या बडे विस्तार के साथ की है और उन्होने भी कौटिल्य की भाँति १२ राज्यों का मण्डल माना है।[3] कामन्दक तीन शक्तियो के सिद्धान्त में भी विश्वास रखते हैं। उन्होने भी उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति एव मन्त्रशक्ति का उल्लेख किया है। कामन्दक ने कौटिल्य की भाँति ही अनेक प्रकार की सन्धियो का उल्लेख नीतिसार के ९वें सर्ग में किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नीतिसार भी राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मौलिक रचना न होते हुए भी वह अपने ढग का अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है।

नीतिवाक्यामृत

कामन्दक के पश्चात् आचार्य सोमदेव ने ही शुद्ध राजनीति प्रधान ग्रन्थ का सृजन किया। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत अर्थशास्त्र की कोटि का ही ग्रन्थ है, जिस में राजशास्त्र के समस्त अगो पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ कलेवर में कौटिलीय अर्थशास्त्र की अपेक्षा लघु है, किन्तु रचनाशैली मे यह उस की अपेक्षा सुन्दर है। इस के अध्ययन में मधुर काव्य के समान आनन्द प्राप्त होता है। सोमदेव की सुन्दर वर्णनशैली के कारण ही उन के ग्रन्थ में राजनीति की शुष्कता नहीं आने पायी है। गम्भीर एवं विस्तृत वर्णन को सोमदेव ने सरल एव थोडे शब्दो में ही व्यक्त कर दिया है।

आचार्य सोमदेव एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने युद्ध एव शान्तिकाल मे राजा के सम्मुख उपस्थित होने वाली समस्याओ और उन के समाधान का विशद विवेचन किया है। उन्होने समाजशास्त्र एव राजशास्त्र दोनों का ही विवेचन नीतिवाक्यामृत में किया है। उन्होने ऐसे सिद्धान्त निर्धारित किये हैं जिन से समाज एव

---

१ कामन्दक नीतिसार १३ ३।

२ वही—१३, ३१, तथा ३४।
चारचक्षुर्नरेन्द्रस्तु संपतेत तेन भूयसा।
अनेनासपतन् मार्गात् पतत्यन्ध समेऽपि हि॥
चरेण प्रचरेत्प्राज्ञ सूत्रेणर्त्विगिवाध्वरे।
दूते सधानमायान्त चरे चर्या प्रतिष्ठिता॥

३ कामन्दक नीतिसार ८, २०-४१।

४ वही—१५, ३२।

राज्य दोनों की ही उत्पत्ति एवं विकास सम्भव हो सके। नीतिवाक्यामृत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी विशद विवेचन हुआ है। षाड्गुण्यनीति का विवरण अर्थशास्त्र के समान ही किया गया है। सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य के तृतीय आश्वास में भी राजनीति का विशद वर्णन प्राप्त होता है। नीतिवाक्यामृत तथा यशस्तिलक के अध्ययन से सोमदेव की महान् राजनीतिज्ञता प्रकट होती है।

डॉ० श्यामशास्त्री नीतिवाक्यामृत को नीतिसार के समान ही कौटिलीय अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप मानते है।[1] उन के इस कथन का आधार नीतिवाक्यामृत के सूत्र, वाक्यविन्यास एव रचनाशैली है। अत. वे इस ग्रन्थ को एक मौलिक रचना स्वीकार नही करते। डॉ० श्यामशास्त्री के इस कथन से हम सहमत नही हैं। कामन्दक के नीतिसार की भाँति नीतिवाक्यामृत को भी कौटिलीय अर्थशास्त्र का सक्षिप्त रूप मानना सोमदेव के महान् आचार्यत्व एवं उन की बहुमुखी प्रतिभा की उपेक्षा करना ही होगा। यद्यपि दोनों ही ग्रन्थों में कुछ स्थलों पर समानता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इस आधार पर नीतिवाक्यामृत को अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप नही माना जा सकता। कौटिल्य ने जिस प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा विरचित अर्थशास्त्रो का सग्रह कर के अपने अर्थशास्त्र की रचना की थी उसी प्रकार सोमदेव ने भी लगभग उन्ही ग्रन्थो के आधार पर नीतिवाक्यामृत की रचना की और उन ग्रन्थो के साथ ही अर्थशास्त्र को भी नीतिवाक्यामृत की रचना का आधार बनाया। जब दोनों ग्रन्थो की रचना पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर की गयी है तो उन में कुछ साम्य दृष्टिगोचर होने पर कोई आश्चर्य की बात नही। इस आधार पर परवर्ती ग्रन्थ को पूर्ववर्ती ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप नही माना जा सकता।

प्राचीन साहित्य का प्रभाव सभी लेखकों पर पडता है। जो विचार पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित कर दिये जाते हैं उन को स्वीकार करना उन आचार्यों के गौरव को बढ़ाना है। इसी सिद्धान्त के आधार पर कौटिल्य एव सोमदेव ने पूर्ववर्ती साहित्य के सार को ग्रहण किया है और उस के साथ ही अपने मौलिक विचारो एव नवीन अनुभवों का समावेश भी किया है। जिस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने 'इत्याचार्या' कहकर 'इतिकौटिल्या' के द्वारा अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया है उसी प्रकार आचार्य सोमदेव ने भी अपने मौलिक विचार प्रकट किये हैं। नीतिवाक्यामृत में लेखक को स्वतन्त्र प्रतिभा एव मौलिकता के दर्शन सर्वत्र होते हैं। सोमदेव ने अपने समय में उपलब्ध प्राचीन नीति साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था और उन्होंने उस का प्रयोग अपने ग्रन्थ की रचना में किया। जिस प्रकार पूर्वाचार्यों का परिष्कृत स्वरूप कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रकट

---

१. डॉ० श्यामशास्त्री, कौटिलीय अर्थशास्त्र की भूमिका—
यच्च यशोधरमहाराजसमकालेन सोमदेवसूरिणा नीतिवाक्यामृतं नाम नीतिशास्त्र विरचित तदपि कामन्दकीयमिव कौटिलीयार्थशास्त्रादेव संक्षिप्य संगृहीतमिति तद्ग्रन्थपदवाक्यशैलीपरीक्षायां निस्सशयं ज्ञायते।

हुआ है उसी प्रकार नीतिवाक्यामृत में भी अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों का परि-मार्जित रूप प्रतिलक्षित होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र की भाँति नीतिवाक्यामृत भी एक मौलिक ग्रन्थ है।

उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं मे सर्वप्रथम स्थान आचार्य कौटिल्य को तथा द्वितीय स्थान आचार्य सोमदेव सूरि को प्रदान किया जा सकता है। सोमदेव से पूर्ववर्ती होने पर भी नीतिशास्त्र की रचना के क्षेत्र में आचार्य कामन्दक का स्थान तृतीय सिद्ध होता है[1]।

१ कौ० अर्थ, १, १—
पृथिव्यालाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैं प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थ-शास्त्र कृतम्।

सोमदेवसूरि और उन का नीतिवाक्यामृत

राजशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ नोतिवाक्यामृत के रचयिता श्रीमत्सोमदेवसूरि दिगम्बर सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध देवसंघ के आचार्य थे। आचार्य प्रवर के प्रमुख ग्रन्थ यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत के अध्ययन से उन की गुरु-परम्परा एव समय के विषय में यशस्तिलकचम्पू, लेमुलवाड दानपत्र तथा राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के ताम्रपत्र से पर्याप्त जानकारी मिलती है। यशस्तिलक की प्रशस्ति के अनुसार सोमदेव के गुरु का नाम नेमिदेव तथा नेमिदेव के गुरु का नाम यशोदेव था। सोमदेव के गुरु नेमिदेव महान् दार्शनिक थे और उन्होने शास्त्रार्थ में तिरानबे महावादियो को पराजित किया था।[1] नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति के अनुसार सोमदेव श्रीमहेन्द्रदेव भट्टारक के कनिष्ठ भ्राता थे और उन्हे अनेक गौरवसूचक उपाधियाँ प्राप्त थी, जिन में स्याद्वादकालसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपचानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि आदि प्रमुख हैं।[2] सोमदेव के भ्राता महेन्द्रदेव भट्टारक भी उद्भट विद्वान् थे, जैसा कि उन की उपाधि वादीन्द्रकालानल से प्रकट होता है।[3]

लेमुलवाडदानपत्र[4] से भी सोमदेवके सबन्ध मे कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। इस दानपत्र मे आचार्यप्रवर के विषय मे यह वर्णन मिलता है—श्री गौडसंघ में यशोदेव नामक आचार्य हुए जो मुनिमान्य थे और जिन्हे उग्रतप के प्रभाव से जैन शासन के देवताओ का साक्षात्कार था। इन महान् बुद्धि के धारक महानुभाव के शिष्य नेमिदेव हुए जो स्याद्वादसमुद्र के पारदर्शी थे और परवादियो के दर्परूपी वृक्षो के उच्छेदन के लिए कुठार के समान थे। जिस प्रकार खान में से अनेक रत्न निकलते हैं उसी प्रकार

---

१ यश०, आ० २, पृ० ४१८ –
श्रीमानस्ति स देवसघतिलको देवो यश पूर्वक
शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्रीनेमिदेवाह्वय।
तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां
शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रम ॥
नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में पराजित महावादियों की संख्या पचपन है—पञ्चपञ्चाशन्महावादि-विजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वत श्रीमन्नेमिदेवभगवत

२ नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति, पृ० ४०६।

३ वही—वादीन्द्रकालानल श्रीमन्महेन्द्रदेव भट्टारकानुजेन—।

४ यह दानपत्र हैदराबाद स्थित परभणी नामक स्थान से प्राप्त हुआ है और भारत इतिहास सशोधक पत्रिका १३/३ में प्रकाशित हुआ है। इस की भाषा सस्कृत है।

उन तपोलक्ष्मीपति के बहुत से शिष्य हुए। उन में सैकड़ों से छोटे श्रीसोमदेव पण्डित हुए जो तप, शास्त्र और यश के स्थान थे। ये भगवान् सोमदेव समस्त विद्याओं के दर्पण, यशोधरचरित के रचयिता, स्याद्वादोपनिषत् के कर्ता तथा अन्य सुभाषितों के भी रचयिता हैं। समस्त महासामन्तों के मस्तकों की पुष्पमालाओं से जिन के चरण सुगन्धित हैं, जिन का यशकमल सम्पूर्ण विद्वज्जनो के कानों का आभूषण है और सभी राजाओं के मस्तक जिन के चरणकमलो से सुशोभित होते हैं।[1]

उपर्युक्त दानपत्र के वर्णन से स्पष्ट है कि सोमदेव के गुरु नेमिदेव थे, जो महान् दार्शनिक थे, उन के अनेक शिष्यों में से सोमदेव भी एक थे, जो महान् पण्डित और निविध शास्त्रो के ज्ञाता थे। उन की अपूर्व प्रतिभा से सम्राट् तथा सामन्त सभी प्रभावित थे और उन के चरणों में अपना मस्तक झुकाते थे।

लैमुलवाड़दानपत्र मे सोमदेव के दादागुरु यशोदेव को गौड़सघ का आचार्य बतलाया गया है, किन्तु यशस्तिलक की प्रशस्ति के अनुसार वे देवसघतिलक या देवसघ के आचार्य थे। इस प्रकार लैमुलवाडदानपत्र एव यशस्तिलक की प्रशस्ति के वर्णनो में कुछ भेद दृष्टिगोचर होता है। इस सन्देह का निवारण करते हुए श्री नाथूराम प्रेमी लिखते हैं कि गौडसघ अभी तक बिलकुल ही अश्रुतपूर्व है। जिस प्रकार आदिपुराण के कर्ता जिनसेन का सेनसघ या सेनान्वय पचस्तूपान्वय भी कहलाता था, शायद उसी तरह सोमदेव का देवसघ भी गौडसघ कहलाता हो। सम्भवत यह नाम देश के कारण पड़ा हो। जैसे द्रविड देश का द्रविडसघ, पुन्नाट देश का पुन्नाटसघ, मथुरा का माथुरसघ उसी प्रकार गौड देश का यह गौडसघ होगा। गौड़ बगाल का पुराना नाम है। उस गौड से तो शायद इस सघ का कोई सम्बन्ध न हो, परन्तु दक्षिण मे ही गोल, गोल्ल या गौड देश रहा है, जिस का उल्लेख श्रवणबेल गोल के अनेक लेखो (१२४, १३०, १३८, ४९१) मे मिलता है। गोल्लाचार्य नाम के एक आचार्य भी हुए हैं जो वीरनन्दि के शिष्य थे और पहले गोल्ल देश के राजा थे। र-ल-ड में भेद नही होता इसलिए गोल और गौड़ को एक मानने में कोई आपत्ति नही है।[2]

सोमदेव की शिष्य-परम्परा के सम्बन्ध मे भी कुछ ज्ञात नही है। यशस्तिलक के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने वादिराज और वादीभ सिंह को सोमदेव का शिष्य बतलाया है।[3] किन्तु टीकाकार ने यह स्पष्ट नही किया कि सोमदेव ने किस ग्रन्थ में वादिराज और वादीभसिंह को अपना शिष्य बताया है। उपर्युक्त विद्वानो को सोमदेव का शिष्य मानना युक्तिसगत प्रतीत नही होता, क्योंकि यशस्तिलक एव नीतिवाक्यामृत

---

१ लैमुलवाडदानपत्र, श्लोक १५-१८।

२ प० नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ८८-८९।

३ यशस्तिलक की टीका, आ० २, पृ० २६५—
स वादिराजोऽपि श्रीसोमदेवाचार्यस्य शिष्य। वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य, श्रीवादिराजोऽपि मदीय-शिष्य, इत्युक्तत्वाच्च।

में कहीं भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। इस के अतिरिक्त यशस्तिलक का रचना काल शकसंवत् ८८१ है और वादिराज के ग्रन्थ पार्श्वनाथ चरित का रचना काल शकसवत् ९४७ है।[1] इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के रचना काल में ६६ वर्ष का अन्तर है। ऐसी स्थिति में उन का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं माना जा सकता। वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में अपने गुरु का नाम मतिसागर लिखा है। मतिसागर द्रविडसंघ के आचार्य थे। वादीभसिंह ने भी अपने ग्रन्थ गद्यचिन्तामणि में अपने गुरु का नाम पुष्पषेण लिखा है और पुष्पषेण को अकलङ्कदेव का गुरुभाई माना जाता है।[2] अत उन का समय सोमदेव से बहुत पूर्व बैठता है। इस प्रकार वादिराज एव वादीभसिंह को सोमदेव का शिष्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

नीतिवाक्यामृत का रचनाकाल

नीतिवाक्यामृत की गद्यप्रशस्ति से इस बात का कोई आभास नहीं मिलता कि इस ग्रन्थ की रचना कब और कहाँ हुई। किन्तु यशस्तिलक की पद्यप्रशस्ति मे इस महाकाव्य की रचना के स्थान एव समय का स्पष्ट वर्णन मिलता है, जो कि नीतिवाक्यामृत के रचनाकाल एवं स्थान का ज्ञान कराने में महोपयोगी है। यशस्तिलक की प्रशस्ति का आशय इस प्रकार है—'शकसंवत् ८८१ (वि० सवत् १०१६) में पाण्ड्य, सिंहल, चोल तथा चेर आदि देशो के राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाले महाराजाधिराज श्रीकृष्णराजदेव जब मेलपाटी में साम्राज्य सँभाल रहे थे तब उन के चरणकमलोपजीवी सामन्त बद्दिग, जो कि चालुक्य नरेश अरिकेशरी के प्रथम पुत्र थे, गंगाधारा में राज्य कर रहे थे, तब यह यशस्तिलक चम्पूमहाकाव्य सिद्धार्थ नामक सवत्सर मे चैत्रमास की मदनत्रयोदशी के दिन सम्पूर्ण हुआ।[3] सोमदेव के इस कथन की पुष्टि करहद ताम्रपत्र से भी होती है, जिसे महान् राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय ने ९ मार्च, सन् ९५९ ई० को प्रसारित किया था।'[4] यह आज्ञा-पत्र यशस्तिलक की समाप्ति से कुछ सप्ताह पूर्व प्रसारित किया गया था। इस ताम्र-पत्र में एक शैव सन्यासी को ग्राम-दान का उल्लेख है। उस समय राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय का निवास मेलपाटी में ही था और वही पर उन्होने ताम्र-पत्र में उल्लिखित ग्रामदान की आज्ञा प्रसारित की थी।

---

१ पं० नाथूराम प्रेमी—नीतिवाक्यामृत की भूमिका, पृ० ६।

२ वही।

३. यश०, आ० ८, भा० २, पृ० ४१८।

"शकनृपकालातीतसवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कत (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटीप्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनि समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मन सामन्तचूडामणे श्रीमदरिकेसरिण, प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वद्यगराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।

४ Epigraphia Indica, Vol IV, Parts VI & VII, P 278

यशस्तिलक मे सोमदेव ने भी चैत्रशुदी त्रयोदशी शकसंवत् ८८१ को कृष्णराज तृतीय का निवास मेलपाटी में ही व्यक्त किया है। इस से यह सिद्ध होता है कि मेलपाटी में राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय का कुछ समय तक सैनिक शिविर अवश्य रहा था।

कृष्ण तृतीय के मेलपाटी शिविर का वर्णन पुष्पदन्त के महापुराण मे भी मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना ९५९ ई० मे प्रारम्भ हुई तथा ९६५ ई० मे यह ग्रन्थ समाप्त हुआ[1]। पुष्पदन्त के मेलपाटी वर्णन एवं कृष्ण तृतीय के दक्षिणी राज्यो की विजयो के उल्लेख से भी सोमदेव के कथन की पुष्टि होती है।

लैमुलवाडदानपत्र में भी कृष्ण तृतीय का उल्लेख महान् सम्राट् के रूप मे किया गया है और चालुक्य राजाओं को उन का महासामन्त बतलाया गया है।[2] ऐतिहासिक विवरण से भी उपर्युक्त दानपत्र के वर्णन की पुष्टि होती है। दक्षिण के इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि कृष्णराजदेव राष्ट्रकूट वश के सम्राट् थे और यह अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे। कृष्णराज तृतीय का सिंहसनारोहण काल ९३९ ई० माना गया है। इन की राजधानी मान्यखेट थी। कृष्णराज तृतीय की राजधानी एव राज्यकाल को पुष्टि हिस्ट्री ऑफ कनारी लिटरेचर के लेखक के इस वर्णन से भी होती है—पोन्न कवि को उभयभाषाकविचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित करने वाले राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराजदेव ने मान्यखेट में ९३९ ई० से ९६८ ई० तक राज्य किया।[3] स्व० प० नाथूराम प्रेमी ने लिखा था कि मान्यखेट का ही प्राचीन नाम मेलपाटी होगा, जिसे सोमदेव ने कृष्णराजदेव की राजधानी बतलाया है।[4] अब जो तथ्य सामने आये हैं उन से निश्चित हो चुका है कि ये दोनो स्थान भिन्न-भिन्न हैं, एक ही स्थान के दो नाम नही हैं। मान्यखेट राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराजदेव की राजधानी थी तथा मेलपाटी वह स्थान है जहाँ पर कृष्णराजदेव ने अपने सैनिक अभियान के समय अपनी विजयी सेनाओ के साथ कुछ समय के लिए अपना सैनिक शिविर स्थापित किया था। करहद ताम्रपत्र में उल्लिखित शैव सन्यासी को दिये गये ग्रामदान को आज्ञा का प्रसारण मेलपाटी मे ही किया गया था। मेलपाटी (मेलपाडी) उत्तरी अरकाट ज़िले मे स्थित है[5] जब कि मान्यखेट भूतपूर्व निजाम रियासत मे वर्तमान मालखेड का ही प्राचीन नाम है।[6]

अत यह कथन उपयुक्त नही कि मान्यखेट का ही प्राचीन नाम मेलपाटी होगा।

सोमदेव राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराजदेव के समकालीन थे। उन्होंने यशस्तिलक को

---

१ K K Handique—Yasastilaka and Indian Culture, Ch I, P 3

२ लैमुलवाडदानपत्र—
स्वस्तस्यकालवर्षदेवश्रीपृथिवीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकश्रीमदमोघवर्षदेवपादानुध्यात - प्रवर्धमानविजयश्रीकृष्णराजदेवपादपद्मोपजीविना।

३ पं०नाथूराम प्रेमी, नीतिवाक्यामृत की भूमिका, पृष्ठ १६।

४ वही।

५ Epigraphia Indica, Vol IV, Parts VI and VII, P 281

६ डॉ० रमाशकर त्रिपाठी, 'प्राचीन भारत का इतिहास,' पृ० ३०५।

रचना राष्ट्रकूट सम्राट् की राजधानी मान्यखेट में नहीं की, अपितु उन के अधीनस्थ महा सामन्त बद्दिग की राजधानी गंगाधारा में की थी। चालुक्यवंश के राजा अरिकेसरी की वंशावली का उल्लेख कन्नड भाषा के प्रसिद्ध कवि पम्प ने अपने ग्रन्थ भारत (विक्रमार्जुन विजय) में किया है। पम्प अरिकेसरी का समकालीन था और उसे चालुक्यनरेश का संरक्षण प्राप्त था।[1] पम्प की रचनाओं से प्रभावित होकर अरिकेसरी ने धर्मपुर नामक ग्राम उस को दानस्वरूप दिया था। पम्प ने अरिकेसरी की वंशावली का उल्लेख इस प्रकार किया है—युद्धमल्ल, अरिकेसरी, नारसिंह, युद्धमल्ल, बद्दिग, युद्धमल्ल, नारसिंह, अरिकेसरी।

उक्त ग्रन्थ शकसंवत् ८९३ (विक्रम सवत् ९९८) में समाप्त हुआ, अर्थात् यह यशस्तिलक से कोई १८ वर्ष पूर्व रचा जा चुका था। इस की रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था, तब उस के १८ वर्ष पश्चात् यशस्तिलक की रचना के समय उस का पुत्र राज्य करता होगा, यह सर्वथा ठीक जँचता है, ऐसा श्री नाथूराम प्रेमी का विचार है।[2]

हैदराबाद स्थित परभणी नामक स्थान से प्राप्त ताम्रपत्र में भी राष्ट्रकूट सम्राटों के अधीनस्थ चालुक्य वशीय सामन्त राजाओं की वंशावली का उल्लेख मिलता है। यह ताम्रपत्र[3] ९६६ ई० का है। इस में दी हुई चालुक्य वंशावली पम्प के भारत मे वर्णित वंशावली से बहुत कुछ मिलती है जो इस प्रकार है—

युद्धमल्ल प्रथम—अरिकेसरी प्रथम—नरसिंह प्रथम (+ भद्रदेव)—युद्धमल्लि—द्वितीय—बद्दिग प्रथम (जिस ने भीम को परास्त किया तथा बन्दी बनाया)—युद्धमल्ल तृतीय—नरसिंह द्वितीय—अरिकेसरी द्वितीय (जिस का विवाह लोकाम्बिका नाम की राष्ट्रकूट वश की राजकुमारी से हुआ था) भद्रदेव[4] अरिकेसरी तृतीय—बद्दिग और अरिकेसरी चतुर्थ।[5]

परभणी दान-पत्र से प्रकट होता है कि अरिकेसरिन द्वितीय के पश्चात् उस का पुत्र भद्रदेव (बद्दिग द्वितीय) सिंहासनारूढ़ हुआ। इस मे यह भी उल्लेख मिलता है कि अरिकेसरी तृतीय के पिता का नाम बद्दिग था। यशस्तिलक चम्पू की पद्य-प्रशस्ति में सोमदेव ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपने चम्पू महाकाव्य की रचना अरिकेसरिन द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र वद्यगराज (बद्दिग) की राजधानी गंगाधारा मे की।

---

१ K A Nilkanta Sastri—A History of South India, P. 333

२ प० नाथूरान प्रेमी, नीतिवाक्यामृत की भूमिका, पृ० २०।

३ यह ताम्रपत्र लैमुलवाडदानपत्र के नाम से प्रकाशित हुआ है।

४ श्री के० के० हन्डीकी का विचार है कि भद्रदेव बद्दिग का ही संस्कृत रूपान्तर है। उन का यह कथन यथार्थ ही है।

५ लैमुलवाडदानपत्र २-१४—
अस्त्यादित्यभवोवंशश्चालुक्य॰॰ कुवलयस्य य। क्षयसंवत्सर वैशाखपो (पौ)र्णमास्या(स्यां)॰ त्रिभोगाभ्यन्तरसिद्धिसर्व्वनमस्यस्सोदकधारन्दत्त ॥

परभणी दान-पत्र की चालुक्य वशावलि में बद्दिग नामक सामन्त का उल्लेख मिलता है। अरिकेसरी द्वितीय के वैमुलवाड (लैमुलवाड) स्तम्भ लेख में बद्देग नामक व्यक्ति का नामोल्लेख किया गया है।

आधुनिक खोजों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि चालुक्यवश के सामन्त हैदराबाद के करीमनगर जिले के क्षेत्र में शासन करते थे। ये राष्ट्रकूटों के अधीनस्थ सामन्त थे और इन्ही के राज्याश्रय में आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू तथा नीतिवाक्यामृत की रचना की थी।[1]

करीमनगर जिले से प्राप्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा के मूर्ति लेख से विदित होता है कि बद्दिग ने अपने गुरु सोमदेव के लिए एक जैनमन्दिर का निर्माण कराया था। इस बात की पुष्टि परभणी दानपत्र से भी होती है, जिसे बद्दिग के पुत्र अरिकेसरी तृतीय ने ९६६ ई० में प्रसारित किया था। इस दान-पत्र में लिखा है कि अरिकेसरिन तृतीय ने वनिकटुपुल (वैमुलवाड) नामक ग्राम शुभधाम जिनालय की मरम्मत एव व्यय के लिए सोमदेव को दान में दिया था। इस मन्दिर का निर्माण उस के पिता बद्दिग ने वैमुलवाड (लैमुलवाड) में कराया था।[2]

चालुक्य वशावली का उल्लेख पम्प के भारत तथा लैमुलवाड दानपत्र दोनो में ही उपलब्ध होता है, किन्तु पम्प के भारत में चालुक्य वशावली का पूर्ण विवरण नही मिलता। उस के अरिकेसरी द्वितीय तक के राजाओ का ही उल्लेख है। लैमुलवाड दानपत्र मे चालुक्य वशावली का पूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है। इस वर्णन के आधार पर बद्दिग द्वितीय अरिकेसरी द्वितीय का पुत्र निश्चित होता है। पम्प के भारत मे अरिकेसरी द्वितीय के पुत्र का नाम नही मिलता।

लैमुलवाड दानपत्र के वर्णन से स्पष्ट है कि इस के उत्कीर्ण होने के समय अर्थात् शक सवत् ८८८ (९६६ ई०) में सोमदेव शुभधाम जिनालय के अध्यक्ष थे और उन को अरिकेसरी तृतीय का राज्याश्रय प्राप्त था। अरिकेसरी तृतीय बद्दिग द्वितीय का पुत्र था, जिस की राजधानी गगाधारा में सोमदेव ने यशस्तिलक की रचना समाप्त की। इस प्रकार लैमुलवाड दानपत्र यशस्तिलक की रचना के सात वर्ष पश्चात् उत्कीर्ण हुआ था। इस से पूर्व आचार्य सोमदेव को अरिकेसरी द्वितीय का राज्याश्रय भी प्राप्त हो चुका था। इस बात की पुष्टि श्री नीलकण्ठ शास्त्री के इस कथन से होती है—"महान् जैन लेखक सोमदेव (९५० ई०) को राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के करद वैमुलवाड के चालुक्य राजा अरिकेसरी द्वितीय का राज्याश्रय प्राप्त था और वही कन्नड भाषा का प्रसिद्ध कवि-पम्प भी रहता था।"[3]

इस प्रकार सोमदेव अरिकेसरी द्वितीय बद्दिग द्वितीय तथा अरिकेसरी तृतीय

---

१ Venkatramanayya—The Chalukyas of L(V)emulvada

२ Rao op Cit, P 216, Venkatramanayya op Cit, P 45

३. K. A Nilkanta Sastri—A History of South India, P 333

इन तीनों ही चालुक्य नरेशों के राज्याश्रय में रहे और उन का सम्बन्ध इन चालुक्य राजाओं से घनिष्ठ रहा। सोमदेव ने अपने महाकाव्य यशस्तिलक चम्पू की रचना अरिकेसरी द्वितीय के पुत्र वद्दिग द्वितीय के राज्याश्रय में की और उस के पश्चात् उन्हें अरिकेसरी तृतीय का संरक्षण प्राप्त हुआ, जैसा कि लेमुलवाड दानपत्र से स्पष्ट है। यह बात भी निश्चित है कि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलक के बाद की रचना है जैसा कि उस की (नीतिवाक्यामृत की) प्रशस्ति से स्पष्ट है। अतः ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि नीतिवाक्यामृत की रचना भी चालुक्यों के ही संरक्षण में हुई। इस ग्रन्थ की रचना या तो वद्दिग द्वितीय के ही राज्यकाल में हुई अथवा उस के पुत्र अरिकेसरी तृतीय के राज्य काल में हुई।

नीतिवाक्यामृत की टीका में ग्रन्थ-रचना के उद्देश्य एवं समय के विषय में कुछ उल्लेख मिलता है। टीकाकार के कथन का आशय इस प्रकार है—"कान्यकुब्ज के राजा महेन्द्रदेव ने पूर्वाचार्यकृत अर्थशास्त्र की दुर्बोधता से खिन्न होकर ग्रन्थकर्ता को इस सुबोध, सुन्दर एवं लघु नीतिवाक्यामृत की रचना के लिए प्रेरित किया।"[1]

श्रीयुत् गोविन्दराय जैन ने भी यह मत प्रकट किया है कि सोमदेव ने कन्नौज के राजा महेन्द्रपालदेव के आग्रह पर ही नीतिवाक्यामृत की रचना की। नीतिवाक्यामृत में अपने आश्रयदाता के नामोल्लेख न करने का कारण बतलाते हुए आप लिखते हैं कि "सोमदेव अपने ग्रन्थ में अपने आश्रयदाता एवं ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा देनेवाले महाराज महेन्द्रपालदेव का नामोल्लेख कर के उन के पुत्र एवं प्रजा को दुःखी नहीं करना चाहते थे। इसी हेतु सोमदेव ने अपने आश्रयदाता का उल्लेख नीतिवाक्यामृत मे नहीं किया।" विद्वान् लेखक का यह भी विचार है कि "यशस्तिलक का परिमार्जन तथा आगे के पाँच आश्वासो की रचना भी कन्नौज नरेश के राज्याश्रय मे ही हुई। अन्त मे श्रीगोविन्दराय जी लिखते हैं कि नीतिवाक्यामृत की रचना महेन्द्रपालदेव के लिए की गयी, किन्तु उन का स्वर्गवास हो जाने के कारण उस की समाप्ति महीपाल के राज्यकाल में हुई। इस प्रकार यशस्तिलक के अन्तिम पाँच आश्वास तथा नीतिवाक्यामृत उत्तरभारत में ही लिखे गये। यह समय महेन्द्रपाल प्रथम और उन के पुत्र महीपाल के शासन का था। सम्भवतः इस समय आचार्य की आयु ५० वर्ष के लगभग हो।"[२]

नीतिवाक्यामृत के टीकाकार तथा श्री गोविन्दराय जैन के मत से हम सहमत नहीं है। यशस्तिलक का रचना काल वि० सं० १०१६ (९५९ ई०) निर्णीत है और नीतिवाक्यामृत की रचना उस के पश्चात् हुई है। ऐसी दशा में नीतिवाक्यामृत का रचना काल महेन्द्रपालदेव से, जिन का समय अधिकाश इतिहासकारो ने

---

१ नीतिवाक्यामृत की टीका, पृ० २।
अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन रजबलावस्थायिपराक्रमपालितकस्य कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमन्महेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्रदुरवबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तित ।

२ श्रीगोविन्दराय जैन—जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १४, किरण २, पृ० १४-२६।

वि० सं० ९६४ माना है,[1] कम से कम ५२ वर्ष पश्चात् का है। अतः सोमदेव को महेन्द्रपाल का समकालीन मानना तथा उन के आग्रह पर नीतिवाक्यामृत की रचना का होना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। यदि महेन्द्रपाल के आग्रह पर नीतिवाक्यामृत की रचना की गयी होती तो उस में कहीं-न-कहीं उन का उल्लेख लेखक अवश्य करता जैसा कि यशस्तिलक की प्रशस्ति मे किया है। टीकाकार ने नीतिवाक्यामृत के कर्ता का नाम मुनिचन्द्र तथा उन के गुरु का नाम सोमदेव लिखा है। ठीक इसी प्रकार उन्होंने किसी जनश्रुति के आधार पर ही नीतिवाक्यामृत के रचयिता को महेन्द्रदेव का समकालीन तथा उन के आग्रह पर नीतिवाक्यामृत की रचना की बात लिख दी है।

डॉ० वे० राघवन् नीतिवाक्यामृत को यशस्तिलक के बाद की रचना स्वीकार नही करते। इस के अतिरिक्त वे नीतिवाक्यामृत के टीकाकार के कथन की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि टीकाकार ने जिन कान्यकुब्जनरेश महेन्द्रदेव के लिए सोमदेव को नीतिवाक्यामृत की रचना के आग्रह का उल्लेख किया है वे उस नाम के महेन्द्रपाल द्वितीय होगे, जिन का उल्लेख डॉ० त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ हिस्ट्री ऑफ कन्नौज में किया है। बालकवि रूप में राजेश्वर को महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९१० ई०) का सरक्षण प्राप्त था। अन्त में डॉ० राघवन् ने लिखा है कि सोमदेव गौड देश के गौडसघ के आचार्य थे और सम्भवत उन का सम्मान बोध गया के एक राष्ट्रकूट नरेश ने किया था। राष्ट्रकूट करद चालुक्य अरिकेसरी और उस के उत्तराधिकारियो के समय में वे लैमुलवाड की ओर विहार करने गये थे और कन्नौज को जाते हुए वे चेदि और राष्ट्रकूट दरबारो में पहुँचे अथवा लैमुलवाड मे रहते हुए ही जब कभी उन्हे समय मिलता था वे उपर्युक्त राजदरबारों मे भ्रमण कर आते थे। ऐसी अवस्था मे यह अनहोनी नही कही जा सकती कि उन्होने कन्नौज के नरेश महेन्द्रपाल के आग्रह पर नीतिवाक्यामृत की रचना की हो।[2]

प्रो० जी० वी० देवस्थली का कथन है कि "दिगम्बर जैन सोमदेव का आविर्भाव दसवी शताब्दी के मध्य मे हुआ। और उन्होने राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के राज्यकाल मे यशस्तिलक चम्पू की रचना शकसवत् ८८१ (९५९ई०) मे की। यशस्तिलक की प्रशस्ति के आधार पर सोमदेव को देवसघ का आचार्य कहा जाता है, किन्तु लैमुलवाड के दानपत्र में उन के दादागुरु को गौडसघ का आचार्य बताया गया है। इस के

१ The History and Culture of Indian People, Vol IV, P 33,
H C Ray—Dynastic History of Northern India, Vol. I, P 572
सियदोनी के शिलालेख में महेन्द्रपालदेव के राज्यकाल की तिथियाँ ९०३-४ ई० तथा ९०७-८ ई० निर्दिष्ट हैं। डॉ० आर० एस० त्रिपाठी तथा डॉ० बी० एन० पुरी महेन्द्रपाल की मृत्यु की तिथि ९१० ई० मानते हैं। इस प्रकार वे महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९१० ई० तक निश्चित करते हैं ;
Dr R S Tripathi—History of Kanauj, P 255,
Dr B N Puri—The History of the Gurjara-Pratiharas
२ डॉ० वे० राघवन्, जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १०, किरण २, पृ० १०१-१०४।

अतिरिक्त यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव यशोधर महाराज को दो बार धर्मावलोक कह-कर सम्बोधित करते है। यह उपाधि राष्ट्रकूटों की बोधगया की शाखा युवराजाओं की थी। इस से स्पष्ट है कि सोमदेव प्रारम्भ में गौडदेशीय गौड़संघ के शिष्य थे और सम्भवत: उन को बोधगया के राष्ट्रकूटो का राज्याश्रय प्राप्त था। वहाँ से वे लेमुलवाड में आये और वहाँ उन को राष्ट्रकूटों के अधीनस्थ सामन्त अरिकेसरी तथा उस के उत्तराधिकारी का राज्याश्रय प्राप्त हुआ। राष्ट्रकूटो का चेदि तथा कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। अत: यह कोई अनहोनी नही कि सोमदेव कन्नौज के महाराज महेन्द्रपाल द्वितीय के सम्पर्क मे आये और उन के आग्रह पर उन्होने नीतिवाक्यामृत की रचना की, जैसा कि नीतिवाक्यामृत के अज्ञात टीकाकार ने व्यक्त किया है।[१]

हम डॉ० वे० राघवन् तथा प्रो० जी० वी० देवस्थली के उपर्युक्त विचारो से सहमत नही है। डॉ०राघवन् नीतिवाक्यामृत को यशस्तिलक के बाद की रचना नहीं मानते जो कि युक्तिसगत नही। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में सोमदेव को यशोधरचरित आदि का रचयिता बताया गया है। अत. नीतिवाक्यामृत को यशस्तिलक के बाद की रचना स्वीकार करने मे 'कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। श्री के० के० हण्डीकी भी नीति-वाक्यामृत को यशस्तिलक के बाद की ही रचना मानते हैं और वे सोमदेव को कृष्ण तृतीय तथा बद्दिग का समकालीन स्वीकार करते हैं।[२]

डॉ० राघवन् नीतिवाक्यामृत के टीकाकार के इस कथन को सत्य मानते हैं कि "सामदेव ने कन्यकुब्ज के महाराज महेन्द्रदेव के आग्रह पर नीतिवाक्यामृत की रचना की।" उन का कथन है कि वे महेन्द्रपाल द्वितीय होगे। हम डॉ० राघवन् के इस कथन से भी सहमत नही, क्योकि महेन्द्रपाल. द्वितीय का समय ९४६ ई० माना गया है[3] और यशस्तिलक की रचना ९५९ ई० मानी जाती है। नीतिवाक्यामृत उस के बाद की रचना है। अत महेन्द्रपाल द्वितीय, जिन के राज्यकाल की तिथि ९४६ ई० है, के आग्रह पर नीतिवाक्यामृत की रचना की बात नितान्त असगत प्रतीत होती है।

डॉ० श्यामशास्त्री का विचार है कि नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेव यशो-धर महाराज के समकालीन थे।[४] शास्त्रीजी का यह कथन आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, क्योंकि यशोधर जैनियों के पौराणिक महापुरुष है। सोमदेव से कई शताब्दी पूर्व यशोधर-चरित के विषय में पुष्पदन्त तथा वच्छराय आदि कवि रचना कर चुके थे। पुष्पदन्त का समय शकसवत् ९०६ माना जाता है।[५] अत: सोमदेव को यशोधर महाराज का समकालीन कभी नही माना जा सकता।

---

१. The History and Culture of the Indian People, Vol. IV, P 18.

२. K. K. Handique—Yasastilaka and Indian Culture, Ch 1, P 1

३ The History and Culture of the Indian People, Vol IV, P 31

४ डॉ० श्यामशास्त्री—कौटिलीय अर्थशास्त्र की भूमिका—
यत्र यशोधरमहाराजसमकालेन सोमदेवसूरिणा नीतिवाक्यामृत नाम नीतिशास्त्रं विरचितं।

५ पं० नाथूराम प्रेमी, नीतिवाक्यामृत की भूमिका, पृ० ६, टिप्पणी।

श्री के० के० हण्डीकी सोमदेव का आश्रयदाता किसी भी राजा को नहीं मानते। उन का कथन है कि "सोमदेव जैन आचार्य थे, इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में आदर के साथ अपने गुरु की वन्दना की है। धर्माचार्य होने के साथ ही वे एक महान् राजनीतिज्ञ भी थे इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम के प्रदान करने वाले राज्य को नमस्कार किया है। आगे हण्डीकी महोदय लिखते हैं कि, यह बात भी निश्चित रूप से कही जा सकती है कि सोमदेव दरबारी जीवन से भली-भाँति परिचित थे तथा उन्होने राष्ट्रकूटो के दरबार में कुछ समय अवश्य व्यतीत किया होगा। यशस्तिलक के तृतीय आश्वास में राजदरबार का जैसा चमत्कारपूर्ण वर्णन हुआ है उस के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह वर्णन गंगाधारा जैसी छोटी राजधानी के सम्बन्ध मे कदापि नही हो सकता। यह वर्णन तो एक ऐसे राजदरबार का द्योतक है जो सार्वभौम हो, जिसे युद्ध और सन्धि का सर्वाधिकार हो तथा जिस के अधिकार में समस्त देश की सेना हो।"[1]

श्री के० के० हण्डीकी के इस विचार से तो हम सहमत हैं कि यशस्तिलक के तृतीय आश्वास में जो वर्णन हुआ है वह किसी महान् दरबार का द्योतक है। यह सम्भव है कि सोमदेव राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के राजदरबार मे कुछ समय तक रहे हो। कृष्ण तृतीय विद्वानो का आश्रयदाता था और उस ने कन्नड भापा के प्रसिद्ध कवि पोन्न को उभयभाषाकविचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया था। सोमदेव महान् विद्वान् थे और वे कृष्ण तृतीय के समकालीन भी थे। इस मे कोई आश्चर्य की बात नही कि राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय ने सोमदेव को अपने दरबार मे आमन्त्रित किया हो। वहाँ रहकर उन्होंने दरबारी जीवन का अध्ययन कर के चालुक्य वंश के राजा अरिकेसरी द्वितीय के पुत्र, सामन्त बद्दिग की राजधानी गंगाधारा मे यशस्तिलक के तृतीय आश्वास मे दरबारी जीवन के अनुभवो को व्यक्त किया। ऐसा मानने में कोई अनौचित्य नही। श्री हण्डीकी महोदय के इस विचार से हम सहमत नही कि सोमदेव का आश्रयदाता कोई नही था। यशस्तिलक की पद्यप्रशस्ति एवं लैमुलवाड दानपत्र से यह स्पष्ट है कि सोमदेव का सम्बन्ध चालुक्य नरेशो से बहुत घनिष्ठ था और उन्ही का राज्याश्रय उन्हें प्राप्त था। अत यह बात किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है कि सोमदेव को किसी भी राजा का राज्याश्रय प्राप्त नही था।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण के आधार पर हम यह बात निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नीतिवाक्यामृत की रचना कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल प्रथम महीपाल अथवा महेन्द्रपाल द्वितीय किसी भी राजा के आग्रह अथवा राज्याश्रय में नही हुई। उपर्युक्त राजाओ के राज्यकाल की ज्ञात तिथियो (महेन्द्रपाल प्रथम वि० स० ९६४, महीपाल ९७४ ई० तथा महेन्द्रपाल द्वितीय १००३) से सोमदेव के यशस्तिलक की रचना की

१ K K Handique—Yasastilaka and Indian Culture, Ch 1, PP 5-6

तिथि (वि० सं० १०६४) का मेल नहीं खाता। इस के अतिरिक्त राजशेखर महेन्द्रपाल प्रथम के समकालीन थे और उन को कन्नौज नरेश का राज्याश्रय प्राप्त था। राजशेखर ने अपनी रचनाओं मे स्वयं को महेन्द्रपाल का उपाध्याय बताया है।[1] यशस्तिलक (९५९ ई०), तिलकमंजरी (१००० ई०) और व्यक्तिविवेक (११५०) आदि ग्रन्थों में राजशेखर का उल्लेख मिलता है।[2] इस प्रकार राजशेखर का समय दसवी शताब्दी का प्रथम चरण निश्चित होता है। यशस्तिलक मे सोमदेव ने एक स्थान पर महाकवियों के नामो का उल्लेख किया है। उन में अन्तिम नाम राजशेखर का है।[3] इस से स्पष्ट है कि सोमदेव के समय में राजशेखर का नाम प्रसिद्ध था। इस प्रकार राजशेखर का आविर्भाव सोमदेव से अर्द्ध शताब्दी पूर्व अवश्य हुआ होगा। राजशेखर महेन्द्रपाल के उपाध्याय और उन के समकालीन माने जाते हैं।[4]

अत. सोमदेव का सम्बन्ध कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल से जोड़ना युक्ति-संगत नही। यह बात भी नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति से निश्चित है कि यह ग्रन्थ यशस्तिलक के बाद रचा गया। यशस्तिलक का रचनाकाल वि० स० १०६४ है। अत नीति-वाक्यामृत की तिथि उस के पश्चात् ही होनी चाहिए। महेन्द्रपाल के शासनकाल और नीतिवाक्यामृत के रचनाकाल मे कम से कम ५५ वर्ष का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इस कारण नीतिवाक्यामृत की रचना को महेन्द्रपाल के आग्रह पर बताना नितान्त असगत है। इस के अतिरिक्त देवसघ दक्षिणभारत मे है और कन्नौज उत्तर भारत में। इस प्रकार यह भी आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि सोमदेव ने दक्षिण भारत के चालुक्य नरेशो एव महान् राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय का राज्याश्रय प्राप्त न कर उत्तर भारत मे आकर कन्नौज के महाराज महेन्द्रपाल को सरक्षता प्राप्त की। यह बात नीति-वाक्यामृत के टीकाकार ने किसी जनश्रुति के आधार पर ही लिखी है और उस का-अनुकरण अन्य विद्वानो ने भी किया है। किन्तु वास्तव मे इस ग्रन्थ का आग्रहकर्ता चालुक्यवशी अरिकेसरी तृतीय का पुत्र सामन्त बद्दिग अथवा बद्दिग का पुत्र अरिकेसरी चतुर्थ ही होगा। श्री नीलकण्ठ शास्त्री के वर्णन तथा लेमुलवाड दानपत्र से सोमदेव का चालुक्यो के सम्पर्क मे आना प्रमाणित होता है। जब सोमदेव ने अपने चम्पूमहाकाव्य यशस्तिलक की रचना चालुक्य नरेश बद्दिग की सरक्षता मे की तो उन के द्वितीय ग्रन्थ की रचना को चालुक्यो के आग्रह पर स्वीकार करना युक्तिसगत प्रतीत होता है। लेमुलवाड दानपत्र के उत्कीर्ण किये जाने के समय सोमदेव की आयु सम्भवत शत वर्ष की हो और वे शुभधाम जिनालय मे अपना विरक्त जीवन व्यतीत कर रहे हों, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हमारे विचार से नीतिवाक्यामृत यशस्तिलक

१ Dr R S Tripathi—History of Kanauj, P. 261

२ स्वर्गीय पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय, संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा, पृ० ४०४-४०५।

३ यश०, आ० ४, पृ० ११३—
तथा—उर्व-भारवि, भवभूति-भर्तृहरि—राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु-।

४ Dr R S Tripathi—History of Kanauj, P 253

के अनन्तर की गयी रचना है, जैसा कि अन्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार नीतिवाक्यामृत का रचनाकाल विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी का तृतीय चरण सिद्ध होता है। निश्चित रूप से इस ग्रन्थ का प्रणयन चालुक्यों के राज्याश्रय में ही हुआ।

नीतिवाक्यमृत का महत्त्व

नीतिवाक्यमृत सस्कृत वाङ्मय का अमूल्य राजनीति प्रधान ग्रन्थ है। यह भारतीय साहित्य का भूषण है। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की अपेक्षा इस का कलेवर न्यून है, तथापि रचना-सौन्दर्य मे यह उस से उत्कृष्ट है। यथा नाम तथा गुण वाली कहावत इस ग्रन्थ पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। यह ग्रन्थ वास्तव में नीति का क्षीरसागर है, जिस में लगभग सभी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक सिद्धान्तो का सुमधुर सूत्रो में समावेश है। यह ग्रन्थ गद्य में विरचित है और इस के लेखक ने इस की रचना के लिए सूत्र पद्धति को अपनाया है।

सोमदेव का सस्कृत भाषा पर जैसा अधिकार था वैसा ही रचना शैली पर भी था। बड़ी से बडी बात को सूत्र रूप में कहने की कला मे सोमदेव बहुत दक्ष थे, और इसी कारण उन्होने नीतिवाक्यामृत के अध्यायो का नाम समुद्देश रखा है। समस्त ग्रन्थ में बत्तीस समुद्देश एव पन्द्रह सौ पचास सूत्र हैं। प्रत्येक समुद्देश मे उस के नाम के अनुकूल ही विषय का प्रतिपादन किया गया है।

नीतिवाक्यामृत की शैली बहुत ही सुबोध, सयत, सुगठित एवं हृदयस्पर्शी है। राजनीति जैसे शुष्क विषय का भी इस ग्रन्थ मे काव्य जैसी भाषा मे वर्णन किया गया है। इस का प्रत्येक सूत्र हृदयग्राही है। नीतिवाक्यामृत के अज्ञात टीकाकार ने इस के सूत्रो की शुद्ध एव स्पष्ट व्याख्या की है। प्रत्येक सूत्र में गम्भीर विचार भरे हुए हैं जो हमारे सामने किसी भी विचार का एक पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रधान विषय है राजनीति। राज्य एव शासन व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली प्राय सभी आवश्यक बातो का इस ग्रन्थ में विवेचन किया गया है। राज्य के सप्ताग-स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, बल एव मित्र के लक्षणो पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। साथ ही राजधर्म की बडे विस्तार के साथ व्याख्या की गयी है। इस राजनीति प्रधान ग्रन्थ में मानव के जीवन-स्तर को समुन्नत बनाने वाली धर्म-नीति, अर्थनीति एव समाजनीति का भी विशद विवेचन मिलता है। यह ग्रन्थ मानव जीवन का विज्ञान और दर्शन है। यह वास्तव में प्राचीन नीति साहित्य का सारभूत अमृत है। मनुष्यमात्र को अपनी-अपनी मर्यादा मे स्थिर रखने वाले राज्यप्रशासन एव उसे पल्लवित, सवर्धित एव सुरक्षित रखने वाले राजनीतिक तत्त्वो का इस में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है।

आचार्य सोमदेव ने नीति के दोनो अगों—राज्य एवं समाज से सम्बन्ध रखने वाली विविध समस्याओं पर पूर्ण प्रकाश डाला है। राज्य और समाज एक दूसरे के

अन्योन्याश्रित हैं । अत: दोनों की ही समस्याओं का समाधान आवश्यक है, जो कि इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है । यदि सोमदेव अपने ग्रन्थ में राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले विषयो पर ही प्रकाश डालते तो उन का वर्णन एकांगी होता । अत: उन्होंने नीति के दोनों ही अगों की व्याख्या की है ।

समाज की उत्पत्ति में राज्य की उन्नति है और एक शक्तिशाली एवं नीति-सम्मत राज्य में ही व्यक्ति त्रिवर्ग के फल का निर्बाध रूप से उपभोग कर सकता है एव अपनी सर्वांगीण उन्नति करने में समर्थ हो सकता है । इसी बात को दृष्टि में रख कर सोमदेव ने राज्य के साथ सामाजिक प्रश्नों पर भी विचार किया है । नीतिवाक्यामृत में दिवसानुष्ठान, सदाचार, व्यवहार, विवाह एव प्रकीर्ण आदि समुद्देशों की रचना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गयी है ।

नीतिवाक्यामृत के टीकाकार ने नीति की दो प्रकार से व्याख्या की है जो इस प्रकार हैं—(१) चारों वर्ण तथा चारों आश्रमों में वर्तमान जनता जिस के द्वारा अपने-अपने सदाचारो में प्रवृत्त की जाती है, उसे नीति कहते हैं । (२) विजयलक्ष्मी के इच्छुक राजा को जो धर्म, अर्थ, और काम आदि पुरुषार्थों से संयोग करावे उसे नीति कहते हैं ।[१] इस ग्रन्थ को टोकाकार के मतानुसार नीतिवाक्यामृत नामकरण का यह कारण दिया गया है कि इस ग्रन्थ के अमृत तुल्य वाक्यसमूह विजयलक्ष्मी के इच्छुक राजा की अनेक राजनीतिक विषयो, सन्धि, विग्रह, यान, आसन आदि मे उत्पन्न हुई सन्देह रूप महामूर्च्छा का विनाश करने वाले हैं, इसलिए इस का नाम नीतिवाक्यामृत रखा गया है ।[२]

लेखक ने नीति के इन दोनों ही अर्थों को दृष्टि में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की है । अपने वर्ण्यविषय पर पूर्णप्रकाश डालने वाला ग्रन्थ ही अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण माना जाता है । राजनीति तथा समाज के प्रमुख अंगो का जो विशद वर्णन नीतिवाक्यामृत में हुआ है उस का सारांश निम्नलिखित है—

त्रिवर्ग प्राप्ति का अमोघ साधन राज्य

भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार मनुष्यमात्र को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चातुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए । महर्षि व्यास का कथन है कि धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है ।[३] यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यह

---

१ नीतिवाक्यामृत की टीका, पृ० २—
नयन विजिगीषोस्त्रिवर्गेण संयोजनं नीति , नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु स्वेषु सदाचारेषु चतुर्वर्णाश्रम-लक्षणो लोको यस्यां वा सा नीति ।

२ वही—
नीतेर्वाक्यानि वचनरचनाविशेषास्तान्येवामृतमिवामृतं श्रोतृश्रोत्रविवरानवरतामन्दसुन्दरसुखसंदोहदाय-कत्वात्, राज्ञो वानेकार्थसमुत्पन्नसंमोहमहामूर्च्छापरिहारित्वात्, नीतिवाक्यामृतमह ब्रुवे—।

३ महाभारत—
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते ।

स्पष्ट है कि निष्काम धर्म से मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। इसलिए यदि धर्म को ही चातुर्वर्ग का मूल कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद का कथन है कि जिस से अभ्युदय एवं लौकिक उन्नति और निःश्रेयस तथा पारलौकिक मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है।[1]

प्राचीनकाल में धर्म का प्रयोग चातुर्वर्ग के लिए होता था और उस का विभाजन दो भागों में कर दिया गया था—एक, लौकिक और दूसरा, पारलौकिक। प्रथम भाग के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम का समावेश था और द्वितीय में मोक्ष का। लौकिक धर्म का ही दूसरा नाम पुरुषार्थ और पारलौकिक अर्थात् मोक्ष का नाम परमपुरुषार्थ था। इस कारण धर्म, अर्थ और काम को मानव पुरुषार्थों के नाम से ही पुकारा जाता था। सोमदेवसूरि ने भी अपने ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत में मानव पुरुषार्थों का वर्णन किया है। वे राजनीति को त्रिपथगामिनी कहते हैं, क्योंकि इस के द्वारा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। इसी कारण उन्होंने सर्वप्रथम धर्म, अर्थ और काम रूप फलों के प्रदान करने वाले राज्य को नमस्कार किया है।[2] सोमदेव एक महान् राजनीतिज्ञ थे, अत. उन्होंने अपने ग्रन्थ में किसी राजा आदि का यशोगान न कर के राज्य को नमस्कार किया है। शुक्राचार्य ने भी राज्य को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति का साधन बतलाया है। उन्होंने अपनी दण्डनीति के प्रारम्भ में ही उस राज्यरूपी वृक्ष को नमस्कार किया है जिस की शाखाएँ षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) हैं और जिस के पुष्प (साम, दान, भेद और दण्ड) हैं तथा फल त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, और काम) हैं।[3]

सोमदेव ने धर्म, अर्थ और काम तीनों ही पुरुषार्थों के सेवन का उपदेश दिया है। उन का यह भी आदेश है कि त्रिवर्ग का समरूप से ही सेवन करना चाहिए (३, ३)। अर्थ को धर्म के समकक्ष स्थान प्रदान कर के आचार्य ने प्राचीन परम्परा में एक महान् सुधार किया है। काम को भी धर्म के समकक्ष मानकर उन्होंने व्यावहारिक राजनीतिज्ञता का परिचय दिया है। जैन सन्यासी होते हुए भी उन्होंने अर्थ के महत्त्व का भली-भाँति अनुभव किया है। यह बात उन की दूरदर्शिता की परिचायक है। नीतिवाक्यामृत में धर्म, अर्थ और काम की विशद व्याख्या की गयी है। धर्म की परिभाषा करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि जिस से इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। इस के विपरीत फल वाला अधर्म है

---

१ कणाद दर्शन—
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

२ नीतिवाक्यामृत, पृ० ७।
अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।

३ शुक्र नीतिवाक्यामृत, पृ० ७।
नमोस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने।
सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने॥

(१,१-२)। धर्म की प्राप्ति के साधनो पर भी ग्रन्थकार ने प्रकाश डाला है। अपने समान दूसरे में भी कुशल वृत्ति का चिन्तन करना, शक्ति के अनुसार त्याग व तप करना धर्म की प्राप्ति के साधन हैं (१, ३)। सम्पूर्ण प्राणियों मे सम आचरण करना सर्वश्रेष्ठ आचरण है। जो व्यक्ति प्राणियों से द्रोह करता है उस की कोई भी शुभ-क्रिया कल्याण कारक नही हो सकती। जो व्यक्ति हिंसारहित मन वाले हैं उन का व्रतरहित भी चित्त स्वर्ग प्राप्ति के लिए समर्थ है (१, ४-६)। दान और तप के महत्त्व पर भी ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है। आचार्य की दृष्टि में प्राणिमात्र की सेवा करना तथा सब से प्रेम करना ही महान् धर्म है। जो व्यक्ति प्राणियों से द्रोह करते हैं वे चाहे जितने ही शुभ कर्म करें, किन्तु उन का फल उन्हें प्राप्त नही हो सकता। उन की समस्त शुभ क्रियाएँ भी अग्नि में डाले गये घृत के समान व्यर्थ ही होंगी। जैन आचार्य होने के कारण उन्होंने अपने मतानुयायियों के अनुरूप ही अहिंसा को परम धर्म बताया है और इस के पालन करने वाले व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार के व्रत की आवश्यकता नही बतायी है। अहिंसा को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया है।

धर्म के उपरान्त अर्थ पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि जिस से सब प्रयोजनो की सिद्धि हो वह अर्थ है (२,१)। जो मनुष्य सदैव अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार अर्थानुबन्ध (व्यापारिक साधनो से अविद्यमान धन का सचय, सचित की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करना) से धन का उपभोग करता है वह उस का पात्र धनाढ्य हो जाता है (२, २)। नैतिक व्यक्ति को अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करने मे प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने वाला व्यक्ति ही भविष्य मे सुखी रहता है। धन के सदुपयोग पर नीतिकार ने बहुत बल दिया है। वे लिखते हैं कि जो लोभी पुरुष अपने धन से तीर्थों (सत्पात्रो) का आदर नही करता, उन को दान नही देता उस का धन शहद की मक्खियों के छत्ते के समान अन्य व्यक्ति ही नष्ट कर देते है (२, ४)। मनुष्य को अपने सुखो का बलिदान कर के धन सग्रह नही करना चाहिए। यह बात नीति के विरुद्ध है। अनेक कष्ट सहन कर धनोपार्जन करना दूसरो का बोझा ढोने के समान है (३, ५)। धन की वास्तविक सार्थकता तभी है जब उस से मन और इन्द्रियो को पूर्ण तृप्ति हो (३, ६)।

मानव जीवन के तृतीय पुरुषार्थ काम की भी व्याख्या ग्रन्थकार ने की है। जिस से समस्त इन्द्रियों में बाधारहित प्रीति उत्पन्न होती है उसे काम कहते है (३, १)। नैतिक व्यक्ति को धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का समरूप से सेवन करना चाहिए। यदि इन तीनो पुरुषार्थों में से एक का भी अति सेवन किया गया तो इस से स्वय को पीड़ा होगी तथा वह दूसरों के लिए भी कष्टदायक होगा (३, ४)। आचार्य ने इन्द्रिय निग्रह पर विशेष बल दिया है, क्योंकि अजितेन्द्रिय को किसी भी कार्य में सफलता नही मिल सकती (३,७)। मानव को इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए नीतिशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए (३, ९)। नैतिक

व्यक्ति को विषय रूपी भयानक वन में दौड़ने वाले इन्द्रिय रूपी गजों को, जो कि मन को विक्षुब्ध करने वाले हैं, सम्यक्ज्ञान रूपी अकुश से वश में करना चाहिए। मुख्य रूप से मनाश्रित इन्द्रियाँ विषयो में प्रवृत्त हुआ करती हैं। इस कारण मन पर विजय प्राप्त करना ही जितेन्द्रियता है। जो व्यक्ति विषयो में आसक्त है वह महा विपत्ति के गर्त में पड़ता है। आचार्य राजा को भी काम से सचेत करने के लिए आदेश देते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति (राजा) काम से पराजित हो जाता है वह राज्य के अगो (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, मित्र और सेना आदि) से शक्तिशाली शत्रुओं पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकता है (३, ११)। अत. विजयलक्ष्मी के इच्छुक राजा को कभी काम के वशीभूत नही होना चाहिए।

काम से होने वाली हानियों की ओर भी आचार्य सोमदेव ने सकेत किया है। वे लिखते है कि कामी पुरुष को सन्मार्ग पर लाने के लिए लोक में कोई औषधि नही है (३, १२)। स्त्रियों में अत्यन्त आसक्ति करने वाले पुरुष का सब, धर्म और शरीर नष्ट हो जाता है (३, १३)। धर्माचार्यों का कथन है कि विवेकी पुरुष को सर्व प्रथम धर्म पुरुषार्थ का पालन करना चाहिए। उसे विषयों की लालसा, भय, लोभ और जीवरक्षा के लोभ से कदापि धर्म का त्याग नही करना चाहिए। परन्तु सोमदेवसूरि के अनुसार आर्थिक संकट में फँसा हुआ व्यक्ति पहले अर्थ, जीविकोपयोगी व्यापार आदि करे, तत्पश्चात् उसे धर्म और काम पुरुषार्थों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि लोक की धर्म रक्षा, प्राण-यात्रा और लौकिक सुख आदि सब धन से ही सम्पन्न होते है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों में पूर्व का पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है (३, १५)। आचार्य के अनुसार सब पुरुषार्थों में अर्थ ही प्रमुख है और अन्य दो पुरुषार्थ—धर्म और काम इस के अभाव में कदापि प्राप्त नही हो सकते। नीतिशास्त्र के लगभग सभी आचार्यों ने मानव पुरुषार्थों में अर्थ को ही प्रधानता दी है जो कि सर्वथा उचित है। ससार के समस्त प्रयोजनों की सिद्धि अर्थ से ही सम्भव है (२,१)। इस के अभाव में कोई भी पुरुषार्थ पूर्ण नहीं हो सकता। अत मानव पुरुषार्थों में अर्थ का ही प्रमुख स्थान है।

दण्डनीति का महत्त्व

मनुष्य मात्र का परम कल्याण त्रिवर्ग के विधिवत् पालन करने मे ही है। त्रिवर्ग से तात्पर्य धर्म, अर्थ और काम से है। त्रिवर्ग की साधना तभी हो सकती है जबकि प्रजा का पालन करने वाला राजा हो और वह दण्डनीति का ज्ञाता हो। दण्ड के द्वारा ही राजा अपने धर्म (राजधर्म) का पालन करता है। इसी हेतु राजा के साथ ही सृष्टिकर्ता ने दण्ड की भी सृष्टि की[1]। अपराधी को उस के अपराध के अनुकूल दण्ड देना दण्ड-

१ मनु० ७, १४
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥

नीति है (९,२)। दण्डनीति का सभी आचार्यों ने बहुत महत्त्व बतलाया है। मनु का कथन है कि दण्ड ही शासक है और दण्ड ही प्रजा है। जब प्रजा सोते है तब दण्ड ही जागता है।[1] दण्ड का उचित प्रयोग ही समाज में व्यवस्था रख सकता है और मात्स्य-न्याय का अन्त कर सकता है। दण्ड का उचित प्रयोग वही कर सकता है जिस ने दण्ड-नीति का अध्ययन किया हो। यदि अपराधियों का उन के अपराध के अनुकूल दण्ड नहीं दिया जायेगा तो प्रजा में मात्स्यन्याय उत्पन्न हो जायेगा। दण्डनीति का प्रयोजन राष्ट्र को प्रजा कण्टकों से सुरक्षित रखना, प्रजा को धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का बाधा-रहित पालन करना, उसे कर्तव्यो में प्रवृत्त करना तथा अकर्तव्य से निवृत्त करना, विशाल सैनिक सगठन द्वारा अप्राप्त राज्य की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि करना है। दण्ड की अपूर्व शक्ति का वर्णन करते हुए आचार्य कौटिल्य लिखते है कि जब राजा पक्षपातरहित दोष के अनुकूल अपने पुत्र और शत्रु को दण्ड देता है तब वह दण्ड इस लोक और परलोक दोनों की ही रक्षा करता है।[2] आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता की प्रगति और सुरक्षा का साधक दण्ड ही है। भली-भाँति सोच-विचार कर जब दण्ड दिया जाता है तब वह प्रजा को धार्मिक बनाता है और उसे अर्थ तथा काम पुरुषार्थों की प्राप्ति मे लगाता है। परन्तु जब अविवेकपूर्ण ढग से दण्ड का प्रयोग किया जाता है तो उस से सन्यासियो में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है फिर गृहस्थियो का तो कहना ही क्या।[3] किन्तु फिर भी दण्ड का प्रयोग परम आवश्यक है। यदि इस का प्रयोग नही किया जाता तो बलवान निर्बलों को नष्ट कर देते हैं।

अन्यायपूर्ण ढग से दिये गये दण्ड से होने वाली हानि की ओर सकेत करते हुए आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि जो राजा अज्ञानतापूर्वक और क्रोध के वशीभूत होकर दण्डनीति शास्त्र की मर्यादा का उल्लघन कर के अनुचित ढग से दण्ड देता है, उस से समस्त प्रजा के लोग द्वेष करने लगते हैं (९, ६)। न्यायी राजा को अपराध के अनुरूप न्याययुक्त दण्ड देकर प्रजा की श्रीवृद्धि करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण का आशय यही है कि समाज में शान्ति एव व्यवस्था रखने के लिए दण्ड की परम आवश्यकता है। इस के अभाव में मात्स्यन्याय उत्पन्न हो जाता है। राजा को दण्डनीति का ज्ञाता होना चाहिए तथा इस का प्रयोग न्यायपूर्वक करना चाहिए। ऐसा करने से ही प्रजा को धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्राप्ति हो सकती है। आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता की उन्नति और कुशलता का साधक दण्ड ही है।

---

१ मनु० ७, १८

दण्ड शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधा ॥

२ कौ० अर्थ० १, ४।

३ वही—

सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्ड प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीतकामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरि-व्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्।

महाभारत मे लिखा है कि जब दण्डनीति निर्जीव हो जाती है तब वेदत्रयी डूब जाते हैं और वृद्धिप्राप्त अन्य धर्म भी नष्ट हो जाते है। प्राचीन राजधर्म अथवा दण्डनीति का जब त्याग कर दिया जाता है तब सम्पूर्ण धर्म और आश्रम मिट जाते हैं। राजधर्म में हो समस्त त्याग देखे जाते हैं और सब दीक्षाएँ राजधर्म में ही मिली हुई हैं, सब विद्याएँ राजधर्म में ही कही गयो हैं और सब लोक राजधर्म में ही केन्द्रीभूत हैं।[1] इस प्रकार दण्डनीति अथवा राजधर्म की बड़ी महिमा है। इस के महत्त्व के कारण ही शुक्राचार्य ने दण्डनीति को ही एकमात्र विद्या बतलाया है तथा अन्य विद्याओ को इसी के अन्तर्गत रखा है।[2]

राज्यांगोंका विशद विवेचन

प्रस्तुत ग्रन्थ में राज्य के सप्तांग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, बल, मित्र आदि का विशद विवेचन हुआ है। राजधर्म की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या को गयी है। राजा के गुण-दोष, कर्तव्य, राजरक्षा आदि विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। राज्य का लक्षण बताते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म राज्य है (५,४)। वर्ण—ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और यति से युक्त तथा धान्य, सुवर्ण, पशु और तांबा, लोहा आदि धातुओ को प्रचुर मात्रा में देने वाली पृथ्वी को राज्य कहते हैं (५, ५)। परन्तु जिस में ये बातें न पायी जायें वह राज्य नही है। राज्य के साथ ही राजा की भी परिभाषा इस ग्रन्थ मे की गयी है—"जो अनुकूल चलने वालो (राजकीय आज्ञा मानने वालो) की इन्द्र के समान रक्षा करता है तथा प्रतिकूल चलने वालों (आज्ञा भग करने वालो) को यम के समान दण्ड देता है उसे राजा कहते है (५, १)।" राज्य का मूल क्रम और विक्रम हैं (५, २७)। इस की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है। इस विषय की चर्चा करते हुए आचार्य लिखते हैं कि राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य, चाहे वह वंश परम्परा से प्राप्त हुआ हो अथवा अपने पुरुषार्थ से, को सुरक्षित, वृद्धिगत और स्थायी बनाने के लिए क्रम-सदाचार लक्ष्मी से अलंकृत होकर अपने कोश और शक्ति का संचय करे, अन्यथा दुराचारी और सैन्यहीन होने से राज्य नष्ट हो जाता है (५, ३०)।

---

१ महा० शान्ति०, ६३, २७-२९।
सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधाना, सर्वे वर्णा पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्याग धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥
मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्मा प्रक्षयेयुर्विबुद्धा।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हता स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टा सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ता।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ता सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टा॥
२. कौ० अर्थ० १, २
दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसा॥

इस ग्रन्थ में राज्य की उत्पत्ति के विषय में दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। सोमदेव लिखते हैं कि राजा ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्ति है। अत इस से अन्य कोई प्रत्यक्ष देवता नही है (२९, १६)। राजा की योग्यताओ के विषय में भी ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है। इस विषय में उन का मत है कि जिस पुरुष में राजनीतिज्ञ विद्वान् पुरुषों के द्वारा नीति, आचार, सम्पत्ति और शूरता आदि प्रजापालन में उपयोगी सद्गुण स्थिर हो गये हैं वह पुरुष राजा बनने योग्य है (५, ४२)। इसी प्रसग में आगे कहा गया है कि जब राजा द्रव्य-प्रकृति राज्यपद के योग्य राजनीतिक ज्ञान और आचार, सम्पत्ति आदि सद्गुणों को त्याग कर अद्रव्यप्रकृति-मूर्खता, अनाचार और कायरता आदि दोषो को प्राप्त हो जाता है तब वह पागल हाथी की तरह राज-पद के योग्य नही रहता (५, ४३)।

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव, प्रभृति राजनीति शास्त्र के उक्त छह गुणों का भी विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है (२९, ४३-५०)। सोमदेव लिखते है कि इन गुणों से विभूषित राजा ही अपने पद पर स्थायी रह सकता है। साम, दान, दण्ड, भेद आदि नीतियों का उल्लेख भी ग्रन्थ में हुआ है (२९, ७०)। राजा को किस अवसर पर किस नीति का प्रयोग करना चाहिए इस का भी विवरण नीतिवाक्यामृत में उपलब्ध होता है।

अपराधियो को दण्ड देना और सज्जन पुरुषों की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है (५, २)। सिर मुडाना और जटाओं का धारण करना मुनियों का धर्म है, राजा का नही (५, ३)। राष्ट्र कण्टकों को नष्ट करना तथा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करना राजा का परम धर्म है। जब राजा इस रीति से अपने कर्तव्यो का पालन करता है तो समस्त दिशाएँ प्रजा को अभिलषित फल प्रदान करने वाली होती हैं (१७,४५)।

राजकर्तव्यों के साथ ही राजरक्षा पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है (राज-रक्षा समु०)। राजा को कौन-कौन सी बातों से सचेत रहना चाहिए इस विषय में भी ग्रन्थ मे पर्याप्त विवेचन हुआ है। आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि राजा को अपरीक्षित मार्ग पर कदापि गमन नहीं करना चाहिए। राजा को मन्त्री, वैद्य तथा ज्योतिषी के बिना भी अन्यत्र प्रस्थान नहीं करना चाहिए। राजा अथवा विवेकी पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपनी भोजन सामग्री को भक्षण करने से पूर्व उसे अग्नि मे डालकर परीक्षा कर ले। इसी प्रकार वस्त्रादि की भी परीक्षा अपने आप्त पुरुषों से कराते रहना चाहिए। उपहार में प्राप्त हुई किसी भी वस्तु को राजा स्वय न स्पर्श करे। अपने विश्वास पात्रों से उन वस्तुओ की परीक्षा कराने के उपरान्त ही उन का स्पर्श करे। राजा को अपने भवन में किसी भी ऐसी वस्तु को प्रविष्ट होने की आज्ञा नही देनी चाहिए जो उस के विश्वास पात्रो द्वारा परीक्षित और निर्दोष सिद्ध न कर दी गयी हो।

इस प्रकार राज्य तथा राजा के लक्षण, राजा के गुण-दोष एवं राज्य रक्षा आदि विषयों पर ग्रन्थकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है जो राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

राजशास्त्र-सम्बन्धी अन्य बातों का विवेचन

राज्य के सप्तांग सिद्धान्त के अतिरिक्त राज्य शास्त्र से सम्बन्धित अन्य महत्त्व-पूर्ण विषयो की भी चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ में की गयी है। न्यायव्यवस्था, युद्धविधान, सैन्य-सचालन, करप्रणाली, चर व्यवस्था, एवं परराष्ट्रनीति आदि समस्त विषयों पर सोमदेव ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। दण्डविधान की उपयोगिता का वर्णन करते हुए आचार्य सोम-देव ने लिखा है कि जिस प्रकार अग्नि के प्रयोग से टेढ़े बाँसों को सीधा कर लिया जाता है, उसी प्रकार दुर्जन पुरुष भी दण्ड से सीधा हो जाता है (२८, २५)। दण्ड सभी के लिए अपराधानुसार होना चाहिए। राजा को अपने पुत्र को भी उचित दण्ड देना चाहिए। विवाद के विषयो में विभिन्न वर्णों से शपथ लेने की प्रणाली, लेख की प्रमाणिकता आदि बातों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस विषय में आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि लेख व वचन में से लेख को ही विशेष प्रतिष्ठा है और उसी की अधिक प्रामाणिकता होती है (२६, ४२)। वचनों की चाहे वे बृहस्पति द्वारा ही क्यो न कहे गये हो, प्रतिष्ठा नही होती (२७, ६२)।

आचार-सम्बन्धी नियमों का विश्लेषण

"आचार प्रथमो धर्म" के आधार पर नीतिवाक्यामृत में आचार धर्म को प्रमुखता दी गयी है। सदाचारों का पालन करने वाला व्यक्ति संसार में यशस्वी होता है। जो सदाचार का पालन नही करता वह लोक में निन्दित बन जाता है। सोमदेव का कथन है कि लोकनिन्दा का पात्र बृहस्पति के समान उच्च व्यक्ति भी पराजित हो जाता है (२६, १)। अत सदाचार का पालन राजा एव साधारण पुरुषो के लिए परमाव-श्यक है इस की आवश्यकता का अनुभव करते हुए आचार्य ने अपने ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत मे सदाचार समुद्देश को रचना की है।

वर्णाश्रम व्यवस्था

यह भी एक आश्चर्य की बात है कि आचार्य सोमदेव ने जैनधर्म के अनुयायी होते हुए भी कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था को स्वीकार किया है। उन्होने नोतिवाक्यामृत मे वर्ण और आश्रमो का उल्लेख किया है (५, ६-७)। आचार्य ने प्रत्येक वर्ण के कार्यों पर भी प्रकाश डाला है (७,७-१०)। सोमदेव वर्णव्यवस्था के पोषक तो हैं, किन्तु इस क्षेत्र में उन के विचार बहुत उदार हैं। वे प्रगतिशील विचारो के आचार्य थे। अत उन्होने वर्णव्यवस्था के उपयोगी स्वरूप को ही स्वीकार किया है। ज्ञान प्रसार के क्षेत्र में उन का दृष्टिकोण बहुत विशाल था। उन्होने इस पक्ष की पुष्टि की है कि ज्ञान प्राप्ति का सभी को समान अधिकार है। इस क्षेत्र में वर्णव्यवस्था का प्रतिबन्ध उन्हें अमान्य था। उन का मत है कि ज्ञान एक महान् तीर्थ के समान है, जिस में अवगाहन कर अधम से अधम प्राणी भी महान् बन सकता है। ज्ञानार्जन में सम्प्रदाय,

धर्म अथवा जाति का विचार घातक है, क्योंकि इन के फेर में पड़कर मनुष्य ज्ञान का फल प्राप्त नहीं कर सकता[1]।

आचार्य का स्पष्ट विचार था कि समाज में सभी वर्णों को यथायोग्य स्थान दिया जाये। इस के साथ ही आचार्य सोमदेव महान् राष्ट्रवादी भी थे। इसी कारण उन्होंने राजा को यह आदेश दिया कि जहाँ तक सम्भव हो वह उच्च पदों पर अपने देश के व्यक्तियों की ही नियुक्ति करे (१०,६)। इस का कारण यही है कि स्वदेशवासी ही राष्ट्रभक्त हो सकता है और विदेशी अधिकारी समय आने पर धोखा भी दे सकता है। सोमदेव आचार की पवित्रता पर बहुत बल देते हैं और उच्च वंश में जन्म लेने मात्र को श्रेष्ठता अथवा पवित्रता का मापदण्ड नहीं मानते। उन का कथन है कि जिस का आचार शुद्ध है, जिस के घर के पात्र निर्मल हैं और जो शरीर की शुद्धि रखने वाला है वह शूद्र भी देव, द्विज और तपस्वियों की सेवा का अधिकारी है (७,१२)। इस के साथ हो उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सदाचार के नियमों का पालन करना सभी का समान धर्म है (७,१३)। आगे वे कहते हैं कि सूर्य के दर्शन के समान धर्म सदा-चरण है परन्तु विशेष अनुष्ठान में विशेष नियम हैं (७,१४) अपने आगम में बताया हुआ अनुष्ठान अपना धर्म है (७,१५)। इस का तात्पर्य यही है कि साधारण धर्म के नियम, जैसे धृति, क्षमा, दया, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि सभी वर्णों के लिए समान हैं, किन्तु विशिष्ट धर्म के लिए विशिष्ट नियम हैं। उन्हें वे हो धरण कर सकते हैं जो उस के अधिकारी हैं। प्रत्येक वर्ण को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए। आचार्य कौटिल्य का भी यही मत है। वे लिखते हैं कि प्रत्येक वर्ण को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। यदि व्यक्ति अपना धर्म छोड़कर दूसरे के धर्म के अनुरूप कार्य करने लगेंगे तो इस से वर्णसंकरता उत्पन्न होकर विश्व में अव्यवस्था फैल जायेगी।[2] इस के लिए वे राजा को भी आदेश देते हैं कि राजा देश में कभी वर्णसंकरता का प्रचार न होने दे। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था के अनुसार यदि संसार कार्य करेगा तो वह कभी खिन्न नहीं होगा, अपितु सर्वदा प्रसन्न रहेगा।[3] आचार्य सोमदेव निर्भीक लेखक थे, इसी कारण उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रत्येक वर्ण के स्वभाव एव दोषो पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है।

---

१ यश०, आ० १, २०।

२ कौ० अर्थ० १, ३।
स्वधर्म स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोक संकरादुच्छिद्येत।

३ वही।
तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं सदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥
व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रमस्थिति।
त्रय्या हि रक्षितो लोक प्रसीदति न सीदति॥

कौटुम्बिक जीवन की झलक

स्मृति तथा अर्थशास्त्र दोनो में ही कुटुम्ब का समाज की इकाई बताया गया है। व्यक्ति ही समस्त कार्यों का कर्ता है और गृहस्थ जीवन पर ही समाज का सम्पूर्ण ढाँचा आधारित है। अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनो ही वैवाहिक सम्बन्धो को श्रेष्ठ मानते हैं। मानव जीवन के समस्त सस्कारो में पाणिग्रहण सस्कार को बहुत महत्त्व दिया गया है। आचार्य कौटिल्य का कथन है कि ससार के सारे व्यवहारो का आरम्भ विवाह के अन्तर्गत होता है।[1] आचार्य सोमदेव ने विवाह योग्य कन्या की आयु १२ वर्ष तथा वर की आयु १६ वर्ष बतलायी है (३१,१)। अन्य शास्त्रकारो का भी इस सम्बन्ध मे यही विचार है। आचार्य सोमदेव विवाह की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—युक्तिपूर्वक वरणविधान से अग्नि, द्विज, देवताओ की साक्षी के साथ पाणिग्रहण करना विवाह है (३१,३)। आचार्य ने आठ प्रकार के ब्राह्म, आर्ष, प्राजापत्य, दैव, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच-विवाहो का उल्लेख किया है (३१,४-१२)। प्रथम चार प्रकार के विवाह धर्मसम्मत तथा अन्तिम चार प्रकार के विवाह धर्म-विरुद्ध माने जाते थे (३१,१३)। आचार्य ने कन्या के गुण-दोषो पर भी प्रकाश डाला है (३१,१७)।

नारी चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

नारी चरित्र बडा गूढ है। उसे समझने में बुद्धिमान् पुरुषो की मति भी विचलित हो जाती है। नारी चरित्र के गूढ़ रहस्यो पर लेखक ने अपूर्व प्रकाश डाला है। इस प्रसग मे आचार्य के प्रमुख सूत्र इस प्रकार है—

१ स्त्रियो मे विश्वास मरणान्तक होता है (६,४७)।

२ स्त्री के वश मे पडा हुआ पुरुष नदी के वेग मे पडे हुए वृक्ष के समान चिरकाल तक प्रसन्न नही रहता (२४,४१)

३ कलत्र को मनुष्य के लिए बिना बेडियों के भी बन्धन कहा गया है (२७,१)।

४ जो स्त्री अगो का आर्कषण करती है तथा धन के कारण प्रणय करती है वह कुत्सित भार्या है (२७,७)।

५ वह सुखी है जिस के एक स्त्री है (२७,३९)।[2]

वेश्याओ की प्रकृति तथा उन से सावधान रहने के निर्देश

प्रत्येक लेखक की रचना पर देश और काल की परिस्थितियो का प्रभाव अवश्य पडता है। ग्रन्थकार के समय मे इस देश मे गणिकाओ का भी समाज में एक

१ कौ० अर्थ० ३, २।
विवाहपूर्वो व्यवहार ।
२ वही, ३८।

विशिष्ट स्थान था। वेश्या सेवन के दोषो से तथा उन के प्रति व्यवहार सम्बन्धित वृत्त पर लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में नीतिवाक्यामृत के निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं—

१. वेश्या का स्त्री के रूप में रहना, भाँड़ का सेवक होना, शुल्क ग्रहण करना तथा नियोगी मित्र ये चार वस्तुएँ अस्थिर हैं (२८, ३९)।

२. वेश्याएँ धन का अनुभव करती हैं व्यक्ति का नही (२४, ४७)।

३ वेश्याओं की आसक्ति प्राय धन को नष्ट करने वाली होती है (२४, ४६)।

४ धनहीन कामदेव मे भी वेश्याएँ प्रीति नही मानती (२४, ४८)।

५. वह पशुओ का भी पशु है जो अपने धन से वेश्याओ को धनवती बनाता है (२४, ५०)।

६ चित्त विश्रान्ति पर्यन्त वेश्यागमन उचित है सर्वदा नही (२४, ५२)।

७ सुरक्षित वेश्या भी अपनी प्रकृति को नही छोडती (२४, ५२)।

स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो का उल्लेख

नीतिवाक्यामृत में स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमो का भी वर्णन किया गया है। इस प्रसग के कुछ उपयोगी सूत्रो का आशय निम्नलिखित है—

१ नित्य दन्तधावन न करने वाले को मुखशुद्धि नही है (२५, ७)।

२ वेग, व्यायाम, शयन, स्नान, भोजन और स्वच्छन्दवृत्ति (विहार) को काल से अतिक्रमित न करे (२५, १०)।

३ श्रम, स्वेद, आलस्य का दूर होना स्नान का फल है (२५, २५)।

४. भूखा और प्यासा व्यक्ति कभी तैलमर्दन न करे (२५, २७)

५ धूप से सन्तप्त पुरुष को जल मे स्नान करना दृष्टि की मन्दता और शिरो-व्यथा को उत्पन्न करना है (२५, २८)।

६ भूख का समय ही भोजन का समय है (२५, २९)।

७ भूख के समय के अतिक्रम से अन्न में अरुचि और देह की क्षीणता हो जाती है (२५, २६)।

८. मिताहारी ही बहुत खाता है (२५, ३८)।

९. निरन्तर सेवन की हुई दो ही वस्तुएँ सुखदाई होती हैं—सरस सुन्दर आलाप और ताम्बूल (२५, ६०)।

१०. अत्यन्त खेद करने से पुरुष अकाल मे ही वृद्ध हो जाता है (२५, ६३)।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्यो का समावेश

ऐतिहासिक दृष्टान्तों एव पौराणिक आख्यानों का भी ग्रन्थ में यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। जैसे यवनदेश (यूनान) मे मणिकुण्डला रानी ने अपने पुत्र के राज्य के लिए

विष दूषित शराब के कुल्ले से अजराजा को, सूरसेन (मथुरा) में वसन्तमति ने विष के आलेप से रँगे हुए अधरों से सुरतविलास नामक राजा को, दशार्ण में वृकोदरी ने विषलिप्त करधनी से मदनार्णव राजा को, मराठा देश में मदिराक्षी ने तीखे दर्पण से मन्मथ विनोद को, पाण्ड्य देश में चण्डरसा रानी ने केशविन्यास में छिपी हुई कृपाण से मुण्डीर नामक राजा को मार डाला (२५, ३५-३६)। यशस्तिलक में बहुत से पौराणिक आख्यानों का वर्णन मिलता है। इन प्रसगों से सोमदेव के विस्तृत एव व्यापक ज्ञान की झाँकी मिलती है।[1] नीतिवाक्यामृतमें प्राचीन राजाओं के नामों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उन की ऐतिहासिकता सिद्ध करने का हमारे पास कोई साधन नही है।

जीवनोपयोगी सूक्तियों का सागर

जिस प्रकार अमृत का एक-एक बिन्दु मानव को जीवित रखने मे समर्थ है उसी प्रकार नीतिवाक्यामृत का भी प्रत्येक सूत्र जीवन के लिए महोपयोगी है। यह ग्रन्थ नीतिप्रद सूक्तियों का आगार है। ग्रन्थ के कुछ अतीव उपयोगी सूत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

१ अजितेन्द्रिय को किसी भी कार्य में सिद्धि नहीं होती (३, ७)।

२ उस अमृत को त्याग दो जहाँ विष का ससर्ग हो (५, ७२)।

३ जिस पाप के करने पर महान् धर्म की प्राप्ति हो वह पाप भी पाप नही है (६, ४३)।

४. प्रिय बोलने वाला मयूर के समान शत्रु रूप सर्पों को नष्ट कर देता है (१०, १३९)।

५ असत्यवादी के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं (१७, ६)।

६ क्षणिक चित्त वाला कुछ भी सिद्ध नही करता (१०, १४२)।

७ पुरुष, पुरुष का दास नही अपितु धन का दास है (१७, ५४)।

इस प्रकार के अनेक नीतिप्रद वाक्य इस ग्रन्थ मे व्याप्त हैं, जो मानव जीवन को सफल एव समुन्नत बनाने के लिए बहुत उपयोगी तथा अमृततुल्य है।

उपर्युक्त विवरण से नीतिवाक्यामृत का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रन्थ के महत्त्व को शब्दो मे वर्णन करना कठिन है। इस की जितनी भी प्रशसा की जाये वह थोड़ी है। ग्रन्थ के अवलोकन से पाठक को राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित प्रत्येक बात का पूर्ण एव सारगर्भित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मानव समाज को मर्यादित रखने वाले राज्यशासन एव उसे पल्लवित, सवर्धित एव सुरक्षित रखनेवाले राजनीतिक तत्त्वो का प्रस्तुत ग्रन्थ में मनोवैज्ञानिक रूप से विश्लेषण हुआ है। मानव जीवन को समुन्नत बनाने वाले एव उस का पथ प्रदर्शन करने वाले समस्त विषयो की चर्चा इस महत्त्वपूर्ण

१ यश० आ० ४, पृ० १३८-३६।

ग्रन्थ में की गयी है। विजिगीषु जिज्ञासु के लिए इस में विस्तृत ज्ञान का भण्डार है। इस के अध्ययन से कोई भी राजनीति का जिज्ञासु पूर्ण प्रकाश प्राप्त कर सकता है। यह ग्रन्थ वास्तव में राजनीति के सञ्चित ज्ञान की अपूर्व निधि है। कोई भी राजा इस निधि को प्राप्त कर के अपने को कृतकृत्य कर सकता है। राजनीति के क्षेत्र में वस्तुतः नीतिवाक्यामृत का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सोमदेवसूरि की बहुज्ञता

सोमदेवसूरि की विद्वत्ता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। वास्तव में वे उद्‌भट विद्वान् थे और उन का ज्ञान बहुमुखी था। वे विविध विषयों के ज्ञाता थे। आचार्य सोमदेव बहुज्ञ धर्मशास्त्री, महाकवि, दार्शनिक, तर्कशास्त्री एवं अपूर्व राजनीतिज्ञ थे। यशस्तिलक चम्पू एवं नीतिवाक्यामृत के अवलोकन से उन के विशाल अध्ययन एवं विविध शास्त्रों के ज्ञाता होने के प्रमाण मिलते हैं। उन की अलौकिक प्रतिभा पाठकों को चमत्कृत कर देती है। सोमदेवसूरि कृत साहित्य के अध्ययन से इन का धर्माचार्य होना निश्चित होता है। जैन धर्म में स्वामी समन्तभद्र का 'रत्नकरण्ड' श्रावकों का एक श्रेष्ठ आचार शास्त्र है। उस के पश्चात् सोमदेवसूरि ने ही स्वाधीनता, मार्मिकता और उत्तमता के साथ यशस्तिलक के अन्तिम दो आश्वासों में श्रावकों के आचार का निरूपण किया है। ऐसा विस्तृत विवेचन अभी तक किसी भी अन्य जैन आचार्य ने नहीं किया है। इस सम्बन्ध में यशस्तिलक का उपासकाध्ययन अवलोकनीय है। उस से विदित होता है कि धर्मशास्त्रों में भी मौलिकता और प्रतिभा के लिए विस्तृत क्षेत्र है। सोमदेव को 'अकलंकदेव', 'हंस सिद्धान्त देव', और पूज्यपाद जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता देवनन्दी के समान ही प्रतिष्ठित माना गया है।[1]

धर्माचार्य होने के कारण उन मे उदारता का महान् गुण भी दृष्टिगोचर होता है। वे धार्मिक, लौकिक, दार्शनिक सभी प्रकार के साहित्य के अध्ययन के लिए सब को समान अधिकारी मानते हैं। उन के विचार में गंगा आदि तीर्थों के मार्ग पर जिस प्रकार ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी चल सकते हैं उसी प्रकार शास्त्रों के अध्ययन में भी सब का समान अधिकार है।[2] जैनेतर विद्वानों का भी वे आदर करते हैं। यह सत्य है कि उन की स्वतः जैन सिद्धान्तों में अचल आस्था है और इसी कारण उन्होंने यशस्तिलक में अन्य सिद्धान्तो का खण्डन और जैन सिद्धान्तो का मण्डन किया है। फिर भी

---

१ नीतिवा०, प्रशस्ति, पृष्ठ ४०६।
सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी,
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेव।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं,
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥२॥

२ यश० १, २०
लोको युक्तिः कलाश्छन्दोऽलङ्कारा समयागमा।
सर्वसाधारणा सद्भिस्तीर्थमार्ग इव स्मृता ॥

वे ज्ञानमार्ग को सकीर्ण नही बनाते । उन की तो स्पष्ट घोषणा है कि जिस का वचन युक्तिसगत है उसी को स्वीकार करना चाहिए ।

सोमदेव का महाकवित्व उन के ग्रन्थ यशस्तिलक चम्पू में प्रकट हुआ है । चम्पू काव्य गद्य-पद्यमय होता है । गद्यकाव्य कवियो की कसौटी है । गद्य रचना में लालित्य और माधुर्य लाने के लिए महान् कौशल अपेक्षित है । चमत्कृत गद्य लिखना कुशल एवं महान् विद्वानो का ही कार्य है । चम्पू महाकाव्य की रचना वही सिद्ध कवि कर सकते हैं जिन का गद्य तथा पद्य रचना मे समान अधिकार है । यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य सोमदेवसूरि के महाकवि होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है । यह महाकाव्य सस्कृत वाड्मय की अद्भुत रचना है । कवित्व के साथ उस में ज्ञान की भी अपूर्व भण्डार है । जहाँ इस काव्य में उक्ति वैचित्र्य से पूर्ण सुभाषितो का आगार है वहाँ बाण और दण्डी रचित दशकुमारचरित की कोटि का गद्य भी है । इस ग्रन्थ की प्रशसा मे यत्र-तत्र आचार्य सोमदेव ने कुछ श्लोक भी लिखे हैं जिन मे उन्होंने अपने काव्य की विशेषता एव अपूर्वता पर प्रकाश डाला है । उन्होंने अपने चम्पू महाकाव्य की तीन विशेषताएँ बतायी हैं—(१) मौलिकता, (२) अनुपमेयता एव (३) हृदयमण्डन ।[1] आगे वे लिखते है कि लोक-व्यवहार एव कवित्व मे दक्षता प्राप्त करने के लिए सज्जनो को सोमदेव कवि की सूक्तियो का अभ्यास करना चाहिए ।[2] इन उक्तियो से सोमदेव की कवित्व शक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है तथा उन के महाकाव्य यशस्तिलक के महत्त्व का भी पता चलता है । यश-स्तिलक शब्दरूपी रत्नो का विज्ञानकोष है । और इस काव्य के पढ़ने के उपरान्त फिर कोई सस्कृत साहित्य का शब्द शेष नही रह जाता । इस के अतिरिक्त इस महाकाव्य मे व्यवहार कुशलता का भी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है । महाकवि सोमदेव के उत्तम कविता से प्रभावित होकर विद्वज्जन इन को 'वाक्कल्लोल-पयोनिधि' 'कविराज-कुजर' और 'गद्य-पद्य विद्याधरचक्रवर्ती' आदि नामो से सम्बोधित करते हैं ।

सोमदेवसूरि तर्कशास्त्र के भी पारगत विद्वान् थे । उन के महाकाव्य यशस्तिलक चम्पू में उन का अपने प्रसग मे एक वाक्य इस प्रकार है—"जो मुझ से स्पर्धा करता है उस के गर्वरूपी पर्वत को विध्वस करने के लिए वज्र के समान मेरे वचन कालस्वरूप हो जाते है[3] । आचार्य की यह प्रौढ़ोक्ति उन के पाण्डित्य के अनुरूप

---

१ यश०, १, १४ ।
असहायमनादर्शं रत्न रत्नाकरादिव ।
मत्त काव्यमिद जात सता हृदयमण्डनम् ॥

२. वही, ३, ५१३ ।
लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चव ।
सोमदेवकवे सूक्तौ समभ्यस्यन्तु साधव ॥

३ वही, प्रशस्ति
य स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह—
स्तस्याखर्वि तनापि पर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते ॥

ही हैं। इस के अतिरिक्त उन के प्रखर तर्कशास्त्र के पाण्डित्य को प्रकट करने वाले अन्य श्लोक भी हैं। आत्माभिमान को प्रकट करने वाला एक श्लोक है जिस मे वे स्वय को दर्पान्ध गजो के लिए सिंह के समान नाद करने ललकारने वाला और वादिगजो के दलित करने वाला मानते हैं। सोमदेवसूरि के शास्त्रार्थ करते समय वागीश्वर या वाचस्पति बृहस्पति भी नही ठहर सकते।[1]

सोमदेव केवल एक शुष्क तार्किक ही नही थे, अपितु साहित्य मर्मज्ञ, सहृदय हृदयाह्लादक रसविशेषज्ञ भी थे। तर्क का विषय शुष्क व काव्य का विषय सरस होता है, फिर भी काव्य के रचयिता होने पर भी इन के जीवन का बहुत कुछ समय तर्कशास्त्र के स्वाध्याय और मनन में ही व्यतीत हुआ। तर्कशास्त्र के उद्भट वैदुष्य के कारण ही उन्हे स्याद्वादाचलसिंह, वादीभपचानन और तार्किकचक्रवर्ती आदि विशेषणो से अलकृत किया गया है। सोमदेव व्याकरण, काव्य, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के भी पारगत विद्वान् थे। इस प्रकार हम सोमदेवसूरि को महाकवि, धर्माचार्य, तार्किक तथा राजनीतिज्ञ के रूप में देखते हैं।

नीतिवाक्यामृत के निर्माता सोमदेवसूरि का अध्ययन बहुत विशाल था। वे साहित्य, न्याय, व्याकरण, काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि सभी विषयो के प्रकाण्ड पण्डित थे। जैन साहित्य के पूर्ण परिचय के साथ वे जैनेतर साहित्य से भी पूर्णतया परिचित थे। प्राचीन काल के सभी महाकवियो मे उन्होने जैनधर्म के सिद्धान्तो की झलक देखी और उन महाकवियो के काव्यो मे नग्नक्षपणक और दिगम्बर साधुओ का उल्लेख पाया। ऐसा प्रतीत होता है कि वे इन सभी कवियो के साहित्य से पूर्णतया परिचित थे। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र मे उन का विस्मयजनक, विस्तृत एव विशाल अध्ययन था। व्याकरण के विषय मे भी उन्होने पाणिनि व्याकरण के अतिरिक्त ऐन्द्रव्याकरण, चान्द्रव्याकरण, जैनेन्द्रव्याकरण और आपिशलव्याकरण का भी अध्ययन किया था।[2]

वे नीतिशास्त्र प्रणेताओ मे बृहस्पति, शुक्राचार्य, विशालक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म और भारद्वाज आदि का कई स्थानो पर स्मरण करते हैं।[3] कौटिलीय अर्थशास्त्र से तो वे पूर्णतया परिचित थे ही (३,९,१०,४,१३,१४)। गजविद्या, अश्वविद्या, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र आदि विद्याओ तथा उन के आचार्यों का भी उन्होने

---

१ यश०, प्रशस्ति
दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे,
वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।
श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले,
वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले॥

२ यश, आ० १, पृ० ९०।

३. वही, आ० २, पृ० २३।

कई स्थानों पर उल्लेख किया है।[1] दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उन्होंने सैद्धान्त वैशेषिक, तार्किकवैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, दशबलशासन, जैमिनीय, बार्हस्पत्य, वेदान्तवादि, काणाद, तथागत, कापिल, ब्रह्माद्वैतवादि आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया था। इन के अतिरिक्त सोमदेव के साहित्य में मतग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिंगल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरीचि, विरोचन, धूमध्वज, नीलपट, ग्रहिल आदि प्रसिद्ध एव अप्रसिद्ध आचार्यों के नामो का उल्लेख मिलता है।[2] उन के ऐतिहासिक दृष्टान्त बडे सजीव हैं और इस के साथ ही पौराणिक आख्यानो का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।[3]

इन सब बातो पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य सोमदेव का ज्ञान विशाल स्वाध्याय के आधार पर अत्यन्त विस्तृत था। राजनीति के क्षेत्र मे भी उन का अपूर्व स्थान है। वे केवल लक्ष्य ग्रन्थ के रचयिता ही नही थे, अपितु उन्होने अपनी राजनीति का एक प्रयोगात्मक ग्रन्थ भी लिखा है। नीतिवाक्यामृत यदि नीति का लक्ष्य ग्रन्थ है तो यशस्तिलक उन को राजनीति के प्रयोग का व्यावहारिक ग्रन्थ है। यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण में राजनीति का प्रयोगात्मक विस्तृत विवेचन सोमदेवसूरि को राजनीति के आचार्यत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त कराने में पूर्ण समर्थ है इस विषय में यशस्तिलक का तृतीय आश्वास अवलोकनीय है।

●

१ यश०, आ० ४, पृ० २३६–३७।
२ वही, आ० ५, पृ० २६६–७७।
३ वही, आ० ५, पृ० २५२–२५५ एव २६६।

राज्य

राज्य की प्रकृति

कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कामन्दक के नीतिसार में राज्य की परिभाषा उपलब्ध नही होती। इन में राज्य के अगो अथवा प्रकृतियों का वर्णन तो है, किन्तु राज्य की परिभाषा नही है। आचार्य सोमदेवसूरि ने राज्यागो के वर्णन के साथ ही राज्य की परिभाषा भी दी है। एक स्थान पर वह लिखते हैं कि राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म राज्य है (५, ४)। इसी प्रकार आगे उन्होंने लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास अथवा यति) से युक्त तथा धान्य, सुवर्ण, पशु, तांबा, लोहा आदि धातुओ को प्रचुर मात्रा में प्रदान करने वाली पृथ्वी को राज्य कहते हैं (५, ५)।

आचार्य सोमदेव ने उपर्युक्त परिभाषाओ मे सूक्ष्म रूप से राज्य के विशाल स्वरूप का समावेश किया है। इन के विश्लेषण से उस स्वरूप का परिज्ञान होगा।

प्रथम परिभाषा मे मुख्य रूप से राज्य के तीन तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं—(१) राजा, (२) पृथ्वी तथा (३) पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म। उन के अनुसार राज्य का मूल तत्त्व पृथ्वी है। परन्तु यह पृथ्वी ऐसी होनी चाहिए जो उपजाऊ हो, धनधान्य से पूर्ण हो और जिस में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और यति आदि निवास करते हो। ऊसर तथा मनुष्य विहीन पृथ्वी को राज्य नही कहा जा सकता। द्वितीय परिभाषा में राज्य के दो प्रमुख तत्त्व विद्यमान हैं। एक पृथ्वी अथवा भूभाग और दूसरा उस पर निवास करने वाली जनता।

इस परिभाषा के सामने आते ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पृथ्वी की रक्षा के योग्य कौन से कर्म हैं और उन्हें कौन कर सकता है। यह निर्विवाद है कि पृथ्वी की रक्षा सैन्य और कोष की शक्ति पर ही निर्भर है। अत पृथ्वी की रक्षा के हेतु शूर-वीर एवं देशभक्त सैनिकों का संगठन करना राजा का परम कर्तव्य है। सेना को वेतन आदि से सन्तुष्ट रखने और उसे अस्त्र-शस्त्रादि से सुसज्जित करने के लिए कोश की आवश्यकता होती है। सेना ही नही, अपितु समग्र शासन-यन्त्र का संचालन पूर्णतया कोश पर ही निर्भर है। इस कारण देश की रक्षा और समृद्धि के लिए कोश की आवश्यकता होती है। अत. राजा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उत्तम कृषि-वार्ता तथा अन्य उचित उपायो द्वारा समृद्धिशाली कोश का निर्माण करे। आचार्य सोमदेव

ने कोश की परिभाषा इन शब्दो में की है—"जो सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात तथा अन्य बहुमूल्य रत्नों से परिपूर्ण हो और राज्य पर आने वाले किसी भी सकट का दीर्घकाल तक सामना करने मे समर्थ हो वह कोश है (२१, १)।" आगे आचार्य लिखते हैं कि कोश, दण्ड और बल (सेना) राजा की शक्ति है (२९, ३८)। अत पृथ्वी की रक्षार्थ इन की उचित व्यवस्था करना भी राजा का परम कर्तव्य है। राजा अकेला इन कार्यों का सम्पादन नही कर सकता। इसलिए वह अपनी सहायतार्थ अमात्यो एव अन्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति करता है। सुयोग्य मन्त्रियों एव कर्मचारियो की नियुक्ति करना भी राजा का एक कर्तव्य है। राज्य की सुरक्षा के लिए उस के चारों ओर सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण कराना भी राजा का कर्तव्य है। इन कार्यों के अतिरिक्त राजा द्वारा षाड्गुण्य के यथोचित प्रयोग से भी राज्य की रक्षा होती है। षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय और द्वैधीभाव) द्वारा वह शत्रुराज्यो का हनन तथा अन्य राज्यो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है, जिस से राज्य की सुरक्षा सुदृढ होती है। यह सम्पूर्ण कार्य ऐसे राजा द्वारा ही सम्पन्न हो सकते हैं जो स्वतन्त्र हो और अपने राज्य मे सप्रभु हो तथा जिस की आज्ञा का पालन उस राज्य में निवास करने वाले व्यक्ति पूर्णरूपेण करते हो। ऐसा राजा ही स्वतन्त्र राज्यो से मैत्री स्थापित करने मे सफल हो सकता है।

राज्य की द्वितीय परिभाषा मे आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि वर्णाश्रम, धान्य, सुवर्ण, पशु, ताँबा, लोहा आदि धातुओ से युक्त पृथ्वी को राज्य कहते है (५,.५)। आचार्य द्वारा दी गयी राज्य की यह परिभाषा भी बडी सारगर्भित है। इस मे राज्य के मूल तत्त्व जनता (जनसख्या) पर विशेष बल दिया गया है। राज्य के लिए जनसख्या का होना नितान्त आवश्यक है। पशु अथवा पक्षियो के समूह से किसी राज्य की स्थापना नही हो सकती। उस के लिए मनुष्यो के सुसगठित समुदाय का होना आवश्यक है। राज्य मे कितनी जनसख्या होनी चाहिए, इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। किन्तु यह बात निश्चित है कि राज्य की जनसख्या जितनी अधिक होगी और उस में जितने अधिक प्राकृतिक साधन होगे वह राज्य उतना ही शक्तिशाली होगा।

आचार्य सोमदेवसूरि ने राज्य की जनसख्या कितनी होनी चाहिए इस ओर कोई सकेत नही किया है। किन्तु उन्होने राज्य के लिए जनता का होना परम आवश्यक बतलाया है। उन्होने उस जनसमुदाय को वर्णाश्रम से युक्त होने की आवश्यकता पर बल दिया है। इस प्रकार सोमदेव ने कर्तव्यनिष्ठ समाज की ओर सकेत किया है।

इस के अतिरिक्त उन्होने राज्य के लिए प्राकृतिक साधनो का उपलब्ध होना भी आवश्यक बतलाया है। इन साधनों के अभाव में कोई भी राज्य स्थायी नही हो सकता। स्थायित्व का होना राज्य का प्रमुख लक्षण है, किन्तु धान्य-सुवर्ण एव अन्य

धातुओं के अभाव में लोगों का जीवन सुरक्षित नही रह सकता। इस के साथ ही राज्य का संचालन भी असम्भव ही होगा। कोश ही राज्य का प्राण है और उस के अभाव में कोई भी राज्य अपने कर्तव्यों का पालन नही कर सकता। प्राकृतिक साधनों तथा जनता पर लगाये गये कर से ही कोश संचित होता है।

इस प्रकार आचार्य सोमदेव द्वारा प्रस्तुत राज्य की द्वितीय परिभाषा भी बडी वैज्ञानिक एव उपयोगी है।

इस प्रकार आचार्य सोमदेवसूरि द्वारा वर्णित राज्य की परिभाषाओं में उन सब तत्त्वो का समावेश है जो प्राचीन परम्परा द्वारा सर्वमान्य हैं। भूमि, जनसंख्या, राजा, मनुष्यो द्वारा बसी हुई पृथ्वी (जनपद) तथा उस की रक्षा के लिए किये जाने वाले कार्य—अमात्य, कोश, बल (सेना), दुर्ग तथा मित्र आदि की व्यवस्था।

राज्य के तत्त्व

आधुनिक राज्यशास्त्रवेत्ताओ ने राज्य के चार मूल तत्त्व बतलाये हैं। गेटेल के अनुसार जनसख्या, भूभाग, सरकार अथवा शासन और सार्वभौमिकता राज्य के प्रमुख तत्त्व है।[1] राज्य का निर्माण तभी हो सकता है जब ये सभी तत्त्व विद्यमान हो। इन मे से किसी एक तत्त्व के अभाव मे राज्य का निर्माण नही हो सकता। गार्नर की परिभाषा में भी उपर्युक्त चार तत्त्व परिलक्षित होते हैं।[2] किन्तु प्राचीन राज्यशास्त्र प्रणेताओ ने एकमत मे राज्य की सात प्रकृतियाँ अथवा अग माने हैं। इन्ही तत्त्वो से मिल कर राज्य का स्वरूप निर्मित होता है। ये तत्त्व स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और सुहृद् हैं। आचार्य सोमदेव द्वारा प्रस्तुत राज्य की परिभाषा में इन समस्त तत्त्वो का पूर्ण समावश है। आधुनिक विचारको द्वारा प्रतिपादित राज्य के चारो तत्त्वों का भारतीय विचारको द्वारा वर्णित राज्य के अगो मे पूर्ण समावेश हो जाता है। वास्तव में भारतीय राज्यशास्त्रियो द्वारा दी गयी राज्य की परिभाषा अधिक स्पष्ट एव पूर्ण है। आधुनिक विद्वानो द्वारा वर्णित तत्त्वो में से जनसख्या तथा भूभाग का समावेश जनपद शब्द मे हो जाता है। जनपद शब्द न केवल भूभाग को प्रकट करता है वरन् उस पर निवास करने वाली जनसख्या को भी (१९,५)। अत एक निश्चित भूभाग पर बसी हुई जनसख्या को भी जनपद कहते हैं। स्वामी अथवा राजा के अन्तर्गत सार्वभौमिकता का समावेश है, क्योकि जिस भूभाग का वह स्वामी है वह उस मे सार्वभौम है। बाह्य अथवा आन्तरिक नियन्त्रण से वह परे हैं। गेटेल की परिभाषा के

---

१ R G Gettell—Political Science, P 20,
A state, therefore, may be defined as a community of persons, permanently occupying a definite territory, legally independent of external control, and possessing an organized Government which creates and administers law over all persons and groups within its jurisdiction

२ J W. Garner—Introduction to Political Science, P 41

अनुसार शासन अथवा सरकार राज्य का चौथा अग है, जिस का समावेश स्वामी एवं अमात्य में हो जाता है। सरकार से ऐसे सगठन का बोध होता है जिस में कुछ लोग शासन करते हैं और अन्य उन की आज्ञाओ का पालन करते हैं। यह विचार भारतीय परिभाषा में सुस्पष्ट है। राजा और अमात्य सरकार का निर्माण करते हैं और जनपद उन की आज्ञा का पालन करता है। राज्य की परिभाषा में शासन शब्द केवल शासक और शासित में भेद ही नही बतलाता अपितु उन साधनों की ओर भी सकेत करता है जिन के द्वारा शासक शासितो पर अपना आधिपत्य रखता है। शासन द्वारा शासक और शासितो में भेद बतलाना ही पर्याप्त नही है अपितु उन उपायों का भी उल्लेख करना आवश्यक है, जिन के द्वारा राज्य अपनी इच्छा को कार्यान्वित करता है। वे उपाय है—कोश, दुर्ग, और बल। यदि किसी कारण से जनता राजा की आज्ञा का उल्लघन करती है तो वह उक्त साधनो द्वारा अपनी आज्ञा को पूर्ण करा सकता है। अत. दुर्ग, सेना और कोश राजा की इच्छा को कार्यान्वित करने के साधन है और वे राज्य के आवश्यक अग हैं। भारतीय परिभाषा के अनुसार राज्य का अन्तिम अग मित्र अथवा सुहृद् है। भारतीय मनीषियो ने मित्र को राज्य का आवश्यक अग इसलिए माना है कि उपयुक्त मित्रों की सहायता पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर है। प्राचीन काल में प्रत्येक राज्य की सुरक्षा शक्तिसतुलन से ही सम्भव थी। शक्तिसतुलन से तात्पर्य यह है कि राज्य इस प्रकार अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे कि शक्तिशाली राज्य को उस पर आक्रमण करने का साहस ही न हो। अत राज्य की सुरक्षा के हित मे मित्र की अत्यन्त आवश्यकता थी। इसलिए आचार्यों ने उस को भी राज्य का एक आवश्यक अग माना है।

भारतीय विचारको और विशेषकर सोमदेवसूरि द्वारा राज्य की जो परिभाषा दी गयी है, उस से राज्य का स्वरूप भली-भाँति प्रकट हो जाता है। गेटेल तथा अन्य आधुनिक विद्वानो ने राज्य की जो परिभाषाएँ दी है वे अपूर्ण हैं, क्योकि उन्होने राज्य के जो चार तत्त्व बतलाये है, उन में जनसंख्या और भूभाग तो राज्य के तत्त्व कहे जा सकते हैं किन्तु सार्वभौमिकता और शासन को उस के तत्त्वो मे सम्मिलित नही किया जा सकता। क्योकि वे राज्य की विशेषताएँ है न कि तत्त्व। वे राज्य की परिभाषा के लिए भले ही उपयुक्त हो, परन्तु वे उस के स्वभाव एव गठन को यथोचित रूप से प्रकट नही करते। आचार्य सोमदेव द्वारा दी गयी राज्य की परिभाषा सुस्पष्ट एव पूर्ण है।

राज्य की उत्पत्ति

राजनीतिशास्त्र के पाश्चात्य विद्वानो ने राज्य की उत्पत्ति के चार प्रमुख सिद्धान्तो का उल्लेख किया है (१) दैवी सिद्धान्त, (२) शक्ति सिद्धान्त, (३) सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त तथा (४) ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त।

इन में से प्रथम तीन सिद्धान्तों को भ्रामक और मिथ्या माना जाता है तथा चौथा सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का वास्तविक सिद्धान्त कहा जाता है। भारतीय विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में विवेचन नहीं किया है, अपितु वे राजा की उत्पत्ति के विषय में ही वर्णन करते हैं। इस का कारण यह है कि राज्य की उत्पत्ति तभी होती है जब शासक और शासित दो वर्ग बन जाते हैं। अतः प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा की उत्पत्ति के विषय में वर्णन किया है।

प्राचीन काल में न कोई राजा था और न राज्य।[1] प्राकृतिक युग की धार्मिक स्थिति कालान्तर में अराजक दशा में परिणत हो गयी जिस का अन्त करने के लिए राजा की सृष्टि हुई।[2] भारतीय ग्रन्थो मे सामान्यत. राजा की उत्पत्ति के तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है। प्रथम दैवी सिद्धान्त, जिस के अनुसार राजा की सृष्टि ईश्वर द्वारा बतायी जाती है। महाभारत तथा अन्य स्मृति ग्रन्थों में यह सिद्धान्त पाया जाता है। द्वितीय, सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त है जिस का वर्णन बौद्ध ग्रन्थो[3] तथा अर्थशास्त्र[4] में मिलता है। जिस के अनुसार राजा की उत्पत्ति प्रजा के पारस्परिक समझौते के परिणाम स्वरूप बतलायी जाती है। तृतीय सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्त है जो यह मानता है कि राजा की उत्पत्ति युद्ध में नेता की आवश्यकता के परिणाम स्वरूप हुई।[5] इन सिद्धान्तो का वर्णन अगले अध्याय मे किया जायेगा।

राज्य के अंग

समस्त प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओ ने यह स्वीकार किया है कि राज्य सात तत्वो (अगो) से मिलकर बना है। इसी कारण प्राचीन राजनीति प्रधान ग्रन्थो में उसे सप्तागराज्य के नाम से सम्बोधित किया गया है। यद्यपि नीतिवाक्यामृत मे राज्य के इन सातो ही अगो का विशद विवेचन हुआ है किन्तु उस मे सप्ताग शब्द का उल्लेख कही नही मिलता। राज्य के सात अग—स्वामी, अमात्य, जनपद (राष्ट्र), दुर्ग (पुर), कोश, दण्ड (बल) तथा मित्र (सुहृद्) है। समस्त धर्मशास्त्रो एव अर्थशास्त्रो मे राज्य के इन्ही सात अगो का वर्णन मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व मे राज्य के सप्ताग स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—आत्मा, अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद तथा पुर सप्ताग राज्य के अग है।[6] इस मे राजा को राज्य की आत्मा माना गया है और इसी कारण राजा के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है। मनुस्मृति में भी सप्ताग राज्य का वर्णन मिलता है। उस के अनुसार स्वामी, अमात्य, पुर राष्ट्र,

---

१ महा० शान्ति० ५६ १४।
२ वही. ५६, ९०-११०।
३ दीघनिकाय, भा० ३, पृ० ८४-९६।
४ कौ० अर्थ० १, १३।
५ ऐ० ब्रा० १, १४।
६ महा० शान्ति० ५६, ६४-६५।

कोश, दण्ड तथा बल राज्य के सात अंग हैं।[1] आचार्य कौटिल्य तथा विष्णुधर्मसूत्र में राज्य के अंगों के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग किया गया है। कौटिल्य के अनुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र राज्य की प्रकृतियाँ हैं।[2] विष्णुधर्मसूत्र में जनपद के स्थान पर राष्ट्र शब्द आया है।[3] याज्ञवल्क्य में भी कौटिल्य के समान ही सात अग बताये गये हैं।[4] नारद स्मृति मे कहा गया है कि राज्य के सात अग होते हैं, किन्तु इन का पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं मिलता।[5] शुक्रनीतिसार में राज्यांगों का विशद विवेचन है। राज्य को सप्ताग राज्य के नाम से सम्बोधित करते हुए आचार्य शुक्र लिखते हैं कि स्वामी, अमात्य, दण्ड, कोश दुर्ग, राष्ट्र और बल राज्य के सात अग हैं।[6] वे राज्य के उपर्युक्त सात अगो की तुलना मानव शरीर के अवयवो से करते हैं। राजा राज्य रूपी शरीर का मस्तक है और मन्त्री नेत्र, मित्र कान, कोश मुख, बल मन, दुर्ग हाथ, पैर राष्ट्र है।[7] राष्ट्र की उपमा पैरो से इसलिए दी गयी है कि वह राज्य का मूलाधार है। उसी के सहारे राज्य रूपी शरीर स्थिर रहता है। बल को मन के समान बतलाया गया है। शरीर में इन्द्रियो का स्वामी मन है और वही उन्हें किसी कार्य में प्रवृत्त अथवा निवृत्त करता है। राज्य में यदि बल अथवा सेना न हो तो वह पूर्णतया अरक्षित रहता है और कोई भी कार्य नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे वह अपने अगों तक से अपनी आज्ञा का पालन नही करा सकता। इसी कारण बल को उपमा मन से दी गयी है। कोश की तुलना मुख से की है। जिस प्रकार मुख द्वारा किया गया भोजन शरीर के समस्त अगो को शक्ति प्रदान कर उन्हे पुष्ट बनाता है उसी प्रकार राजकोश मे धन सचित होने से सभी अगो की पुष्टि होती है। मन्त्री की उपमा नेत्रो से इसलिए दी गयी है कि राज्य का प्राय समस्त व्यवहार मन्त्रियो के परामर्श से ही चलता है। मनुष्य पर आक्रमण होने पर सब से पहले उस का हाथ ही प्रहार को रोकने के लिए आगे बढता है। उसी प्रकार राज्य पर जब आक्रमण होता है तो प्रथम प्रहार दुर्ग को ही सहन करना पडता है। इसी कारण दुर्ग की तुलना हाथो से की गयी है। कामन्दक भी राज्य के सात अग मानते हैं। उन के अनुसार स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और सुहृद् राज्य के सात अग है।[8]

१ मनु० ९, २९४।
स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येता सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥
२ कौ० अर्थ० ६, १।
स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतय।
३ विष्णु धर्मसूत्र ३, २३।
स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रकृतय।
४ याज्ञ० १, ३५३।
५ नारद० प्रकीणक ५।
६ शुक्र० १, ६१।
७ वही १, ६१-६२।
८ कामन्दक १, १६।

आचार्य सोमदेव ने भी इस परम्परागत राज्य के सप्तांग सिद्धान्त का नीतिवाक्यामृत में पूर्ण समर्थन किया है। प्रत्येक अंग के गुण-दोषों पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। विभिन्न समुद्देशों में आचार्य ने इन राज्यांगों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

इस प्रकार समस्त प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के सात अंगों का उल्लेख किया है। नाम अथवा वर्णन क्रम में भले ही कहीं अन्तर हो, किन्तु इस बात को सभी आचार्य स्वीकार करते हैं कि राज्य सात अंगों से निर्मित हुआ है। राज्यांगों के क्रम के विषय में मनु ने लिखा है कि राज्यांगो का क्रम उन के महत्त्व के अनुसार रखा गया है। इस का अभिप्राय यही है कि जिस अंग का सब से अधिक महत्त्व है उसे प्रथम स्थान पर प्रस्तुत किया गया है, उस से कम महत्त्व के अंग को द्वितीय स्थान पर और इसी प्रकार अन्य अंगों का क्रम है।[1] इसी प्रकार कौटिल्य ने भी राज्यांगों के क्रम एवं महत्त्व के सम्बन्ध में आचार्यों के विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आचार्यों का मत है कि स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, सेना और मित्र इन पर विपत्ति आने पर अग्रिम की अपेक्षा पूर्व की विपत्ति का आना अत्यन्त कष्टदायक है।[2] अर्थात् राजा और अमात्य इन दोनों पर आपत्ति आने पर राजा की आपत्ति अधिक भयावह है, इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के सम्बन्ध में भी है।[3] आचार्य सोमदेव ने भी कहा है कि राजा की रक्षा होने से समस्त राष्ट्र सुरक्षित रहता है।[4] आचार्य कौटिल्य तो यहाँ तक कहते हैं कि राजा ही राज्य है।[5] राजनीतिप्रकाशिका एवं मत्स्यपुराण में भी राज्य के सप्तांगों में राजा को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है।[6]

राज्यांगों के महत्त्व के विषय में मनु के विचार उल्लेखनीय हैं। उन के अनुसार विषम स्थिति मे कुछ अंगों (स्वामी, अमात्यादि) का महत्त्व अवश्य है, किन्तु साधारण स्थिति मे सभी अंग राज्य रूपी शरीर के लिए आवश्यक हैं और अपने-अपने स्थान पर सभी का महत्त्व है। एक अंग के अभाव की पूर्ति दूसरा नहीं कर सकता।[7] राज्य का अस्तित्व तभी स्थायी हो सकता है जब उस के समस्त अंग परस्पर मिलकर और समविचार से कार्य करें। कामन्दक का भी इस विषय में यही विचार है।[8] मनु

---

१ मनु० ६, २६५।
सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम्।
पूर्वं पूर्व गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत्॥
२ कौ० अर्थ० ८, १।
३ वही।
स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रव्यसनानां पूर्वं पूर्व गरीय इत्याचार्या।
४ नीतिवा० २४, १।
५ कौ० अर्थ० ८, २।
६ राजनीति प्रकाशिका, पृ० १२३।
७ मनु० ६, २६७।
८ कामन्दक ४, १।

के अनुसार राज्य के सातो अग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और वे राज्य को एक सजीव इकाई बनाते हैं। उन्होने सन्यासी के त्रिदण्ड का उदाहरण देकर यह बताया है कि जिस प्रकार त्रिदण्ड के तीनो दण्डो का महत्त्व एक समान होता है उसी प्रकार राज्य के सातों अंगो में कोई किसी से बडा नही है। उन में प्रत्येक का अपने स्थान पर महत्त्व है।[1] जिस प्रकार शरीर के अग अपना महत्त्व रखते हैं उसी प्रकार राज्य के सातो अंग अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। यदि एक अग भी विकारग्रस्त हो जाता है तो सम्पूर्ण राज्य रूपी शरीर का स्वास्थ्य असन्तोषजनक हो जाता है। अत राज्य को स्वस्थ, शक्तिशाली एव श्रेष्ठ स्थिति मे रखने के लिए उस के सभी अगो का स्वस्थ होना परम आवश्यक है। यह हो सकता है कि किसी अग के विकृत होने से समस्त राज्य रूपी शरीर पर उतना प्रभाव न पडे, परन्तु उस की कार्य-क्षमता अवश्य प्रभावित होगी। राज्य रूपी प्राणी के सुचारु रूप से सचालन के लिए यह आवश्यक है कि उस के सभी अग स्वस्थ हो। रुग्ण अगो से कोई भी प्राणी भली-भाँति अपने कार्यों का सम्पादन नही कर सकता। राज्य की भी ठीक ऐसी ही स्थिति है। उस के प्रत्येक अग के कार्य पृथक् अवश्य हैं, किन्तु वे सभी राज्य रूपी प्राणी के सुख-समृद्धि के लिए कार्य करते हैं। कामन्दक ने ठीक ही लिखा है कि राज्य के ये अग एक दूसरे के पूरक है। यदि राज्य रूपी शरीर का कोई भी अंग विकृत हो जाये तो राज्य का सचालन असम्भव हो जाता है।[2] अत राज्य रूपी शरीर के भली-भाँति सचालन के लिए विकृत अग का सुधार शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिए। राज्यागो की श्रेष्ठता पर ही राज्य की समृद्धि निर्भर है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन राजशास्त्र वेत्ताओ ने राज्य के सात अग बताये हैं और उन की तुलना मानव शरीर के अगो से की है। अत ये विचारक राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। पाश्चात्य देशो मे उन्नीसवी शताब्दी में राज्य के सावयव स्वरूप के जिस सिद्धान्त का विकास हुआ उस के दर्शन भारत में महाभारत काल मे ही होते हैं। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र वेत्ताओ ने राज्य का सप्ताग स्वरूप स्थिर किया है। अग शब्द तथा आचार्य शुक्र के राज्यागो के रूपक से राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धान्त की पुष्टि पूर्णरूप से हो जाती है। प्रो० भण्डारकर,[3] डॉ० के० पी० जायसवाल,[4] प्रो० बी० के० सरकार[5] आदि विद्वानो का विचार है कि प्राचीन राजनीतिज्ञो द्वारा राज्य का सात अगो मे विश्लेषण यह प्रकट करता है कि राज्य के सावयव स्वरूप का विचार अथवा राज्य का सावयव

---

१ मनु० ६, २९६।

२ कामन्दक, ४, २।

३ Bhandarkar—Some Aspects of Ancient Indian Polity, PP 66, 68

४ K P Jayaswal—Hindu Polity, Part II, P 9

५ B K Sarkar—Positive Back ground of Hindu Sociology, Part II, PP 34-39

सिद्धान्त भारतीय राजनीतिज्ञों को विदित था। सप्तांग राज्य का सिद्धान्त ब्लंश्ली तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गयी राज्य की परिभाषा की सन्तोषजनक पूर्ति करता है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है, कि भारतीय राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धान्त का विचार बहुत प्राचीन काल में ही विद्यमान था। और वे राज्य को सजीव प्राणी के अनुरूप ही मानते थे।

राज्य के कार्य

आचार्य सोमदेवसूरि ने राज्य के कार्यों का भी विवेचन नीतिवाक्यामृत में किया है। आधुनिक विद्वान् राज्य के कार्यों का विभाजन दो भागो में करते हैं— १ आवश्यक कार्य तथा २ ऐच्छिक कार्य। आवश्यक कार्यों के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जिन का करना प्रत्येक राज्य के लिए आवश्यक होता है। यदि राज्य उन कार्यों की पूर्ति नही करता तो उस का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। अन्य राज्यो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना, प्रजा की बाह्य आक्रमणो तथा आन्तरिक राष्ट्र कण्टको से रक्षा करना एव देश में पूर्ण शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना राज्य के आवश्यक कार्य है। इन कार्यों के करने के लिए उसे सुसगठित सेना की स्थापना, पुलिस की व्यवस्था, राज्य कर्मचारियो की नियुक्ति तथा न्यायालयो की व्यवस्था करनी पडती है। इन समस्त कार्यों की पूर्ति के लिए राजा प्रजा से कर ग्रहण करता है।

वैकल्पिक अथवा ऐच्छिक कार्यों में वे कार्य सम्मिलित हैं जिन का करना राज्य की इच्छा पर निर्भर है। इन कार्यों के अन्तर्गत शिक्षा की व्यवस्था, जनता के स्वास्थ्य की रक्षा, कृषि एव व्यापार की उन्नति करना, यातायात के साधनो को विकसित करना तथा आर्थिक सुरक्षा आदि हैं।

आचार्य सोमदेवसूरि ने राज्य के दोनो प्रकार के कार्यों का उल्लेख नीतिवाक्यामृत में किया है। उन के अनुसार शिष्ट पुरुषो की रक्षा तथा दुष्टों का निग्रह राज्य का प्रमुख कर्तव्य है (५, २)। बाह्य आक्रमणो से प्रजा को रक्षा करना भी राज्य का कार्य हैं। आचार्य लिखते हैं कि जो राजा शत्रुओं में पराक्रम नहीं करता वह निन्द्य है (६, ३९)। न्याय की उचित व्यवस्था करना तथा अपराध के अनुकूल अपराधियो को दण्ड देना भी राज्य का कार्य है। आचार्य सोमदेव के अनुसार दण्ड के अभाव में मात्स्यन्याय का सृजन हो जाता है (९, ७)। उन का कथन है कि दुष्टो को दण्ड देने से महान् धर्म की प्राप्ति होती है। क्योकि दण्ड के भय से प्रजा अपनी-अपनी मर्यादाओ का पालन करती है (५, ५९)। एक स्थान पर आचार्य सोमदेव लिखते है कि राजा का पृथ्वी की रक्षा के योग्य कर्म राज्य है (५, ४)। इस का अभिप्राय यही है कि राज्य सुरक्षा तथा शान्ति की स्थापना के लिए उचित प्रबन्ध करे, अर्थात् वह सुयोग्य राजकर्मचारियो की नियुक्ति, सुसंगठित सेना की स्थापना एव कोष की व्यवस्था करे। इन्ही साधनो से राजा पृथ्वी का पालन कर सकता है।

इन आवश्यक कार्यों के साथ ही सोमदेवसूरि ऐच्छिक कार्यों को भी अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि उन के अभाव में प्रजा का सर्वतोमुखी विकास असम्भव है। राज्य की नीति लोककल्याण पर आधारित होनी चाहिए। इस बात में आचार्य को आस्था है। इसी कारण वे राज्य को ऐसे कार्य करने का आदेश देते हैं जो प्रजा के कल्याण में सहायक हों। वार्ता—कृषि, व्यापार आदि की उन्नति करना वे राज्य का कर्तव्य बतलाते हैं (८, २)। आचार्य की दृष्टि में राज्य का कार्य केवल अपनी प्रजा की भौतिक उन्नति करना ही नही है, अपितु उस का आध्यात्मिक विकास भी है। आचार्य प्रथम समुद्देश में सर्वप्रथम धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्राप्ति कराने वाले राज्य को नमस्कार करते है। इस का अभिप्राय यही है कि प्रजा को धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्राप्ति कराना राज्य का ही कार्य है।

इस समस्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य का कार्य केवल रक्षात्मक ही नही है, अपितु उन सभी कार्यों का सम्पादन करना है जिस से प्रजा का सब पकार से कल्याण हो। आधुनिक विद्वानो ने लोक कल्याणकारी राज्यों का जो वर्णन किया है उस का दिग्दर्शन हम को सोमदेवसूरि द्वारा प्रतिपादित राज्य-व्यवस्था में पूर्ण रूप से होता है। आचार्य सोमदेवसूरि ने जिस प्रकार के राज्य का वर्णन किया है वह लोक कल्याणकारी राज्यो की श्रेणी में प्रथम स्थान पर रखा जा सकता है।

राज्य का उद्देश्य

आचार्य सोमदेवसूरि अपने ग्रन्थ को प्रारम्भ करने से पूर्व ऐसे राज्य को नमस्कार करते है, जो प्रजा को धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को प्रदान करने में समर्थ है। इस से स्पष्ट है कि अन्य आचार्यों की भाँति सोमदेव भी इस बात का समर्थन करते है कि राज्य का उद्देश्य प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति कराके मोक्ष के लिए तैयार करना है। भारतीय दर्शन की भाँति राजधर्म का भी अन्तिम ध्येय मोक्ष प्राप्ति ही था। परन्तु मोक्ष की प्राप्ति तो व्यक्तिगत साधना तथा तपस्या पर निर्भर करती है और इस की प्राप्ति कोई बिरला ही व्यक्ति कर सकता है। प्राचीन राजनीतिज्ञो ने राज्य का यह कर्तव्य निर्धारित किया था कि वह ऐसे वातावरण को उत्पन्न करे जिस से समस्त प्राणी सुख और शान्ति से रह सकें, अपने निर्धारित व्यवसाय को करने में समर्थ हो सकें, बिना किसी के हस्तक्षेप किये अपने श्रम द्वारा प्राप्त फल को भोग सकें और अपनी सम्पत्ति का उपभोग कर सकें तथा स्वधर्म का पालन कर सके। यह प्रयोजन प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति से ही सम्भव था। अत समस्त प्राचीन विचारको ने राज्य का उद्देश्य प्रजा को चारो पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति बताया है। बार्हस्पत्य सूत्र में लिखा है कि राजधर्म का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति है।[1]

---

१ बार्हस्पत्य सूत्र—२, ४३-४४।
नीते फलं धर्मार्थकामावाप्ति। धर्मेणार्थकामौ परीक्ष्यौ।

कामन्दक सप्तांग राज्य का विवेचन करने के उपरान्त लिखते हैं कि राज्य का स्थायित्व कोश तथा बल पर आधारित है और जब राज्य का संचालन बुद्धिमान् मन्त्रियों के परामर्श से किया जाता है तो उस का फल तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होता है।[1] इसलिए राज्य का तात्कालिक उद्देश्य प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति कराना ही है।

आचार्य सोमदेवसूरि ने अपने ग्रन्थ में इन पुरुषार्थों की व्याख्या भी की है। उन के अनुसार धर्म वह है जिस से इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो (१,१)। अर्थ समुद्देश में आचार्य ने अर्थ की व्याख्या की है। जिस से मनुष्यो के सभी प्रयोजन, लौकिक तथा पारलौकिक, की सिद्धि होती है वह अर्थ है (२,१)। अत राज्य का यह कर्तव्य है कि वह ऐसा वातावरण उत्पन्न करे जिस से व्यक्ति व्यापार, कृषि तथा अन्य उद्योग-धन्धो में सलग्न होकर धनार्जन कर सके। धन से ही प्रजा को लौकिक सुख की प्राप्ति होती है और पारलौकिक सुख का भी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। धर्म और काम पुरुषार्थ का मूल कारण अर्थ है। अर्थात् बिना अर्थ के धर्म और काम पुरुषार्थों की प्राप्ति नही हो सकती। अत उत्तम साधनो द्वारा धनार्जन मनुष्य के लिए परम आवश्यक है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा को धनार्जन करने की पूर्ण सुविधा प्रदान करे। आचार्य सोमदेव का मत है कि सम्पत्ति शास्त्र के सिद्धान्तो के अनुसार व्यापार आदि साधनो से मनुष्यों को अविद्यमान धन का सचय करना, सचित धन की रक्षा करना और रक्षित धन की वृद्धि करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए (२,३)।

अर्थ अथवा धन भौतिक सुख प्राप्ति मे महत्त्वपूर्ण साधन होने के कारण प्रथम स्थान रखता है। इस बात की पुष्टि मे टीकाकार ने हारीत का मत उद्धृत किया है। जिस के पास कार्य की उत्तम सिद्धि करने वाला धन विद्यमान है उसे इस लोक में कोई भी वस्तु अप्राप्त नही है। उसे सभी इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए मनुष्य को साम, दाम, दण्ड और भेद आदि उपायो से धन अर्जन करना चाहिए।[2] आचार्य कौटिल्य ने भी धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों में अर्थ को ही प्रधानता दी है और इसे सब का मूल बताया है।[3] आचार्य सोमदेव यह निर्देश देते हैं कि प्राप्त धन को दान, धर्म, परोपकार आदि श्रेष्ठ कार्यों में व्यय करते रहना चाहिए, जिस से लौकिक सुख के साथ-साथ पारलौकिक सुख की भी प्राप्ति हो सके (३, २)।

तृतीय पुरुषार्थ काम की प्राप्ति कराना भी राज्य का उद्देश्य है। राज्य को

---

१ कामन्दक ५, ७७।

२ हारीत, नीतिवा० पृ० २८।
असाध्य नास्ति लोकेऽत्र यस्यार्थसाधन परम्।
सामादिभिरुपायैश्च तस्मादर्थमुपार्जयेत॥

३ कौ० अर्थ० १, ७।

शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर के ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिस से व्यक्ति निर्बाध रूप से अपनी इच्छानुसार जीवन-यापन कर सकें और अपने सुख एवं सुविधा के लिए ललित कलाओं की सृष्टि कर के अपने जीवन को सौन्दर्यमय बना सकें। इस प्रकार राज्य का उद्देश्य न केवल समाज की नैतिक एवं भौतिक उन्नति करना है, अपितु उस के जीवन को सौन्दर्यात्मिक तथा सुरुचिपूर्ण बनाना भी है। इस दृष्टि से नृत्यकला, वाद्य, चित्रकला, शिल्पकला आदि के विकास को प्रोत्साहित कर के उन का समाज के जीवन के पूर्ण विकास में सहायक होना भी राज्य का कर्तव्य हो जाता है। काम की परिभाषा देते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि जिस से समस्त इन्द्रियों में बाधा रहित प्रीति उत्पन्न हो वह काम है (३, ९)। इस में सन्देह नही कि उक्त ललित कलाएँ मनुष्य के सुख का साधन हैं और उस के माध्यम से नि.सन्देह समस्त इन्द्रियों में प्रीति उत्पन्न होती है। परन्तु आचार्य सोमदेव का मत है कि मनुष्य को सयमी और इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखने वाला होना चाहिए। अन्यथा वह एक ही पुरुषार्थ की प्राप्ति में रत हो जायेगा, विशेषकर काम पुरुषार्थ ऐसा है जिस की ओर मनुष्य का आकर्षण स्वाभाविक रूप से अधिक होता है। अत उन्होंने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए नीतिशास्त्र का अध्ययन आवश्यक बतलाया है (३, ९)। टीकाकार ने सोमदेव के इस कथन की पुष्टि में आचार्य वर्ग का मत प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार लगाम के खीचने आदि की क्रिया से घोडे वश में कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार नीतिशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य की चचल इन्द्रियाँ वश मे हो जाती हैं।[१] सोमदेव का कथन है कि जिस की इन्द्रियाँ वश मे नही है उसे किसी भी कार्य में सफलता नही मिल सकती (३, ७)। राजा के लिए भी उन का निर्देश है कि जो व्यक्ति (राजा) काम के वशीभूत है, वह राज्यागो (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और मित्र) आदि से युक्त शक्तिशाली शत्रुओं पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकता है (३, १०)। इस सम्बन्ध मे नीतिकार भागुरि का मत उल्लेखनीय है, काम के वशीभूत राजाओं के अग (स्वामी और अमात्यादि) निर्बल या विरोध करने वाले होते है, इसलिए उन्हे और उन की दुर्बल सेनाओं को बलिष्ठ अगो वाले राजा मार डालते हैं। विजय-लक्ष्मी के इच्छुक पुरुष को कदापि काम के वशीभूत नही होना चाहिए। आचार्य सोमदेव का कथन है कि नैतिक व्यक्ति को चाहिए कि वह धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थों का सम रूप से सेवन करे। एक का भी अति सेवन करने से व्यक्ति पतन के गर्त मे चला जायेगा (३, ३-४)।

●

---

१ वर्ग–नीतिवा०, पृ० ३६।
नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि।
वशगानि शनैर्यान्ति कशाघातैर्हया यथा॥

२ भागुरि–नीतिवा०, पृ० ३६।

राजा

समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए, उत्पीडन की इतिश्री के लिए, वर्णसकरता को रोकने के लिए तथा लोकमर्यादा की रक्षा के लिए राजा की परम आवश्यकता है। सभी राजशास्त्र वेत्ताओं ने राजा की आवश्यकता एव महत्त्व को स्वीकार किया है और इसी कारण देवाशो से उस की सृष्टि का विधान निश्चित किया है। राजा शब्द के अर्थ से उस की आवश्यकता प्रतिबिम्बित होती है। राजा शब्द का अर्थ प्रजा का रंजन करने वाला, धर्म की मूर्ति तथा दीप्तिमान् है और यही उस का सर्व प्रधान लक्षण एव कर्तव्य है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा राजा शब्द की व्याख्या करने का आग्रह किये जाने पर भीष्म उन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि समस्त प्रजा को प्रसन्न करने के कारण उसे राजा कहते हैं।[1]

महाकवि कालिदास ने रघुवश मे रघु का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सभी का आवाहन कर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सब को तपाकर सूर्य ने अपना नाम सार्थक किया, उसी प्रकार रघु ने भी प्रजा का रजन कर के अपना राजा नाम सार्थक कर दिया।[2] अत प्रजा का रजन करने के कारण ही उसे राजा कहा जाता है।

राजा के कारण हो प्रजा समाज में शान्तिपूर्वक निर्बाधरूप से निवास करती है तथा धर्म, अर्थ एव काम रूप त्रिवर्ग के फल की प्राप्ति करती है। आचार्य सोमदेव ने भी राजा के महत्त्व को उस के महान् कर्तव्यों के वर्णन द्वारा व्यक्त किया है। वह अपने ग्रन्थ के आरम्भ मे ही धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग फल के दाता, राज्य को नमस्कार करते हैं (पृ० ७)। इस का अभिप्राय यही है कि समस्त सुखो की प्राप्ति राज्य के द्वारा ही प्रजा को होती है। सोमदेव ने दुष्टों का निग्रह करना तथा सज्जन पुरुषो का पालन करना राजा का परम धर्म बतलाया है (५, २)।

राजा की आवश्यकता एव महत्त्व का वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व में प्राप्त होता है। कौशल नरेश वसुमना द्वारा प्रश्न किये जाने पर कि राज्य में रहने वाले प्राणियो की वृद्धि कैसे होती है, उन का ह्रास कैसे होता है, किस देवता की पूजा करने वाले व्यक्तियो को अक्षय सुख की प्राप्ति होती है? आचार्य बृहस्पति कौशल नरेश के

---

१ महा० शान्ति० ५९, १२५।

२ रघुवश ४, १२।

प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि लोक में जो धर्म देखा जाता है, उस का मूल कारण राजा ही है। राजा के भय से ही प्रजा एक-दूसरे का भक्षण नही करती। राजा ही मर्यादा का उल्लघन करने वाले तथा अनुचित भोगों मे आसक्त रहने वाले सम्पूर्ण जगत् के लोगों को धर्मानुकूल शासन द्वारा प्रसन्न रखता है और स्वय भी प्रसन्नतापूर्वक रह कर अपने तेज से प्रकाशित होता है। जैसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अन्धकार में डूब जाते हैं और एक-दूसरे को देख नही पाते हैं, जैसे अल्प जल वाले सरोवर में मत्स्यगण तथा रक्षक रहित उपवन मे पक्षियो के झुण्ड परस्पर एक-दूसरे पर निरन्तर आघात करते हुए स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहार से दूसरो को कुचलते और मन्थन करते हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी दूसरों की चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं। इस प्रकार आपस में लडते हुए वे थोडे ही दिनों में नष्ट-भ्रष्ट हो जाते है, इस में सन्देह नही है। इसी प्रकार राजा के अभाव मे ये सारी प्रजाएँ आपस में लड-झगडकर बात की बात में नष्ट हो जायेंगी और बिना चरवाहे के पशुओ की भाँति दु ख के घोर अन्धकार में डूब जायेंगी।

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो शक्तिशाली पुरुष दुर्बल मनुष्यो की स्त्रियो तथा पुत्रियो का अपहरण कर ले और अपने घर की रक्षा में प्रयत्नशील मनुष्यो का अन्त कर दे। यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत् मे स्त्री, पुत्र, धन अथवा परिवार कोई भी ऐसा सग्रह सम्भव नही हो सकता जिस के लिए कोई कह सके कि यह मेरा है, सब ओर सब की सम्पूर्ण सम्पत्ति का लोप हो जाये। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण कर के वाहन, वस्त्र, आभूषण और विविध प्रकार के रत्न लूट ले जाये। यदि राजा रक्षा न करे तो धर्मात्मा पुरुषो पर बारम्बार नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो की मार पडे और विवश होकर लोगो को अधर्म का मार्ग ग्रहण करना पडे। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो दुराचारी मनुष्य माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु को क्लेश पहुँचावे अथवा मार डालें। यदि राजा रक्षा न करे तो धनवानो को प्रतिदिन बध या बन्धन का क्लेश उठाना पडे और किसी भी वस्तु को वे अपना न कह सके। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो अकाल मे ही लोगो की मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत् डाकुओ के अधीन हो जाये, और पाप के कारण घोर नरक मे गिर जाये। यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घृणा न हो, कृषि नष्ट हो जाये, धर्म डूब जाये, व्यापार चौपट हो जाये और तीनो वेदो का कही पता न चले।

यदि राजा जगत् की रक्षा न करे तो विधिवत् पर्याप्त दक्षिणाओ से युक्त यज्ञो का अनुष्ठान बन्द हो जाये, विवाह न हों और सामाजिक कार्य रुक जाये। यदि राजा पशुओ का पालन न करे तो दूध दही से भरे हुए घडे कभी मथे न जायें और गौशालाएँ नष्ट हो जायें। यदि राजा रक्षा न करे तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्नचित्त हाहाकार-परायण तथा अचेत हो क्षणभर मे नष्ट हो जाये। यदि राजा पालन न करे तो उन में

विधिपूर्वक दक्षिणाओं से युक्त वार्षिक यज्ञ निर्विघ्न रूप से न हो सकें। यदि राजा पालन न करे तो विद्या पढ़कर स्नातक हुए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाले और तपस्वी तथा ब्राह्मण लोग चारों वेदो का अध्ययन छोड़ दें। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो मनुष्य हताहत होकर धर्म का सम्पर्क छोड़ दें और चोर घर का माल लेकर अपने शरीर और इन्द्रियो पर चोट आये बिना ही सकुशल लौट जाये। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो चोर और लुटेरे हस्तगत वस्तु को भी छीन लें, सारी मर्यादाएँ भग हो जायें और सब लोग भय से पीडित हो चारों ओर भागते फिरें। यदि राजा पालन न करे तो सर्वत्र अन्याय एव अत्याचार फैल जाये, वर्णसकर सन्तान उत्पन्न होने लगें और समस्त देश में दुर्भिक्ष फैल जाये।

राजा से रक्षित हुए प्राणी सब ओर से निर्भय हो जाते है और अपनी इच्छानुसार घर के द्वार खोलकर सोते हैं। यदि धर्मात्मा राजा भली-भाँति पृथ्वी की रक्षा न करे तो कोई भी मनुष्य अपशब्द अथवा हाथ से पीटे जाने का अपमान कैसे सहन करे। यदि पृथ्वी का पालन करने वाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता है तो समस्त आभूषणो से विभूषित हुई सुन्दरी स्त्रियाँ किसी पुरुष को साथ लिये बिना ही निर्भय होकर मार्ग से आती जाती हैं। जब राजा रक्षा करता है तो सब लोग धर्म का ही पालन करते हैं, कोई किसी की हिंसा नही करता और सभी एक-दूसरे पर अनुग्रह करते है। जब राजा रक्षा करता है तब तीनो वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लोग बडे-बडे यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और मनोयोग पूर्वक विद्याध्ययन में रत रहते हैं। खेती आदि समुचित जीविका की व्यवस्था ही इस जगत् के जीवन का मूल है तथा वृष्टि आदि के हेतुभूत त्रयी विद्या से ही सर्वदा जगत् का पालन होता है। जब राजा प्रजा की रक्षा करता है तभी सब कुछ ठीक प्रकार से चलता है। जब राजा विशाल सैनिक शक्ति के सहयोग से भारी भार वहन कर के प्रजा की रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है तब यह सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न हो जाता है। जिस के न रहने पर सब ओर से समस्त प्राणियो का अभाव होने लगता है और जिस के रहने पर सर्वदा सब का अस्तित्व बना रहता है, उस राजा का पूजन कौन नही करेगा? जो उस राजा के प्रिय हित-साधन में सलग्न रहकर उस के सर्व लोक भयकर शासन भार को वहन करता है वह इस लोक और परलोक मे विजय पाता है।[१]

वसुमना और बृहस्पति के उपर्युक्त सवाद से राजा की आवश्यकता एव उस का महत्त्व भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। राजा के अभाव मे कौन-कौन सी हानियाँ होती हैं तथा उस के होने से प्रजा को क्या-क्या लाभ होता है इन समस्त बातो पर प्रकाश डालने वाला यह सवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

राजा की आवश्यकता के विषय में अन्य ग्रन्थो में भी उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है—"देवताओ ने राक्षसो द्वारा

---

१ महा० शान्ति० ६८, ८-३८।

अपनी निरन्तर पराजय के कारणों पर विचार किया, तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन की पराजय इसलिए होती है कि उन का कोई राजा नही है। अत: उन्होंने सर्व-सम्मति से राजा का निर्वाचन किया।"[१] इस से प्रकट होता है कि युद्ध की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप राज्यसत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। मनु और शुक्र ने भी राजा की आवश्यकता के विषय में लिखा है। यह वर्णन इस प्रकार है "जब विश्व मे कोई राजा नहीं था और उस के अभाव में समस्त जनता भय से त्रसित होकर नष्ट-भ्रष्ट होने लगी, तो ब्रह्मा ने ससार की रक्षा के लिए राजा का सृजन किया।"[२] कौटिल्य ने भी इसी प्रकार लिखा है कि "जब दण्डधर के अभाव में मात्स्यन्याय की उत्पत्ति हो गयी और बलवान् दुर्बलों को नष्ट करने लगे तो प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया।[३] कामन्दक ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये है।[४] इस प्रकार समस्त राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा का होना परम आवश्यक बतलाया है तथा उस के न होने से विश्व की महान् क्षति होने की बात कही है।

आचार्य सोमदेव भी राजा के महत्त्व का अनुभव करते है और राजा को ही समस्त प्रकृति वर्ग की उन्नति का आधार मानते हैं। राजा के कारण ही प्रकृतिवर्ग के समस्त प्रयोजन सिद्ध होते है। स्वामी के अभाव में उन को अभिलषित फल की प्राप्ति नही हो सकती (१७, ३)। स्वामी रहित प्रकृतिवर्ग समृद्ध भी तर नही सकते (१७, ४)। आचार्य सोमदेव ने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा राजा के अभाव मे होने-वाली हानि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिन वृक्षों की जड़ें उखड चुकी है उन से पुष्प-फलादि की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न सफल नही हो सकता (१७, ५)। ठीक उसी प्रकार राजा के नष्ट हो जाने पर प्रकृति वर्ग द्वारा अपने अधिकार प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न भी निष्फल होते हैं।

राजा की उत्पत्ति

राजा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जो निम्नलिखित हैं।

१ **वैदिक सिद्धान्त**—राजा की उत्पत्ति का सब से प्राचीन और सर्व प्रथम सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्त है। इस के अनुसार राजा की उत्पत्ति युद्ध मे नेता की आवश्यकता के परिणामस्वरूप हुई। इस सिद्धान्त का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण मे मिलता है।[५] देवताओं और असुरों के मध्य होने वाले युद्धों मे जब निरन्तर देवताओं (आर्यों) की पराजय होती रही तो देवों ने अपनी पराजय के कारणों पर विचार किया। विचार

१ ऐ० ब्रा० १, १४।
२ मनु० ७, ३, शुक्र० १, ७१।
३ कौ० अर्थ० १, १३।
४ कामन्दक २, ४०।
५ ऐ० ब्रा० १, १४।

करने के उपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि असुर इसलिए विजयी हो रहे हैं कि उन के पास नेतृत्व करने के लिए एक राजा है। अत उन्होंने भी सर्व-सम्मति से राजा को नियुक्त करने का निश्चय किया। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णन से स्पष्ट है कि देवो के पास पहले कोई राजा नही था। उन के शत्रु अनार्यों के पास राजा था जो युद्ध में उन का नेतृत्व करता था। अत. आर्यों ने भी अपने में से एक व्यक्ति को राजा निर्वाचित करने का सकल्प किया जो युद्ध में उन का नेतृत्व कर सके। इस से यह भी परिलक्षित होता है कि आर्यों ने अपने प्रथम राजा का निर्वाचन किया था।

२. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त—राजा की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की सहमति अथवा अनुबन्ध से राजा की उत्पत्ति हुई। यह सिद्धान्त हमें महाभारत बौद्ध-ग्रन्थो तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है।

दीघनिकाय में विश्व की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसलिए उस मे राजा की उत्पत्ति का भी वर्णन मिलता है। उस में कहा गया है कि "पूर्वकाल मे स्वर्ण-युग था। उस में दिव्य और प्रकाशवान् शरीर वाले मनुष्य धर्म से आनन्द पूर्वक रहते थे। वे पूर्णतया विशुद्ध एव निर्दोष थे। परन्तु यह आदर्श दशा बहुत समय तक न रह सकी। क्रमश. उस अवस्था का अध पतन हुआ। इस के परिणाम स्वरूप अव्यवस्था तथा अराजकता का प्रसार हुआ। इस अराजकता से मुक्ति पाने के लिए लोग एकत्रित हुए और उन्होने एक ऐसे योग्य धार्मिक व्यक्ति को निर्वाचित किया जो समाज मे व्याप्त अशान्ति और अव्यवस्था को दूर कर सके तथा दुष्ट व्यक्तियों को दण्ड दे सके। इस दिव्य पुरुष का नाम महाजनसम्मत था। यही सब का स्वामी, क्षत्रिय तथा धर्मानुसार प्रजा का रजन करने वाला राजा कहलाया। इस की सेवाओ के उपलक्ष में मनुष्यो ने उसे अपने धन का एक अश देना स्वीकार किया। इस प्रकार समाज के व्यक्तियो द्वारा किये गये अनुबन्ध के परिणाम स्वरूप राजा की उत्पत्ति हुई। धन के अश के बदले में जनता द्वारा निर्वाचित राजा ने प्रजा की रक्षा करने तथा अव्यवस्था को दूर करने का उत्तरदायित्व वहन किया[१]।"

महाभारत में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का उल्लेख शान्तिपर्व के ६७वें अध्याय मे प्राप्त होता है। उस मे लिखा है कि "राजा की उत्पत्ति से पहले समाज में मात्स्यन्याय था। जिस प्रकार जल में बडी मछलियाँ छोटी मछलियो का भक्षण कर जाती हैं उसी प्रकार समाज मे बलवान् निर्बलो को नष्ट कर देते हैं। लोग एक-दूसरे के प्राणो के ग्राहक थे। जिस की लाठी उस की भैंस वाला सिद्धान्त प्रचलित था। उस समय मनुष्य का जीवन नारकीय, अल्प तथा यातनामय था। इस असमय अवस्था से छुटकारा पाने के लिए वे ब्रह्मा के पास गये और उन से प्रार्थना की कि वह किसी व्यक्ति

---

१ दीघनिकाय-भाग ३, पृ० ८४-९६।

को उन का राजा नियुक्त करें। क्योंकि राजा के अभाव में वे विनाश को प्राप्त हो रहे हैं। उन्होने कहा हम लोग उस की पूजा करेंगे और वह पालन करेगा। मनुष्यों की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने मनु को उन के समक्ष प्रस्तुत किया, परन्तु मनु इस प्रस्ताव से सहमत नही हुए। उन्होंने कहा कि राजा बनने पर बहुत से पाप कर्म करने पडते हैं राजा को लोगो को दण्ड देना पडता है। शासन करना बडा कठिन कार्य है, विशेषकर उस राज्य में जहाँ मनुष्य मिथ्याचार तथा छल-कपट में सलग्न हो। परन्तु इस पर मनुष्यो ने मनु से कहा कि आप भयभीत न हो, जो पाप करेगा वह उसी का पाप होगा। हम लोग पशु और स्वर्ण का पचासवाँ भाग तथा धान्य का दसवाँ भाग राजकोश की वृद्धि के लिए देंगे। आप से सुरक्षित होकर प्रजा जिस धर्म का आचरण करेगी उस धर्म का चतुर्थांश आप को मिलेगा। इस प्रकार हे राजन्! उस महान् धर्म से शक्तिशाली होकर हमारी आप उसी प्रकार रक्षा करे जिस प्रकार इन्द्र देवताओ की रक्षा करते हैं। इस प्रकार की प्रार्थना किये जाने पर मनु ने राजपद स्वीकार कर लिया।[1]"

इस सिद्धान्त मे राज्य की स्थापना से पूर्व प्राकृतिक अवस्था का सिद्धान्त हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक दशा से मिलता है। मात्स्यन्याय से तग आकर लोग ब्रह्मा के पास जाते है तथा शान्ति एव व्यवस्था स्थापित करने की प्रार्थना उन से करते है। परन्तु ब्रह्मा के कहने से मनु राजपद स्वीकार करने से मना कर देते हैं। प्रजा वर्ग के लोग उन से वार्तालाप कर के उन के सन्देह को दूर करते है और उन के द्वारा सरक्षण एव सुव्यवस्था स्थापित करने के उपलक्ष्य मे उन को स्वर्ण का पचासवाँ भाग तथा धान्य का दसवाँ भाग देने के लिए प्रस्तुत हो जाते है। जब मनुष्यो और मनु के मध्य इस प्रकार का अनुबन्ध हो जाता है तो वह राजपद स्वीकार करते हैं। राजा मनु का आविर्भाव इस सामाजिक अनुबन्ध के परिणाम स्वरूप होता है।

सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का द्वितीय स्वरूप—महाभारत के शान्तिपर्व में राज्यसस्था के प्रादुर्भाव पर बडे विस्तार के साथ विचार किया गया है। युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते है कि लोक मे जो यह राजा शब्द प्रचलित है, इस की उत्पत्ति कैसे हुई? जिसे हम राजा कहते हैं वह सभी गुणो में दूसरो के समान ही है। उस के हाथ, भुजा और ग्रीवा भी औरो के समान ही है। बुद्धि और इन्द्रियाँ भी दूसरे लोगो के ही समान है, उस के मन में भी दूसरे मनुष्यो के समान ही सुख-दुख का अनुभव होता है। अकेला होने पर भी वह शूरवीर एव सत्पुरुषो से परिपूर्ण इस समस्त पृथ्वी का कैसे पालन करता है और कैसे सम्पूर्ण जगत् की प्रसन्नता चाहता है। यह निश्चित रूप से देखा जाता है कि एकमात्र राजा को प्रसन्नता मे ही सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न होता है और उस एक के ही व्याकुल होने पर सब लोग व्याकुल हो जाते हैं।

१ महा० शान्ति० ६७, १७-२८।

भरतश्रेष्ठ इस का क्या कारण है, यह मैं यथार्थ रूप से सुनना चाहता हूँ। वक्ताओं में श्रेष्ठ पितामह यह सारा रहस्य मुझे यथावत् रूप से बताइए। प्रजानाथ, यह सारा जगत् जो एक ही व्यक्ति को देवता के समान मानकर उस के सामने नतमस्तक हो जाता है, इस का कोई स्वल्प कारण नही हो सकता। युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म कहते हैं कि पुरुषसिंह आदि सत्ययुग मे जिस प्रकार राजा और राज्य की उत्पत्ति हुई वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो।[1]

"पहले न कोई राजा था न राज्य, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला, समस्त प्रजा धर्म के द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा करती थी।[2] सब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ समय के उपरान्त सब लोग पारस्परिक सरक्षण के कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे, फिर उन सब पर मोह छा गया। जब सारे मनुष्य मोह के वशीभूत हो गये तब कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से शून्य होने के कारण उन के धर्म का विनाश हो गया। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मोह के वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभ के अधीन हो गये। फिर जो वस्तु उन्हे प्राप्त नही थी, उसे प्राप्त करने का वे प्रयत्न करने लगे। इतने मे ही उन्हे काम नामक अन्य दोष ने घेर लिया। काम के अधीन हुए उन मनुष्यो पर राग नामक शत्रु ने आक्रमण किया। राग के वशीभूत होकर वे कर्तव्याकर्तव्य की बात भी भूल गये। उन्होने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा दोष-अदोष कुछ भी नही छोडा।

इस प्रकार मनुष्यलोक मे धर्म का विनाश हो जाने पर वेदो के स्वाध्याय का भी लोप हो गया। वैदिकज्ञान का लोप होने से यज्ञ आदि कर्मों का भी विनाश हो गया। इस प्रकार जब वेद और धर्म का विनाश होने लगा तब देवताओ के मन मे भय उत्पन्न हुआ। वे भयभीत होकर ब्रह्माजी की शरण में गये। लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा को प्रसन्न कर के दु ख के वेग से पीडित हुए सम्पूण देवता उन से हाथ जोडकर बोले। भगवन्! मनुष्यलोक मे लोभ, मोह आदि दूषित भावो ने सनातन वैदिकज्ञान को विलुप्त कर डाला है, इस कारण हमे बडा भय हो रहा है। ईश्वर तीनो लोको के स्वामी परमेश्वर वैदिक ज्ञान का लोप होने से यज्ञ-धर्म नष्ट हो गया है। इस से हम सब देवता मनुष्यो के समान हो गये हैं। मनुष्य यज्ञ आदि मे घी की आहुति देकर हमारे लिए ऊपर की ओर वर्षा करते थे और हम उन के लिए नीचे की ओर जल-वर्षा करते थे, परन्तु अब उन के यज्ञकर्म का लोप हो जाने से हमारा जीवन सन्देह मे पड गया है। पितामह अब जिस उपाय से हमारा कल्याण हो सके, वह सोचिए। आपके प्रभाव से हमे जो देव स्वभाव प्राप्त हुआ था वह नष्ट हो रहा है। देवताओ की इस

१ महा० शान्ति० ५६, ५-१३।

२ वही, ५६, १४।

न वै राज्य न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिक।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

प्रकार की प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मा ने उन से कहा—"सुर श्रेष्ठगण, तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिए। मैं तुम्हारे कल्याण का उपाय सोचूँगा। तदनन्तर ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों के एक ऐसे नीतिशास्त्र की रचना की जिस मे धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन है।"[1] जिस में इन वर्गों का वर्णन हुआ है, वह प्रकरण त्रिवर्ग नाम से विख्यात है।

तदनन्तर देवताओ ने भगवान् विष्णु के पास जाकर कहा—भगवन्! मनुष्यो मे जो एक पुरुष सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने का अधिकारी हो, उस का नाम बताइए। तब प्रभावशाली भगवान् नारायण ने भली-भाँति विचार कर के एक मानसपुत्र की सृष्टि की, जो विरजा के नाम से विख्यात हुआ। महाभाग विरजा ने पृथ्वी पर राजा होने की अनिच्छा प्रकट की। उन्होने सन्यास लेने का निश्चय किया। विरजा के कीर्तिमान् नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह भी पाँचो विषयो से ऊपर उठकर मोक्ष मार्ग का ही अव-लम्बन करने लगा। कीर्तिमान् के कर्दम नामक पुत्र हुआ। वह भी तपस्या मे रत हो गया। प्रजापति कर्दम के पुत्र का नाम अनग था, जो कालक्रम से प्रजा का सरक्षण करने मे समर्थ तथा दण्डनीतिविद्या मे निपुण था। अनग के अतिबल नामक पुत्र हुआ। वह भी नीतिशास्त्र का ज्ञाता था। उस ने विशाल राज्य प्राप्त किया। राज्य प्राप्त कर के वह इन्द्रियो का दास बन गया। मृत्यु की एक मानसिक कन्या थी, जिस का नाम था सुनीया, जो अपने रूप और गुण के लिए तीनो लोको में विख्यात थी। उसी ने वेन को जन्म दिया।

वेन राग-द्वेष के वशीभूत हो प्रजाओ पर अत्याचार करने लगा। तब वेदवादी ऋषियो ने मन्त्रपूत कुशो द्वारा उसे मार डाला। फिर वे ही ऋषि मन्त्रोच्चारणपूर्वक वेन की दाहिनी जघा का मन्थन करने लगे। उस से इस पृथ्वी पर एक नाटे कद का मनुष्य उत्पन्न हुआ, जिस की आकृति बेडौल थी। इस के पश्चात् फिर महर्षियो ने वेन की दाहिनी भुजा का मन्थन किया। उस से देवराज इन्द्र के समान पुरुष उत्पन्न हुआ। वह कवच धारण किये, कमर मे तलवार बाँधे और बाण लिये प्रकट हुआ। उसे वेदो और वेदान्तो का पूर्ण ज्ञान था। उसे धनुर्वेद का भी पूर्ण ज्ञान था। नरश्रेष्ठ वेनकुमार को समस्त दण्डनीति का स्वत ही ज्ञान हो गया। उस ने हाथ जोडकर उन महर्षियो से कहा कि धर्म और अर्थ का दर्शन कराने वाली अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि मुझे स्वत ही प्राप्त हो गयी है। मुझे इस बुद्धि के द्वारा आप लोगो की कौन-सी सेवा करनी चाहिए, यह मुझे यथार्थ रूप से बताइए। तब वहाँ देवताओ और उन महर्षियो ने उस से कहा—वेननन्दन जिस कार्य में नियमपूर्वक धर्म की सिद्धि होती हो, उसे निर्भय होकर करो। प्रिय और अप्रिय का विचार छोडकर काम, क्रोध, लोभ और मान को दूर हटाकर समस्त प्राणियो के प्रति समभाव रखो। लोक में जो कोई भी मनुष्य

---

१ महा० शान्ति० ५६, १५-२६।

धर्म से विचलित हो, उसे सनातन धर्म पर दृष्टि रखते हुए अपने बाहुबल से परास्त कर के दण्ड दो। साथ ही वह प्रतिज्ञा कर कि मैं मन, वाणी और क्रिया द्वारा भूतल-वर्ती ब्रह्म (वेद) का निरन्तर पालन करूँगा। वेद और दण्डनीति से सम्बन्ध रखने वाला जो नित्य धर्म बताया गया है, उस का मैं नि शक होकर पालन करूँगा और कभी स्वच्छन्द नही होऊँगा। परमतप प्रभो, साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि ब्राह्मण मेरे लिए अदण्डनीय होगे तथा मैं सम्पूर्ण जगत् को वर्णसंकरता और धर्मसंकरता से बचाऊँगा। तब वेनकुमार ने उन देवताओं तथा उन अग्रवर्ती ऋषियो से कहा—नरश्रेष्ठ महात्माओ, महाभाग ब्राह्मण मेरे लिए सर्वदा वन्दनीय होगे। उन से ऐसा कहने पर उन वेदवादी महर्षियो ने उन से इस प्रकार कहा—एवमस्तु। फिर शुक्राचार्य उन के पुरोहित बनाये गये, जो वैदिक ज्ञान के भण्डार हैं। भगवान् विष्णु, देवताओ सहित इन्द्र, ऋषिसमूह, प्रजापतिगण तथा ब्राह्मणो ने पृथु का (वेनकुमार का) राजा के पद पर अभिषेक किया।[1]

इस प्रकार महाभारत मे सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का बडे विस्तार के साथ वर्णन हुआ है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे महाभारत तथा दीघनिकाय के समान ही सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने भी प्रारम्भ में राजा की नियुक्ति का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र मे यह वर्णन इस प्रकार मिलता है—"जब प्रजा मात्स्यन्याय से पीडित हुई तो उस ने मनु को अपना राजा बनाया। राजा की सेवाओ के उपलक्ष्य मे सुवर्ण आदि का दसवाँ भाग और धन-धान्य का छठा भाग कर के रूप मे देने का वचन दिया। इस के उपलक्ष्य में मनु ने प्रजा के कल्याण, रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।"[2] महाभारत आदि में ब्रह्मा द्वारा राजा की नियुक्ति का वर्णन है, किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा की नियुक्ति ब्रह्मा अथवा विष्णु के द्वारा नही बतायी गयी है, अपितु उस मे इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि प्रजा ने स्वय ही अपने राजा का निर्वाचन किया।[3]

३. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार राजा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा बतलायी गयी है। यह सिद्धान्त हम को महाभारत, धर्मशास्त्र एव पुराणो मे मिलता है। महाभारत मे दैवी सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार मिलता है—"देव और नरदेव (राजा) दोनो समान ही हैं।"[4] अन्यत्र ऐसा उल्लेख मिलता है कि "राजा

---

१ महा० शान्ति० ५६, ८७-११६।

२ कौ० अर्थ० १, १३

मात्स्यन्यायाभिभूता प्रजा मनु वैवस्वतं राजान चक्रिरे। धान्यषड्भाग पण्यदशभाग हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासु।

३ वही, १, १३

४ महा० शान्ति० ५६, १४४

को देवताओ द्वारा स्थापित हुआ मानकर कोई भी उस की आज्ञा का उल्लंघन नही करता। यह समस्त विश्व उस एक ही व्यक्ति (राजा) के वश में स्थित रहता है, उस के ऊपर यह जगत् अपना शासन नहीं चला सकता।"[1] उस में यह भी कहा गया है कि राजा पृथु की तपस्या से प्रसन्न हो भगवान् विष्णु ने स्वय उन के अन्तर मे प्रवेश किया था। समस्त नरेशो में से राजा पृथु को ही यह सारा जगत् देवता के समान मस्तक झुकाता था।[2] इस प्रकार महाभारत मे राजा और देवता मे कोई अन्तर नही माना गया है। जिस प्रकार ससार के मनुष्य देवताओ को प्रणाम करते हैं, उन की उपासना करते है, उसी प्रकार राजा को भी देवता का साक्षात् स्वरूप मानकर उस की पूजा करते है तथा उस के सम्मुख अपना मस्तक झुकाते है।

युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते है कि मानवो के स्वामी राजा को ब्राह्मण लोग देवता के समान क्यो मानते है?[3] इस प्रश्न के समाधान के लिए आचार्य भीष्म राजा वसुमना तथा बृहस्पति के मध्य हुए सवाद को प्रस्तुत करते है। उस सवाद मे ऐसा वर्णन आता है कि "यह भी एक मनुष्य है ऐसा समझकर कभी भी पृथ्वी का पालन करने वाले राजा की अवहेलना नही करनी चाहिए, क्योंकि राजा मनुष्य रूप मे एक महान् देवता है। राजा ही सर्वदा समयानुसार पाँच रूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यम का स्वरूप धारण कर लेता है। जब पापी मनुष्य राजा के साथ मिथ्या व्यवहार कर के उसे ठगते है, तब वह अग्नि रूप हो जाता है और अपने उग्र तेज से समीप आये हुए उन पापियो को जलाकर भस्म कर देता है। जब राजा गुप्तचरो द्वारा समस्त प्रजाओ का निरीक्षण करता है और उन सब की रक्षा करता हुआ चलता है, तब वह सूर्य रूप होता है। जब कुपित होकर अशुद्ध आचरण करने वाले सैकडो मनुष्यो का उन के पुत्र, पौत्र और मन्त्रियो सहित सहार कर डालता है, तब वह मृत्यु रूप होता है। जब वह कठोर दण्ड के द्वारा समस्त अधार्मिक पुरुषो पर नियन्त्रण कर के उन्हे सन्मार्ग पर लाता है और धार्मिक पुरुषो पर अनुग्रह करता है उस समय वह यमराज माना जाता है। जब राजा उपकारी पुरुषो को धन रूपी जल की धाराओ से तृप्त करता है और अपकार करने वाले दुष्टो के विविध प्रकार के रत्नो को छीन लेता है। किसी राज्य हितैषी को धन देता है तो किसी राज्य विद्रोही के धन का अपहरण करता है, तो उस समय वह पृथ्वी-पालक नरेश इस ससार मे कुबेर समझा जाता है।"[4]

---

१ महा० शान्ति० ५६, १२८।
२ वही, ५६, १२८।
३ वही, ६५ २८।
सर्वलोकगुरु चैव राजानं योऽवमन्यते।
न तस्य दत्त न हुत न श्राद्ध फलते क्वचित्॥
४ वही, ६८, ४०-४७।

धर्मशास्त्रों में भी इस बात का उल्लेख है कि विभिन्न देवताओं के अंशो से राजा की रचना हुई। मनुस्मृति में लिखा है कि "ईश्वर ने समस्त संसार की रक्षा के लिए इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के सारभूत अशो से राजा का सृजन किया।"[1] मनुस्मृति में इस प्रकार का उपदेश है कि "यदि राजा बालक भी हो तो भी उस का अपमान नही करना चाहिए, क्योकि वह मनुष्य रूप मे एक महान् देवता है।"[2]

इसी प्रकार आचार्य शुक्र भी राजा की दैवी उत्पत्ति में विश्वास रखते थे।[3] पुराणो मे भी हम को इस सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन मिलता है। मत्स्यपुराण में लिखा है कि संसार के प्राणियो की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने विविध देवताओ के अशो से राजा की सृष्टि की।[4] विष्णुपुराण मे राजा के वेन के मुख से इस प्रकार के शब्द प्रस्फुटित हुए हैं—"ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुँण, धाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्र तथा इन के अतिरिक्त और भी जितने देवता शाप देते है और अनुकम्पा करते हैं वे सभी राजा के शरीर में निवास करते है। इस प्रकार राजा सर्वदेवमय है।"[5]

इस सिद्धान्त का दूसरा स्वरूप यह है कि राजा की तुलना विभिन्न देवताओ से इस कारण की जाती है कि उस के कार्य तथा गुण देवताओ के ही समान है। दोनो ही स्वरूप बहुधा एक ग्रन्थ मे उपलब्ध हो जाते है और कभी-कभी वे पृथक् भी पाये जाते है। मनु राजा को देवताओ के अश से उत्पन्न हुआ बतलाते हैं और उस को उन्ही देवताओ के समान कार्य करने का आदेश भी देते है, जिन के अशों से उस की उत्पत्ति हुई है। इस का अभिप्राय यह है कि राजा के आचरण मे देवत्व परिलक्षित होना चाहिए। मनु के अनुसार जब राजा में देवत्व है तो उसे अपने देवत्व के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।[6] इस प्रकार मनु ने राजा को देवत्व प्रदान कर के उस के उत्तरदायित्वो तथा उस के कर्तव्यो को एक निश्चित मार्ग प्रदान कर दिया है।

---

१ मनु० ७, ४ ५।
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती॥
यस्मादेषा सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृप।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥

२ वही, ७,-८
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

३ शुक्र० १ ७१-७२।

४ मत्स्य० २२६, १।

५ विष्णु० १, १३, २१।

६ मनु० ६, ३०३-३०६।
इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्ने पृथिव्याश्च तेजोवृत्त नृपश्चरेत्॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेस्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥

नारदस्मृति मे बताया गया है कि राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और कुबेर इन पाँच देवताओ के कार्यों का सम्पादन करता है। यह वर्णन इस प्रकार है—"राजा के अकारण अथवा किसी कारण से क्रोधित होने पर क्रोध से दूसरे को तापित करने अर्थात् उत्पीडित करने के कारण वह अग्नि के समान होता है। अपनी शक्ति के ऊपर निर्भर होता हुआ जब वह शस्त्र धारण कर के शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से आक्रमण करता है तो वह इन्द्र का स्वरूप धारण करता है। जब राजा तेज से लोगों को उत्पीडित करने वाले स्वरूप को हटाकर सौम्य-भाव से जनता के सम्मुख उपस्थित होता है तब वह सोम का स्वरूप ग्रहण करता है। अपने न्याय के आसन पर बैठकर न्याय करते समय वह यम का स्वरूप धारण करता है। जब वह सम्मानित व्यक्तियों अथवा अभावग्रस्त व्यक्तियो को उपहार प्रदान करता है तो वह कुबेर का रूप धारण करता है।"[1] इस का अभिप्राय यही है कि जब राजा जिस देवता के समान आचरण करता है तब वह उसी देवता के स्वरूप को ग्रहण करता है। जब राजा के कर्मों मे विभिन्न लोकपाको के गुणो का सामजस्य दृष्टिगोचर होने लगता है तब उसे इन लोकपालो का अशभूत कहा जाता है और इस प्रकार राजा सब से बडा लोकपाल कहा जाता है (१७, ५२)। इसी प्रकार पुराणो में भी विविध स्थलो पर राजा की तुलना विभिन्न देवताओ से की गयी है। मार्कण्डेयपुराण मे नारदस्मृति की भाँति ही पाँचो देवताओ से राजा की तुलना की गयी है।[2] अग्निपुराण मे भी राजा को सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, वरुण, अग्नि, कुबेर, पृथ्वी तथा विष्णु आदि देवताओ का स्वरूप माना है, क्योकि वह उन के समान ही आचरण करता है।[3] शुक्रनीति मे भी इस प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं।[4] भागवतपुराण के अनुसार विष्णु, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वायु, वरुण आदि देवता राजा के शरीर मे निवास करते हैं और राजा सभी देवताओ के अशो से परिपूर्ण होता है।[5] वायुपुराण में चक्रवर्ती राजा को विष्णु का

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोय हरति रश्मिभि ।
तथा हरेत्कर राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रत हि तत् ॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुत ।
तथा चारै प्रवेष्टव्य व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥
यथा यम प्रियद्वेष्यो प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥
परिपूर्ण यथा चन्द्र दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवा ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृप ॥

१ नारदस्मृति—जॉली द्वारा अनूदित पृ० ११३-१४, श्लोक २६-३२।
२ मार्कण्डेय० २७, २१-२६
३ अग्नि०, २२६, १७-२०।
४ शुक्र०, १, ७३-७६।
५ भागवत०, ४, १४, २६-२७

अंश माना गया है।[1] रामायण में भी इसी प्रकार राजा को देवता बतलाया गया है और अनेक देवताओं से उस की तुलना की गयी है।[2]

राजा के दैवी स्वरूप के वर्णन में दो सिद्धान्त प्रतिलक्षित होते हैं। प्रथम तो यह कि राजा पृथ्वी पर मनुष्य रूप में महान् देवता है और द्वितीय यह कि राजा का देवत्व उस के कार्यों में निहित है। विविध देवताओ के समान कार्य करने पर ही उस को उन देवताओ का स्वरूप प्रदान किया गया है। जब राजा जिस देवता के समान आचरण करता है तब वह उस की प्रतिमूर्ति होता है। मनु उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तो को मानते हैं, किन्तु नारद द्वितीय सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं अर्थात् वे राजा को देवताओं के समान कार्य करने के कारण ही उसे देवता मानते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि राजा के दैवीस्वरूप का सिद्धान्त अति प्राचीन है और यह सिद्धान्त गुप्त काल तक प्रचलित रहा। सभी प्राचीन राज्यशास्त्र वेत्ताओ एव आचार्यों ने राजा को देवाशो से निर्मित बताया है तथा उस को उन्ही देवो के समान आचरण करने का आदेश दिया है जिन के अशो से उस का सृजन हुआ है। राजा को देवताओं के स्वरूप में तभी तक देखा जाता है जब तक वह उन के समान आचरण करता था। आचार्य सोमदेवसूरि भी इस परम्परागत विचार धारा में आस्था रखते थे। अत. उन्होने इस विषय की विशद व्याख्या न कर के अपने विचार सक्षेप मे ही व्यक्त किये हैं। उन का कथन है कि राजा ब्रह्मा, विष्णु, महेश की मूर्ति है अत इस से दूसरा कोई प्रत्यक्ष देवता नही है (२९, १६)। उन्होने राजा को उक्त देवताओ से इस प्रकार तुलना की है—जिस ने प्रथम आश्रम (ब्रह्मचर्य) को स्वीकार किया है, जिस की बुद्धि परम ब्रह्म ईश्वर या (ब्रह्मचर्यव्रत) आसक्त है, गुरुकुल की उपासना करने वाला एव समस्त राज विद्याओ (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति) का वेत्ता विद्वान् तथा युवराजपद से अलकृत ऐसा क्षत्रिय का पुत्र राजा ब्रह्मा के समान माना गया है। लक्ष्मी की दीक्षा से अभिषिक्त अपने शिष्ट पालन व दुष्ट निग्रह आदि सद्गुणो के कारण प्रजा मे अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाले राजा को नीति-कारो ने विष्णु के समान बतलाया है। जिस की बढ़ी हुई प्रताप रूपी तृतीय नेत्र की अग्नि परम ऐश्वर्य को प्राप्त होने वाले राष्ट्रकटक शत्रुरूप दानवो के सहार मे प्रयत्नशील है ऐसा विजिगीषु राजा महेश के समान बतलाया गया है (२९, १७-१९)। इस प्रकार राजा के तीनो देवों के समान आचरण करने की बात नीतिवाक्यामृत में उप-लब्ध होती है। इस ग्रन्थ मे भी देवताओ के समान आचरण करने के कारण ही राजा को दैवी स्वरूप प्रदान किया गया है।

---

१ वायु०, ५७, ७२।
२ रामायण, ३, १, १८-१६।

राजा की योग्यता

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओ ने राजा के लिए कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक बतलाया है। राजा वह व्यक्ति हो सकता था जिस में शास्त्रों द्वारा निर्धारित योग्यताएँ होती थीं। राजा में साधारण व्यक्ति की अपेक्षा महान् गुण होने आवश्यक हैं, क्योंकि वह जनता का स्वामी होता है। आचार्य सोमदेवसूरि ने राजा की योग्यताओं का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। आचार्य द्वारा राजा के लिए निर्धारित योग्यताओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम कोटि में राजा की राजनीतिक योग्यताएँ आती हैं, जो उस के राजा होने के लिए परम आवश्यक हैं। उन्हीं के होने से राज्य की स्थिरता एव समृद्धि सम्भव है। द्वितीय कोटि में उस की सामान्य योग्यताएँ आती है, जोकि उस में तथा साधारण व्यक्ति दोनो में ही होनी चाहिए। ये योग्यताएँ राजा की सामाजिक स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली हैं। इसलिए इन को सामान्य योग्यताओ की श्रेणी में रखा गया है। आचार्य सोमदेव ने ये योग्यताएँ राजा तथा साधारण व्यक्तियो, दोनो के लिए आवश्यक बतलायी है। राजा की इन योग्यताओ के कारण ही उस के राज्य में देश की सामाजिक उन्नति सम्भव हो सकती है। जिस राजा में इन गुणों का अभाव होगा उस राज्य की सामाजिक स्थिति उन्नत नही हो सकती। राजा भी समाज का ही अग है और वही उस का कर्णधार है। समाज की उन्नति उसी के व्यक्तित्व पर निभर है। इसी उद्देश्य से आचार्य सोमदेव ने राजा की उन्नति में सहायक उन योग्यताओ का भी उल्लेख किया है जिन का सम्बन्ध समाज से है और जिन गुणो पर देश की सामाजिक उन्नति निर्भर है।

राजा की योग्यताओ का उल्लेख नीतिवाक्यामृत मे एक स्थान पर ही नही हुआ है अपितु स्थान स्थान पर इन योग्यताओ अथवा गुणों का उल्लेख मिलता है। राजा की इन योग्यताओ का वर्णन सक्षेप मे इस प्रकार किया जा सकता है—"राजा को जितेन्द्रिय, महान् पराक्रमी, नीतिशास्त्र का ज्ञाता, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति आदि राजविद्याओ मे पारगत, त्रयी (तीनो वेदो) का ज्ञाता, नास्तिकदर्शन का जानने वाला, उत्साही, धर्मात्मा, स्वाभिमानी, शारीरिकमनोज्ञ आकृति से युक्त, विनम्र, न्यायी, प्रजापालक, साम, दाम, दण्ड और भेद आदि नीतियो में प्रवीण तथा षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय, एव द्वैधीभाव) के प्रयोग मे दक्ष होना चाहिए।"

राजा की सामान्य योग्यताओ का वर्णन भी अनेक स्थलो पर हुआ है। उन सब का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—"राजा को जितेन्द्रिय, काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान, मद इस अरिषड्वर्ग का विजेता, सदाचारी, विनयी, निरभिमानी, अक्रोध, कुलीन, क्षमाशील, गुणग्राही, दानी, गुरुजनो का सम्मान करने वाला होना चाहिए।"

राजा की उपर्युक्त योग्यताओ अथवा गुणो के साथ ही नीतिवाक्यामृत में राजा

के दोषों पर भी प्रकाश डाला गया है। उन दोषों के कारण होने वाली हानियों का ओर भी संकेत किया गया है। राजा के अवगुणों में कामुकता, क्रोध, दुराचारिता, दुष्टता, सैन्यहीनता, अभिमान, शास्त्रज्ञानशून्यता, मूर्खता, अनाचार, कायरता, दुराग्रहता, व्यसन, स्वेच्छाचारिता, लोभ, आलस्य, अविश्वास, सेवकों को आश्रय न देना आदि सम्मिलित हैं।

राजा की योग्यताओं के विषय में अन्य आचार्यों के विचार

राजा की योग्यताओ के विषय मे स्मृतिकारो तथा अर्थशास्त्र के रचयिताओ एव नीतिशास्त्र के प्रणेताओं ने पूर्ण प्रकाश डाला है। याज्ञवल्क्य ने राजा की राजनीति प्रधान एव सामान्य योग्यताओ पर पर्याप्तप्रकाश डाला है। उन्होंने राजधर्म के प्रकरण का प्रारम्भ ही राजा की योग्यताओ के वर्णन से किया है। प्रथम कोटि में आने वाली योग्यताओ के विषय में वे इस प्रकार लिखते है—"राजा को अतिउत्साही, पण्डित, शूरवीर, रहस्यो का ज्ञाता (वेदों का ज्ञाता), राज्य की शिथिलता को गुप्त रखने वाला, राजनीति में निपुण, वेदत्रयी का ज्ञाता एव वार्ता और दण्डनीति मे कुशल होना चाहिए। इस के साथ ही उसे षाड्गुण्य मन्त्र का भी ज्ञाता होना चाहिए।"[1]

द्वितीय कोटि मे आने वाली योग्यताओ के सम्बन्ध मे याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि "वह (राजा) आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या, तर्कशास्त्र) मे निपुण, विनीत, स्मृतिमान्, सत्यवादी, वृद्धजनो का सम्मान करने वाला, अश्लील और कठोर वाणी से रहित, धार्मिक, व्यावहारिक वस्तुओ जैसे कृषि कर्म, कोश वृद्धि आदि कार्यों का ज्ञाता एव जितेन्द्रिय होना चाहिए।"[2]

नारद ने राजा की योग्यताओ के विषय मे केवल इतना ही लिखा है कि "राजा अपने विनय और सदाचार से ही प्रजा पर प्रभुत्व प्राप्त करता है।"[3] अग्निपुराण में भगवान् राम के मुख से राजा के लक्षणो का वर्णन कराया गया है जो इस प्रकार है—"राजकुल मे उत्पन्न, शील, अवस्था, सत्य (धैर्य), दाक्षिण्य, क्षिप्रकारिता, षड्भक्तित्व, अविसवादिता (सत्यप्रतिज्ञता), कृतज्ञता, दैवसम्पन्नता (भाग्यशीलता), अक्षुद्र पारिवारिकता, दीर्घदर्शिता, पवित्रता, स्थूल लक्ष्यता (दानशीलता), धार्मिकता, वृद्धसेवा, सत्य और उत्साह आदि गुणों से सम्पन्न ही व्यक्ति राजा बनने योग्य है।"[4]

आचार्य शुक्र का कहना है कि पूर्व जन्म के तप के कारण ही व्यक्ति राजा होता है। पूर्व जन्म में वह जैसी तपस्या कर चुका होता है उसी के अनुरूप वह सात्त्विक, राजसी या तामसी होता है। जो राजा सात्त्विक तप किया होता है वह

१ याज्ञ० १, ३१०-११।
२ वही, १, ३०६ ११।
३ नारदस्मृति अ० १७, (१८) श्लोक २५, जॉली द्वारा अनूदित।
४ अग्नि० २३६, २५।

धर्मनिष्ठ, प्रजापालक, यज्ञो का अनुष्ठान करने वाला, शत्रु विजेता, दानी, क्षमाशील, शूरवीर, निर्लोभी तथा विषय और व्यसनो से विरक्त होता है और वह सात्त्विक राजा अन्त समय में मोक्ष को प्राप्त करता है।[1]

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में 'मण्डल योनि' नामक छठे अधिकरण में अत्यन्त विस्तार के साथ इस विषय पर विचार किया है। उन का कथन है कि "राजा के १६ आभिगामिक, ८ प्रज्ञा के, ४ उत्साह के तथा ३० आत्मसम्पत् के गुण हैं, जिन में महाकुलीन, भाग्यशाली, मेधावी, धैर्यशाली, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, महादानी, महान् उत्साही, क्षिप्रकारी, दृढ़ निश्चय, समीपवर्ती राजाओं को जीतने में समर्थ, उदार परिवार वाला और शास्त्र मर्यादाओ को चाहने वाला—ये राजा के १६ आभिगामिक गुण हैं।"[2]

शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह, तत्त्व तथा अभिनिवेश—ये ८ प्रज्ञा के गुण हैं। शौर्य, अमर्ष, शीघ्रता तथा दक्षता—ये ४ उत्साह के गुण हैं। इसी प्रकार आत्मसम्पत् के विषय मे कौटिल्य कहते हैं कि वाग्मी (अर्थपूर्ण भाषण करने में समर्थ), प्रगल्भ (सभा मे बोलते समय कम्परहित), स्मृति, मति तथा बल से युक्त, उन्नत चित्त, संयमी, हाथी, घोडे आदि के चलाने में निपुण, शत्रु की विपत्ति में आक्रमण करने वाला, किसी के द्वारा उपकार या अपकार किये जाने पर उस का प्रतिकार करने वाला, लज्जाशील, दुर्भिक्ष और सुभिक्ष आदि मे अन्नादि का ठीक-ठीक विनियोग करने वाला, सन्धि के प्रयोग को समझने वाला, प्रकाशयुद्ध में चतुर, सुपात्र को दान देने वाला, प्रजा को कष्ट न पहुँचाकर ही गुप्त रूप से कोष की वृद्धि करने वाला, शत्रु के अन्दर मृगया द्यूत आदि व्यसनो को देखकर उस पर तीक्ष्ण रस आदि प्रयोग करने मे समर्थ, अपने मन्त्र को गुप्त रखने वाला, काम, क्रोध, मोह, लोभ, चपलता, उपताप और पैशुन्य से सदा अलग रहने वाला, प्रिय बोलने वाला, हँसमुख तथा उदार भाषण करने वाला और वृद्धो के उपदेश तथा आचार का मानने वाला राजा होना चाहिए। ये ही राजा की आत्मसम्पत् हैं।[3] महाभारत में भी राजा के ये लक्षण कुछ सक्षेप में और कुछ विस्तार के साथ कहे गये है।[4]

सोमदेव के अनुसार राजा की योग्यताओ अथवा गुणो का विवेचन

राजा के लिए पराक्रम, सदाचार तथा राजनीतिक ज्ञान तीनो ही बाते राज्य को स्थायी बनाने के लिए परम आवश्यक है (५, ४१)। यदि इन मे से एक का भी अभाव होगा तो राज्य नष्ट हो जायेगा। आचार्य सोमदेव ने यह भी बताया कि राज-नीतिक ज्ञान तथा पराक्रम का धारण करने वाला कौन राजा हो सकता है। इस

१ शुक्र०, १ २०, २९-३१।
२ कौ० अर्थ०, ६, १।
३ वही, ६, १।
४ महा० शान्ति०, ५६, १९, ५७, १३-१४।

सम्बन्ध में सोमदेव लिखते हैं कि वही राजा राजनीति और पराक्रम का स्थान हो सकता है जो स्वयं राजनीतिक ज्ञानवान् हो अथवा जो अमात्य आदि के द्वारा निर्दिष्ट राजनीति के सिद्धान्तो का पालन करने वाला है (५,३०)। राजा के लिए बुद्धिमान् एव नीतिशास्त्र का भी ज्ञाता होना परम आवश्यक है क्योकि बुद्धिमान् एव नीतिशास्त्र का ज्ञाता पुरुष ही शासन कार्य को सुचारु रूप से चला सकता है (५, ३१)। शासन एक कला है और उसे वही व्यक्ति सचालित कर सकते हैं, जिन्होने इस कला की शिक्षा प्राप्त की है। इस कला का ज्ञान राजा को नीतिशास्त्रों के अध्ययन से ही होता है। आचार्य सोमदेव बुद्धिमान् राजा का लक्षण बतलाते हुए कहते है कि "जिस ने नीति-शास्त्र के अध्ययन से राजनीतिक ज्ञान और नम्रता प्राप्त की है," उसे बुद्धिमान् कहते हैं। शास्त्रज्ञान के लाभ का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पदार्थ या प्रयोजन नेत्रो से प्रतीत नही होता उस को प्रकाश में लाने के लिए शास्त्र पुरुषो का तृतीय नेत्र है (५, ३४)। शास्त्रज्ञान से हीन पुरुष अन्धे के समान संसार में भटकता फिरता है। शास्त्रज्ञान से शून्य मूर्ख व्यक्ति को धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान नही हो सकता। जिस व्यक्ति को इन बातो का ही ज्ञान नही वह राजपद के सर्वथा अयोग्य है। इसी उद्देश्य से आचार्य ने राजा के लिए शास्त्रज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है (५, ३५)।

शास्त्रज्ञान के साथ ही साथ राजाओ को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एव दण्ड-नीति आदि राजविद्याओ का भी ज्ञाता होना आवश्यक है। ये विद्याएँ राज्य की श्रीवृद्धि क लिए आवश्यक है। इन चारों विद्याओ के ज्ञान से होने वाले लाभ का वर्णन करते हुए आचार्य ने बडे विस्तार के साथ इन को व्याख्या की है। आन्वीक्षिकी विद्या के विषय मे सोमदेव लिखते है कि जो राजा अध्यात्म विद्या (आन्वीक्षिकी विद्या) का विद्वान् होता है वह सहज (कषाय और अन्याय से होने वाले राजसिक और तामसिक दु ख) तथा शारीरिक दु ख (ज्वर आदि से होने वाली पीडा), मान-सिक एव आगन्तुक दु खो (भविष्य मे होने वाले अतिवृष्टि, अनावृष्टि और शत्रुकृत अपकार आदि) के कारणो से पीडित् नही होता है (६,२)। जो राजा नास्तिक दर्शन को भली-भाँति जानता है वह अवश्य ही राष्ट्रकटको (प्रजा को पीडित करने वाले जार—चोर आदि दुष्टो) को जडमूल से नष्ट कर देता है (६,३)। अपराधियों को क्षमादान देना साधु पुरुषो का भूषण है न कि राजाओ का। राजाओ का भूषण तो अपराधियो को उन के अपराधानुसार दण्ड देना है (६,३७)।

राजा के लिए पराक्रमी होना भी परम आवश्यक है, क्योकि बिना पराक्रम के प्रजा राजा की आज्ञाओ का पालन नही करती, शत्रु भयभीत नही होते और उस के राज्य पर आक्रमण कर के उस को अपने अधीन बना लेते है। अत विजिगीषु राजा को अपनी राज्यवृद्धि के लिए पराक्रमी—सैन्य एव कोष—शक्ति से पूर्णतया सम्पन्न होना चाहिए। इस विषय में आचार्यश्री का कथन है कि "जिस प्रकार अग्निरहित केवल

भस्म को साधारण व्यक्ति भी पैरों से ठुकरा देते हैं उसी प्रकार पराक्रमविहीन राजा के विरुद्ध साधारण व्यक्ति भी विद्रोह कर देते हैं (६,३८) ।

त्रयी विद्या के ज्ञाता राजा के राज्य में चातुर्वर्ण के लोग अपने-अपने धर्म का पालन स्वतन्त्रतापूर्वक नियमित रूप से करते हैं । इस से राजा और प्रजा दोनों को ही धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है (७,२) । वार्ता के विषय में आचार्य लिखते हैं कि जिस राजा के राज्य में वार्ता—कृषि, पशुपालन और व्यापार आदि से प्रजा के जीविकोपयोगी साधनों की उन्नति होती है, वहाँ पर उसे समस्त विभूतियाँ प्राप्त होती हैं (८,२) । दण्डनीति में कुशल राजा से होने वाले लाभ की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि राजा को यमराज के समान कठोर होकर अपराधियों को दण्डित करते रहना चाहिए । ऐसा करने से प्रजावर्ग अपनी-अपनी मर्यादाओं का उल्लघन नही करते अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म पर आरूढ़ होकर दुष्कृत्यों में प्रवृत्ति नही करते । अत उसे धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को उत्पन्न करने वाली विभूतियाँ प्राप्त होती हैं (५,६०) । राजा को निरन्तर इन राज-विद्याओ का अभ्यास करते रहना चाहिए । जो राजा इन का अध्ययन नहीं करता और न विद्वानों की सगति ही करता है वह अवश्य ही उन्मार्गगामी होकर निरकुश हाथी के समान नाश को प्राप्त होता है (५,६५) ।

राजा के न्यायी होने का विधान नीतिवाक्यामृत में किया गया है । आचार्य लिखते हैं कि जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा-पालन करता है तब सभी दिशाएँ प्रजा को अभिलषित फल देने वाली होती हैं (१७, ४५) । न्यायी राजा के प्रभाव से यथायोग्य जलवृष्टि होती है और प्रजा के सभी उपद्रव शान्त होते हैं तथा समस्त लोकपाल राजा का अनुकरण करते हैं (१७, ४६) । राजा के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नीतियों का ज्ञाता होना भी आवश्यक है । इस सम्बन्ध में सोमदेव लिखते हैं कि जो पुरुष शत्रुओं द्वारा की जानेवाली वैर विरोध की परम्परा को साम, दाम, दण्ड व भद आदि नैतिक उपायो से नष्ट नहीं करता उस की वश वृद्धि नही हो सकती (२६, १६) ।

राजा के दोष

सोमदेवसूरि ने अपने ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत में राजा के दोषो पर भी प्रकाश डाला है । अन्य राजनीतिज्ञो ने भी राजा के दोषो की ओर सकेत किया है । इस विषय में महाभारत के सभापर्व मे नारदजी कहते हैं कि "नास्तिकता, मिथ्याभाषण, क्रोध, प्रमाद (अकर्तव्य का आचरण और कर्तव्य का त्याग), दीर्घसूत्रता, ज्ञानियो का ससर्ग न करना, आलस्य, इन्द्रिय परायणता, अकेले ही राज्य की समस्याओ पर विचार करना, अनभिज्ञ लोगो के साथ मन्त्रणा करना, मन्त्रणा में निश्चित कार्यों का आरम्भ न करना, मन्त्रणा को गुप्त न रखना, मागलिक कार्यों का प्रयोग न करना और एक साथ ही बहुत से शत्रुओ का विरोध करना ये राजाओ के दोष हैं । अत राजा को

परीक्षापूर्वक इन चौदह दोषो से बचना चाहिए ।"[1]

रामायण में भी राजा के उपरोक्त दोषो का वर्णन मिलता है।[2] रामायण एव महाभारत दोनों ही महाकाव्य इस बात पर बल देते हैं कि राजा को उपर्युक्त दोषों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए ।

सोमदेव के अनुसार राजा के दोषो का विवेचन

क्रोध को सभी शास्त्रकारों ने मनुष्य का महान् शत्रु बतलाया है । आचार्यों का कथन है कि क्रोध व्रत, तप, नियम और उपवास आदि से उत्पन्न हुई प्रचुर पुण्यराशि को नष्ट कर देता है । इसलिए जो महापुरुष इस के वशीभूत नही होता उस का पुण्य बढता रहता है । किन्तु राजा के लिए ऐसा नही है । उस के लिए न्याययुक्त क्रोध करने का विधान है । यदि राजा सर्वथा क्रोध का त्याग कर देगा तो राज्य में अराजकता फैल जायेगी, क्योंकि सौम्य प्रकृति के राजा से दुष्ट प्रकृति के लोग भयभीत नही होंगे और वे मात्स्यन्याय का सृजन करेंगे । इस से राज्य में अराजकता फैल जायेगी । दण्ड के भय से ही प्रजा राजा की आज्ञाओं का पालन करती है । क्रोध का परिणाम दण्ड है । जब लोग यह समझने लगेंगे कि हमारा राजा तो सन्त है वह किसी पर भी क्रोध नही करता तो वे अपने को अदण्ड्य समझकर मनमानी करने लगेंगे । अत राजा के लिए क्रोध के सर्वथा त्याग का विधान नही है । यह विधान तो गृहस्थ लोगो के लिए अथवा वानप्रस्थी तथा सन्यासियो के लिए ही हैं, किन्तु इतना अवश्य है कि राजा को अपनी शक्ति के अनुकूल ही क्रोध करना चाहिए । यदि वह इस के विपरीत क्रोध करेगा तो स्वय नष्ट हो जायेगा । इस सम्बन्ध में आचार्य लिखते हैं कि "जो व्यक्ति अपनी और शत्रु की शक्ति को न जानकर क्रोध करता है वह क्रोध उस के विनाश का कारण होता है (४ ३) ।" अभिमान भी राजा का दुर्गुण है (५, २९) । जो राजा अभिमान के कारण अपने अमात्य, गुरुजन एव बन्धुओ की उपेक्षा करता है वह रावण की तरह नष्ट हो जाता है । अत नैतिक पुरुष को कभी अभिमान नही करना चाहिए । शास्त्रज्ञान से रहित राजा भी राजपद के अयोग्य है, क्योंकि इस के अभाव में वह शासन कार्यो को ठीक प्रकार से सम्पन्न नही कर सकता । इस की हानि का उल्लेख करते हुए सोमदेव ने लिखा है कि जो राजा राजनीतिशास्त्र के ज्ञान से शून्य है और केवल शूरवीरता ही दिखलाता है उस का सिंह की भाँति चिरकाल तक कल्याण नही होता (५, ३३) । दुष्टता भी राजा का महान् अवगुण है । दुष्ट राजा का लक्षण बताते हुए आचार्य ने लिखा है कि जो योग्य और अयोग्य पदार्थो के सम्बन्ध मे ज्ञानशून्य है अर्थात् जो योग्य व्यक्तियो का अपमान और अयोग्य व्यक्तियो को दान और सम्मान आदि से प्रसन्न करता है तथा विपरीत बुद्धि से युक्त है अर्थात् शिष्ट पुरुषो के सदाचार

---

१ महा० सभा०, ५, १०७-१०९ ।

२ रामायण—२, १००, ६५-६७ ।

की अवहेलना कर के पापकर्मों में प्रवृत्ति करता है उसे दुष्ट कहते हैं (५, ४१)। दुष्ट राजा से प्रजा का विनाश ही होता है। उसे छोडकर दूसरा कोई उपद्रव नही हो सकता (५,४०)। इस के साथ ही मूर्खता, अनाचार और कायरता भी राजा के भीषण दोषों के अन्तर्गत आते हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि "जो पुरुष उक्त दोषों से युक्त है वह पागल हाथी की भाँति राजपद के सर्वथा अयोग्य है अर्थात् जिस प्रकार पागल हाथी जनसाधारण के लिए भयकर होता है उसी प्रकार जब मनुष्य में राजनीतिक ज्ञान, आचार सम्पत्ति, शूरवीरता आदि गुण नष्ट होकर उन के स्थान पर मूर्खता, अनाचार और कायरता आदि दोष घर कर लेते है तब वह पागल हाथी की तरह भयकर हो जाने से राजपद के योग्य नही रहता (५, ४३)। मूर्ख राजा की भी समस्त राजशास्त्र वेत्ताओ ने निन्दा की है। आचार्य सोमदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य में राजा का न होना श्रेष्ठ है किन्तु उस में मूर्ख राजा का किसी भी प्रकार से होना ठीक नही है (५, ३८)। मूर्खता के साथ ही दुराग्रह भी राजा का दूषण है। मूर्ख और दुराग्रही राजा से राष्ट्र की हानि होती है, क्योकि वह हितैषी पुरुषो की परम हितकारक बात की भी अवहेलना करता है जिस से राष्ट्र की श्रीवृद्धि नही हो पाती (५, ७५)। व्यसनी राजा से भी राष्ट्र का अहित होता है। इस सम्बन्ध मे आचार्य का कथन है कि जो राजा १८ प्रकार के व्यसनो मे से किसी एक व्यसन में भी ग्रस्त है वह चतुरगसेना (हाथी, घोडे, रथ, पदाति) से युक्त हुआ भी नष्ट हो जाता है। स्वेच्छाचारिता भी राजा का महान् अवगुण है। जो राजा किसी की बात न मानकर मनमाने ढग से शासन करता है वह चिरकाल तक सुखी तथा सुरक्षित नही रहता। आचार्य इस सम्बन्ध में लिखते है कि स्वेच्छाचारी आत्मीयजनों अथवा शत्रुओ द्वारा नष्ट कर दिया जाता है (१०, ५८)। विजयलक्ष्मी के इच्छुक पुरुष को कदापि काम के वशीभूत नही होना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, हर्ष ये राजाओ के ६ अन्तरग शत्रु है। जो राजा जितेन्द्रिय और नीतिमार्ग का अनुसरण करने वाला है (सदाचारी है) उस की लक्ष्मी प्रकाशवान् और कीर्ति आकाश को स्पर्श करने वाली होती है। सदाचार वश परम्परा या पुरुषार्थ से प्राप्त हुई राजलक्ष्मी के चिरस्थायी बनाने मे कारण है। नीति विरुद्ध, असत् प्रवृत्ति, दुराचार से राज्य नष्ट होता है। अत जो राजा अपने राज्य को चिरस्थायी बनाने का इच्छुक है उसे सदाचारी होना चाहिए (५, २८)। निरभिमानता तथा अभिमान से होने वाले परिणाम की व्याख्या करते हुए सोमदेव लिखते हैं कि निरभिमानता से ही पराक्रम की शोभा बढती है (५, २९)। जो राजा अभिमान के कारण अपने अमात्य, गुरुजन और बन्धुओ की उपेक्षा करता है वह रावण की तरह नष्ट हो जाता है।[1]

इस प्रकार सोमदेवसूरि ने राजा के गुण-दोषो का बडे विस्तार के साथ वर्णन किया है। राजा के उपर्युक्त गुणो के कारण राष्ट्र तथा राजा को क्या लाभ होते है और

१ गुरु-नीतिवा०, पृ० ६३।

उस के दोषों के कारण क्या हानि होती है, इस विषय पर बहुत सुन्दर ढग से प्रकाश डाला गया है जो कि नीतिशास्त्र के अध्येताओ एव शासक वर्ग के लिए परम उपयोगी है। यदि शासक इन गुणों को अपने चरित्र मे आत्मसात् करेंगे और दोषों का परिहार करेंगे तो इस से राष्ट्र का परम कल्याण होगा। साधारण व्यक्तियो के लिए भी इन गुणो का ग्रहण करना तथा दोषो का निवारण बहुत आवश्यक है। वे भी इस उपदेशात्मक वर्णन से जीवन को सफल बना सकते हैं।

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने राजा मे देवत्व का आरोप कर के उस को देवताओ के अंश से निर्मित बताया है, किन्तु फिर भी उस के लिए उपर्युक्त योग्यताओं का भी विधान है। राजा इन्हीं गुणो अथवा योग्यताओ के द्वारा विभिन्न देवो के समान कार्य करने मे समर्थ हो सकता है। राजा के देवत्व का इन योग्यताओ से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है और ये एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। न्यायी राजा का अनुकरण समस्त लोकपाल करते हैं। इसी कारण आचार्यों ने राजा को मध्यम लोकपाल—होने पर भी उत्तम लोकपाल—स्वर्गलोक का रक्षक कहा है (१७, ४७)। इस प्रकार का वर्णन नीतिवाक्यामृत मे प्राप्त होता है। इस से स्पष्ट है कि राजा अपने विशिष्ट गुणो के कारण हो देवत्व प्राप्त करता था।

राजा के कर्तव्य

राजा का जन्म समाज में अराजकता को दूर करने के लिए हुआ था। राजा अपने राजत्व के कारण ही समाज में शान्ति स्थापित करने के लिए उत्तरदायी था। वेदो में राजा को राष्ट्रो का सौन्दर्य और राष्ट्र की शोभा बताया गया है। राजा के महत्त्व और उस के विशिष्ट कर्तव्यो के कारण ही उस के लिए इतना उच्च पद प्रदान किया गया था। अराजकता को नष्ट करने, प्रजापालन, देश मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए ही राजा को आवश्यकता प्रतीत हुई। यही राजा के कर्तव्य है। राजा धर्म के लिए होता है न कि अपनी कामनाओ की पूर्ति के लिए।[१] महाभारत के शान्तिपर्व मे इन्द्र मान्धाता से कहते है कि राजा धर्म का रक्षक होता है। जो राजा धर्मपूर्वक राज्य करता है वह देवता माना जाता है और जो राजा अधर्माचारी होता है वह नरकगामी होता है। जिस मे धर्म रहता है उसी को राजा कहते है[२]।

आचार्य सोमदेवसूरि ने नीतिवाक्यामृत के विभिन्न समुद्देशो में राजा के कर्तव्यो का ओर सकेत किया है जिन का वर्णन हम निम्नलिखित उपशीर्षको द्वारा कर सकते है—

१ प्रजा की रक्षा एवं पालन-पोषण—बाह्य शत्रुओ एव आन्तरिक राष्ट्रकण्टको से प्रजा की रक्षा करना राजा का सर्व प्रमुख कर्तव्य है। शत्रुओ से प्रजा की

१ महा० शान्ति० ९० ३।
धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु, मार्कण्डेय० १३०, ३३-३४।
२ महा० शान्ति० ९०, ४-५।

रक्षा के सम्बन्ध मे सोमदेव लिखते हैं कि जो पुरुष (राजा) शत्रुओं पर पराक्रम नही दिखाता वह जीवित ही मृतक के समान है। आचार्य अन्यत्र लिखते हैं कि जिस राजा का गुणगान शत्रुओं की सभा मे विशेष रूप से नही किया जाता उस की उन्नति व विजय कदापि नहीं हो सकती (२६, ३६)। राजा को प्रजा-कार्यों, प्रजा-पालन व दुष्ट निग्रह आदि का स्वय ही निरीक्षण करना चाहिए। इन कार्यों को राजकर्मचारियों के ऊपर कभी नही छोडना चाहिए (१७, ३२)। प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा को आचार्य सोमदेव ने निन्दनीय बताया है (७, २१)। प्रजा की रक्षा करना ही राजा का सब से महान् धर्म है, अन्य व्रतो की चर्या तो उस के लिए गौण है। प्रजा-पीड़क दुष्टो पर भी क्षमा धारण करने का विधान साधु-पुरुषो के लिए ही है, राजा के लिए नही। राजा का धर्म तो दुष्टो का दमन करना ही है। जो राजा पापियो का निग्रह करता है उस से उसे उत्कृष्ट धर्म की प्राप्ति होती है। उन का वध करने अथवा उन्हें दण्डित करने से राजा को पाप नही लगता। राजा के द्वारा सुरक्षित प्रजा अपने अभिलषित पुरुषार्थों को प्राप्त करती है। इस के विपरीत अन्यायो का निग्रह न होने से उस राज्य की प्रजा सदैव दु खी रहेगी और उस का उत्तरदायित्व राजा पर ही होगा। इसी कारण आचार्य लिखते है कि जो राजा दुष्टो का निग्रह नही करता उस का राज्य उसे नरक ले जाता है (६, ४४)। उसे सर्वदा प्रजा की रक्षा का चिन्तन करना चाहिए। इस विषय में सोमदेव लिखते हैं कि राजा को ध्यानावस्थित होकर इस मन्त्र का जाप करना चाहिए—"मैं इस पृथ्वी रूपी गाय की रक्षा करता हूँ जिस के चार समुद्र ही थन है, धर्म (शिष्ट पालन, दुष्ट निग्रह) ही जिस का बछडा है, उत्साह रूप पूँछ वाले वर्णाश्रम ही जिस के खुर हैं। जो काम और अर्थ रूप थनो वाली है। तप व प्रताप ही जिस के सीग है एव जो न्याय रूप मुख से युक्त है। इस प्रकार की मेरी पृथ्वी रूपी गाय का जो अपराध करेगा, उसे मैं मन से भी सहन नही करूँगा (२५, ९६)। सभी प्रकार के अन्यायो से प्रजा की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है। प्रजा-पीडा एव अन्याय की वृद्धि से राज्य व कोष नष्ट हो जाता है (१९, १७)।

केवल प्रजा की रक्षा करना ही राजा का कर्तव्य नही, अपितु रक्षा के साथ ही साथ प्रजा का सर्वांगीण विकास करना भी उस का कर्तव्य है। राजा को प्रजा का पालन अपने कुटुम्ब के समान ही करना चाहिए। उसे पूज्यजनो का सम्मान भी करना चाहिए।

२ सामाजिक व्यवस्था की स्थापना—समाज की समुचित व्यवस्था करना भी राजा का कर्तव्य है। जिस समाज के व्यक्ति अपने-अपने धर्म का पालन नही करते वह समाज नष्ट हो जाता है। अत राजा को वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करनी चाहिए। सोमदेवसूरि यद्यपि जैन आचार्य थे किन्तु फिर भी उन्होने कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था को ही अपनाया है। वे लिखते हैं कि राजा को यमराज के समान कठोर होकर अपराधियो को दण्ड देते रहना चाहिए। इस से

प्रजा के लोग अपनी-अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर सकते। इस से राजा को धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है (५,६०)।

३. आर्थिक कर्तव्य—आर्थिक दृष्टि से प्रजा को सम्पन्न बनाना भी राजा का कर्तव्य है। जीवन को सुखमय बनाने के लिए अर्थ की परम आवश्यकता है। क्योंकि सब प्रयोजनो की सिद्धि अर्थ से ही होती है। राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिस से प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के साधन उपलब्ध हो सकें। इस के लिए सोमदेव ने राजा को वार्ता की उन्नति करने का आदेश दिया है। और इस को समृद्धि में ही समस्त समृद्धियाँ निहित बतलायी हैं (८, २)। लोक में कृषि आदि की समुचित व्यवस्था करने वाला राजा प्रजा को सुखी बनाता है तथा स्वयं भी अभिलषित सुखो को प्राप्त करता है। आचार्य सोमदेव प्रजा को स्वावलम्बी बनाने पर अधिक बल देते हैं। वे कृषि कर्म, पशु-पालन, एव कृषि के साधनो की उन्नति को समस्त सुखो की आधारशिला मानते हैं। उन का कथन है कि वह गृहस्थ निश्चय पूर्वक सुखी है जो कृषिकर्म, गोपालन में प्रवृत्त है तथा शाक आदि उत्पन्न करता है और जिस का स्वय का कुआँ है। (८, ३)।

प्रजा की आर्थिक स्थिति को ठीक रखने के लिए राजा को प्रजा पर अधिक कर नही लगाने चाहिए और न उस से अन्याय पूर्वक धन ही लेना चाहिए (१६ २३)। यदि राजा अनुचित रीति से प्रजा से धन लेता है तो ऐसा करने से उस का राज्य नष्ट हो जाता है। व्यापार एव वाणिज्य के विकास के लिए उसे समुचित नियमो की व्यवस्था करनी चाहिए और व्यापारियो को सुरक्षा का भी प्रबन्ध करना चाहिए। सोमदेव का कथन है कि जिस देश मे तुला और मान की उचित व्यवस्था नही होती और व्यापारियो के माल पर अधिक कर लगाया जाता है वहाँ पर व्यापारी अपना माल बेचने नही आते (८, ११ तथा १३)। इसी प्रकार के अन्य व्यापार सम्बन्धी नियमो की ओर भी सोमदेव ने सकेत किया है। एक स्थान पर वे लिखते है कि यदि राजा प्रयोजनार्थियों का प्रयोजन सिद्ध न कर सके तो उसे उन की भेंट स्वीकार नही करनी चाहिए, अपितु उसे वापस लौटा देना चाहिए, क्योकि प्रत्युपकार न किये जाने वाले की भेंट स्वीकार करने से लोक में निन्दा और हँसी के अतिरिक्त कोई लाभ नही होता (१७, ५३)।

४. प्रशासकीय कर्तव्य—देश की शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजा को सुयोग्य राजकर्मचारियो की नियुक्ति करनी चाहिए, अकेला राजा शासन के भार को सँभालने में सर्वथा असमर्थ है इसलिए उसे राजनीतिशास्त्र के ज्ञाता एव व्यवहार कुशल मन्त्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए तथा उन के सत्परामर्श को मानना चाहिए। मूर्ख और दुराग्रही राजा से राष्ट्र की हानि होती है, क्योकि आप्त (हितैषी) पुरुषो को परम हितकारक बात की भी अवहेलना करता है जिस के कारण राष्ट्र की श्रीवृद्धि में बाधा पड़ती है। राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के

लिए राजा को सुसगठित सेना को भी स्थापना करनी चाहिए तथा विशिष्ट सैनिक गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को सेनाध्यक्ष के पद पर नियुक्त करना चाहिए। आचार्य सोमदेव मन्त्रियो, सेनापति एवं अन्य उच्च राजकर्मचारियो के गुणो के साथ ही उन के स्वदेश-वासी होने पर विशेष बल देते हैं। उन का कथन है कि मन्त्री आदि राजकर्मचारी स्वदेशवासी ही होने चाहिए, क्योंकि समस्त पक्षपातो में स्वदेश का पक्षपात श्रेष्ठतम होता है (१०, ६)। राजा के उपाध्याय भी विशिष्ट गुणो से युक्त होने चाहिए (५, ६५)। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को ठीक प्रकार से बनाये रखने के लिए राजा विभिन्न गुणो से विभूषित विविध प्रकार के चर एव दूतो की नियुक्ति करे। सुयोग्य चर एव दूतो से ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की प्रतिष्ठा स्थापित होती है। तथा राज्य बाह्य आक्रमणो से सुरक्षित रहता है। इस प्रकार विभिन्न राजकर्मचारियो को नियुक्ति कर के राजा अपने प्रशासन को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करे, और अपने महान् कर्तव्य का पालन करे।

सैन्य-व्यवस्था भी प्रशासन का ही अग है क्योंकि बल से राज्य मे शान्ति एव व्यवस्था स्थापित होती है। आचार्य सोमदेव ने राज्य का मूल क्रम और विक्रम का बताया है (५, २७)। विक्रम अर्थात् शक्ति के अभाव मे क्रमागत राज्य भी नष्ट हो जाता है। अत राजा को अपनी सैनिक शक्ति सुदृढ बनानी चाहिए। सोमदेव ने चतुरगिणी सेना का सगठन करने तथा उस के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था की ओर सकेत किया है। सैन्य-शक्ति की प्रसशा करते हुए सोमदेव लिखते है कि जिस प्रकार बटे हुए मृणतन्तुओ से दिग्गज भी वशीभूत कर लिया जाता है उसी प्रकार राजा भी सैन्य-शक्ति से शक्तिशाली शत्रु को भी परास्त कर देता है (३०, ३८)। हीन सैनिक शक्ति वाले राजा के सम्बन्ध मे वे इस प्रकार लिखते है कि जिस प्रकार जगल से निकला हुआ सिंह गीदड के समान शक्तिहीन हो जाता है उसी प्रकार सैन्य एव स्थान भ्रष्ट राजा भी क्षीण शक्ति वाला हो जाता है (३, ३६)। अत राजा का यह कर्तव्य है कि वह सर्वदा अपनी सैन्य-शक्ति को सुदृढ़ बनाये रखे। सोमदेव ने यह लिखा है कि राजा को सैनिक शक्ति की वृद्धि प्रजा मे अपराधो का अन्वेषण करने के अभिप्राय से नही करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से प्रजा उस से असन्तुष्ट होकर शत्रुता करने लगती है और इस के परिणामस्वरूप उस का राज्य नष्ट हो जाता है (९, ४)।

इस का अभिप्राय यह कदापि नही है कि राजा बल का प्रयोग करे ही नही। राजा का उल्लघन करने वालो के लिए दण्ड का सर्वत्र विधान है। सोमदेव लिखते हैं कि राजा आज्ञा भग करने वाले पुत्र पर भी क्षमा न करे (१७, २३)। अन्यत्र आचार्य लिखते हैं कि जिस की आज्ञा प्रजाजनो द्वारा उल्लघन की जाती है, उस में और चित्र के राजा मे क्या अन्तर है।

राज्य की रक्षा के लिए कुशल विदेश-नीति का निर्धारण भी परम आवश्यक

है। इस के लिए राजा को षाड्गुण्य नीति का पूर्ण ज्ञाता एव साम, दाम, भेद तथा दण्ड आदि उपायों का समुचित प्रयोक्ता होना परम आवश्यक है। राजा को इस षाड्गुण्य नीति तथा इन चार उपायों का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए। इस का विशद विवेचन नीतिवाक्यामृत के षाड्गुण्य समुद्देश एवं युद्ध समुद्देश मे किया गया है। राजा को अपने से शक्तिशाली शत्रु से कभी युद्ध नही करना चाहिए। राजनीति-शास्त्र के आचार्यों ने विजिगीषु राजा को अप्राप्त राज्य की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा और रक्षित की वृद्धि करने के लिए तथा प्रजा-पीडक राष्ट्र कण्टकों एवं शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के लिए न्याययुक्त अपनी और शत्रु की शक्ति को विचार कर तदनुकूल क्रोध करने का विधान किया है तथा अन्याय युक्त का निषेध अपने राज्य की सुरक्षा के लिए राजा को राज्यमण्डल की भी स्थापना करनी चाहिए और उन राज्यों में दूत एव चरो की भी नियुक्ति करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भी नीतिवाक्यामृत मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है (समु० १३ और १४)।

५. न्याय सम्बन्धी कर्तव्य—राजा का यह भी एक परम कर्तव्य बताया गया है कि वह पक्षपातरहित न्याय करे (२६, ४१)। इस के लिए उसे दण्डनीति का ज्ञाता होना आवश्यक है। सोमदेव लिखते है कि अपराधी को अपराधानुकूल दण्ड देना ही दण्डनीति है (९, २)। आचार्य आगे लिखते हैं कि राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा के लिए अपराधियो को दण्ड दिया जाता है, धन के लिए नही (९, ३)। अन्यत्र सोमदेव लिखते है कि यदि राजा प्रजा के साथ अन्याय करता है तो इस का अर्थ समुद्र का मर्यादा उल्लघन करना ही है (१७, ४९)। जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है तो सभी दिशाएँ प्रजा को अभिलषित फल देने वाली होती हैं। न्यायी राजा के प्रभाव से मेघो से यथासमय वृष्टि होती है और प्रजा के सभी उपद्रव शान्त होते है (१७, ४६)। जो राजा साधारण अपराध के लिए प्रजा जनो मे दोषो का अन्वेषण कर भीषण दण्ड देता है वह प्रजा का शत्रु है। इस का अभिप्राय यही है कि राजा अपराधियो को उन के अपराधानुकूल ही दण्ड की व्यवस्था करे। किन्तु अपराधियो को दण्ड अवश्य मिलना चाहिए क्योंकि दण्ड के अभाव मे प्रजा मे मात्स्य-न्याय की उत्पत्ति हो जाती है (९, ७)।

राजरक्षा

राजा इतने महत्त्वपूर्ण कर्तव्य करता था इसलिए उस की प्रधानता थी। अत उस की रक्षा के लिए प्राचीन आचार्यों ने कुछ विशिष्ट नियमो अथवा उपायों का उल्लेख किया है। राजरक्षा के विषय मे आचार्य सोमदेव ने भी इसी प्रकार के नियमों का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ में किया है। सोमदेव लिखते है कि राजा की रक्षा होने से ही समस्त राष्ट्र सुरक्षित रहता है। इसलिए उसे अपने कुटुम्बियो तथा शत्रुओ से अपनी रक्षा करनी चाहिए (२४, १)। राजशास्त्र के विद्वानो का कथन है कि राजा

अपनी रक्षा में ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करे जो उस के वंश का (भाई आदि) हो अथवा वैवाहिक सम्बन्धों से बँधा हुआ हो और जो नीतिशास्त्र का ज्ञाता हो, राजा से स्नेह रखने वाला हो तथा राजकीय कर्तव्यों में निपुण हो (२४, २) । राजा विदेशी पुरुष को जिसे धन व मान देकर सम्मानित नही किया हो और पहले दण्ड पाये हुए स्वदेशवासी व्यक्ति को जो बाद में अधिकारी बनाया गया हो अपनी रक्षा के कार्यो में नियुक्त न करे, क्योंकि असम्मानित विदेशी तथा दण्डित स्वदेशवासी द्वेषयुक्त होकर उस से बदला लेने की कुचेष्टा करेगा (२४, ३) । जिस प्रकार जीवन रक्षा मे आयु मुख्य है उसी प्रकार राष्ट्र के सात अगो में राजा को प्रधानता है । अत राजा को सर्वप्रथम अपनी रक्षा करनी चाहिए (२४, ६) । राजा को सर्वप्रथम रानियो से, उस के बाद कुटुम्बियो से और तत्पश्चात् पुत्रो से अपनी रक्षा करनी चाहिए (२४,७) । राजा को वेश्या-सेवन कभी नही करना चाहिए । उसे स्त्रियो के घर मे कभी प्रविष्ट नही होना चाहिए । इस का कारण यह है कि वेश्याओ के यहाँ सभी प्रकार के व्यक्ति आते है, इसलिए वे शत्रुपक्ष से मिलकर राजा को मार डालती है (२४, २९) । जिस प्रकार सर्प की बामी मे प्रविष्ट हुआ मेढक नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जो राजा लोग स्त्रियो के घर मे प्रवेश करते है वे अपने प्राणो को नष्ट कर देते है, क्योकि स्त्रियाँ चचल प्रकृति के वशीभूत होकर उसे मार डालती है अथवा किसी अन्य व्यक्ति से उसका वध करा देती है (२४, ३१) ।

राजा का यह भी कर्तव्य है कि वह स्त्रियो के घर से आयी हुई किसी भी वस्तु का भक्षण न करे (२४, ३२) । उसे भोजनादि के कार्य में स्त्रियो को नियुक्ति नही करनी चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ चचलतावश अनर्थ कर सकती है (२४, ३३) । राजा को स्त्रियो पर कभी विश्वास नही करना चाहिए, क्योंकि वशीकरण, उच्चाटन और स्वच्छन्दता चाहने वाली स्त्रियाँ सभी प्रकार का अनर्थ कर सकती है (२४, ३४) । आचार्य सोमदेव ने अपने मत की पुष्टि के लिए कुछ ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किये है । वे लिखते है कि इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यवन देश मे स्वच्छन्द वृत्ति चाहने वाली मणिकुण्डला नाम की पटरानी ने अपने पुत्र के राज्यार्थ अपने पति अगराज को विषदूषित मदिरा से मार डाला । इसी प्रकार सूरसेन को वसन्तमति नाम की स्त्री ने विष से रगे हुए अधरो से, सुरतविलास नामक राजा को, वृकोदरी ने दशार्ण (भेलसा) मे विषलिप्त करधनी से, मदनार्णव राजा को मदिराक्षी ने मगध देश में तीखे दर्पण से, मन्मथविनोद को और पाण्ड्य देश मे चण्डरसा नामक रानी ने केशपाश में छिपी हुई कटारी से पुण्डरीक नामक राजा को मार डाला (२४,३५-३६) । आचार्य के कथन का अभिप्राय यही है कि राजा को स्त्रियो पर कभी विश्वास नही करना चाहिए और न उन में अधिक आसक्ति ही रखनी चाहिए तथा उन के घर में कभी प्रवेश नही करना चाहिए ।

कुटुम्बीजनो का सरक्षण भी राजा के विनाश का कारण होता है । इस विषय

में सोमदेव लिखते हैं कि जब राजा अपने निकटवर्ती कुटुम्बीजनो को उच्च पदों पर नियुक्त कर के जीवन पर्यन्त प्रचुर धन आदि देकर उन का सरक्षण करता है, तब अभिमान वश वे राज्यलोभ से राजा के घातक बन जाते हैं (२४, ५८)। राजा द्वारा जब सजातीय कुटुम्बियो के लिए सैन्य व कोश बढाने वाली जीविका प्रदान कर दी जाती है तब वे अभिमानी हो जाते हैं। जिस का परिणाम भयंकर होता है। वे शक्ति-शाली होकर व राज्यलोभ से राजा के वध की सोचने लगते हैं (२४, ५९)। अत उन्हें इस प्रकार की जीविका कदापि नही देनी चाहिए।

राजा को अपने ऊपर श्रद्धा रखने वाले, भक्ति के बहाने से कभी विरुद्ध न होने वाले, नम्र, विश्वसनीय एव आज्ञाकारी सजातीय कुटुम्बी तथा पुत्रो का सरक्षण करते हुए उन्हें उच्च पदो पर नियुक्त करना चाहिए (२४, ६१-६२)।

राजा को असशोधित मार्ग में कभी गमन नही करना चाहिए (२५, ८४)। उस को मन्त्री, वैद्य तथा ज्योतिषी के बिना कभी किसी अन्य स्थान को प्रस्थान नही करना चाहिए (२५, ८७)। राजा को चाहिए कि वह अपनी भोजन सामग्री को भक्षण करने से पूर्व अग्नि मे डालकर उस की परीक्षा कर ले और यह देख ले कि कही अग्नि से नीली लपटें तो नही निकल रही है। यदि ऐसा हो तो समझ लेना चाहिए कि वह सामग्री विषयुक्त है (२५, ८८)। इसी प्रकार वस्त्रादि की भी परीक्षा अपने आप्त पुरुषो से कराते रहना चाहिए। ऐसा करने से राजा का जीवन सदैव विघ्न-बाधाओ से सुरक्षित रहता है (२५, ८९)। राजा को अपने महलो में कोई ऐसी वस्तु प्रविष्ट नही होने देनी चाहिए और न वहाँ से बाहर ही जाने देनी चाहिए जिस की परीक्षा प्रमाणित पुरुषो द्वारा न कर ली गयी हो एव परीक्षा द्वारा निर्दोष सिद्ध न कर दी गयी हो (२५, ११३)। अधिक लोभ, आलस्य और विश्वास भी राजा के लिए घातक है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि बृहस्पति के समान बुद्धिमान् पुरुष भी अधिक लोभ, आलस्य और विश्वास करने से मृत्यु को प्राप्त होता है अथवा ठगा जाता है (२६, १)। राजा अभिमानी सेवको को कभी नियुक्त न करे और स्वामिभक्त सेवको का कभी परित्याग न करे (२६, ३९-४०)।

शत्रुओ से राजा को किस प्रकार अपनी रक्षा करनी चाहिए इस सम्बन्ध में भी सोमदेव ने कुछ निर्देश दिये हैं। वे लिखते हैं कि बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर राजा को या तो अन्यत्र चले जाना चाहिए अथवा उस से सन्धि कर लेनी चाहिए। अन्यथा उस की रक्षा का कोई उपाय नही है (२६, २)। जो पुरुष शत्रुओ द्वारा की जाने वाली वैर-विरोध की परम्परा को साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नैतिक उपायो से नष्ट नही करता उस की वशवृद्धि कदापि नही हो सकती (२६, १८)। जिस प्रकार बिना नौका के केवल भुजाओं से समुद्र पार करने वाला व्यक्ति शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है उसी प्रकार दुर्बल राजा बलिष्ठ के साथ युद्ध करने से शीघ्र नष्ट हो जाता है (२७, ६६)। अत निर्बल को सबल शत्रु के साथ कभी युद्ध नही करना चाहिए।

आचार्य सोमदेव राजा को उसी समय युद्ध करने का परामर्श देते हैं जब अन्य सभी उपाय असफल हो गये हो (३०, २५)।

आचार्य कौटिल्य ने भी राजा की रक्षा के सम्बन्ध में बड़े विस्तार के साथ अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र मे महत्त्वपूर्ण उपायों का वर्णन किया है। उन्होंने उन सभी बातो पर प्रकाश डाला है जिन से राजा को सचेत रहने की आवश्यकता है तथा जिन की उपेक्षा करने से उस के प्राण सकट मे पड सकते हैं।[1]

मनु ने भी राजरक्षा के विषय मे महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये हैं। राजा को चाहिए कि वह सम्पूर्ण भोज्य पदार्थों में विष-नाशक औषधि नियोजित करे। इस के अतिरिक्त विष-नाश करने वाले रत्नो का भी सर्वथा धारण करे। मनु ने राजा के आत्मरक्षा के सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं कि सकटकाल के निवारणार्थ राजा को कोश की रक्षा करनी चाहिए। अपनी स्त्री की रक्षा धन की हानि सहकर भी करनी चाहिए, परन्तु अपनी रक्षा धन और स्त्री का बलिदान कर के भी करनी चाहिए। अपनी रक्षा के लिए यदि अपनी भूमि का भी त्याग करना पडे तो वह भी करना चाहिए, चाहे वह भूमि उपजाऊ और हर प्रकार की सम्पदादायक क्यो न हो।[2]

इस प्रकार सभी आचार्यों ने राजा की रक्षा को बहुत महत्त्व प्रदान किया है क्योकि राजा की रक्षा मे ही सब की रक्षा है, जैसा कि आचार्य सोमदेव का मत है (२४, १)।

राजा का उत्तराधिकारी

आचार्य सोमदेव ने इस बात की ओर भी सकेत किया है कि राजा का उत्तराधिकारी किन-किन गुणो से विभूषित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि जो राजपुत्र कुलीन होने पर भी संस्कारो, नीतिशास्त्रो का अध्येता और सदाचार आदि गुणो से रहित है उसे राजनीति के विद्वान शाण पर न चढे हुए रत्न के समान युवराज-पद पर आरूढ होने के योग्य नही मानते (५, ३९)। इस का अभिप्राय यही है कि राजपुत्र को राजनीतिक ज्ञान और सदाचार रूप सस्कारो से सुसस्कृत होना चाहिए, जिस से वह युवराजपद पर आरूढ़ होने के योग्य हो सके। शारीरिक मनोज्ञाकृति, पराक्रम, राजनीतिकज्ञान, प्रभाव (सैन्य व कोश शक्ति से युक्त) और विनम्रता राजकुमारो मे विद्यमान ये सद्गुण उन्हे भविष्य मे प्राप्त होने वाली राज्यश्री के सूचक चिह्न हैं (१५, ९)।

सोमदेव ने राजकुमारो की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। राजकुमार को पहले सार्वजनिक सभाओ के योग्य भाषणकला मे कुशल बनाये, तत्पश्चात् समस्त भाषाओ की शिक्षा, गणित,साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीतिशास्त्र, रत्नपरीक्षा, शस्त्रविद्या, हस्ती और अश्वादि वाहनविद्या मे अच्छी प्रकार दक्ष बनाये (११, ४)। जिन राजकुमारो

१ कौ० अर्थ० १, २०-२१।
२ मनु० ७, २१७-२०।

को शिष्ट पुरुषों द्वारा विनय, सदाचार आदि की शिक्षा दी गयी है उन का वश वृद्धि-गत होता है तथा राज्य दूषित नही होता (२४, ७३)। जिस प्रकार घुन से खायी हुई लकड़ी नष्ट हो जाती है उसी प्रकार दुराचारी व उद्दण्ड व्यक्ति को राजपद पर नियुक्त करने से राज्य नष्ट हो जाता है (२४, ७४)। जो राजकुमार वशपरम्परा से चले आये निजी विद्वानों द्वारा विनय व सदाचार आदि की नैतिक शिक्षा से सुशिक्षित व सुसंस्कृत किये जाकर वृद्धिगत किये गये हैं एव जिन का लालन-पालन सुखपूर्वक हुआ है वे कभी अपने माता-पिता से द्रोह नही करते (२४, ७५)। उत्तम माता-पिता का मिलना भी राजकुमारों के श्रेष्ठ भाग्य का द्योतक है (२४, ७६)। अर्थात् यदि उन्होंने पूर्वजन्म मे पुण्य सचय किया है तो वे माता-पिता द्वारा राज्यश्री प्राप्त करते हैं और उन को श्रेष्ठ माता-पिता को उपलब्धि होती है। माता-पिता का पुत्रो के प्रति महान् उपकार होता है, इसलिए सुखाभिलाषी पुत्रो को अपने माता पिता का मन से भी तिरस्कार नही करना चाहिए फिर प्रकृति रूप से तिरस्कार करना तो महा अनर्थ है (२४, ७८)। पुत्र को किसी भी कार्य में पिता की आज्ञा का उल्लघन नही करना चाहिए। सोमदेव का कथन है कि वे राजपुत्र निश्चयपूर्वक सुखी माने गये हैं जिन के पिता राज्य की बागडोर सँभाले हुए हैं, क्योकि वे राजपुत्र राज्य के भार को सँभालने से निश्चिन्त रहते है (२४, ८४)।

आचार्य सोमदेव ने उत्तराधिकार के नियमो की ओर भी कुछ सकेत किया है। वे लिखते हैं कि राजपुत्र, राजा का भाई, पटरानी के अतिरिक्त दूसरी रानी का पुत्र, राजकुमारी का पुत्र, बाहर से आकर राजा के पास रहने वाला दत्तकपुत्र आदि इन सात प्रकार के राज्याधिकारियो मे से सब से पहले राजकुमार को और उस के न रहने पर भाई आदि को यथाक्रम राज्याधिकार प्राप्त होना चाहिए (२४,८८)। शुक्र का भी उत्तराधिकार के सम्बन्ध में यही मत है।[1] सोमदेव का कथन है कि अपनी जाति के योग्य गर्भाधान आदि सस्कारो से हीन पुरुष को राजप्राप्ति एव दीक्षा धारण करने का अधिकार नही है (२४, ७१)। आगे वे लिखते है कि राजा की मृत्यु हो जाने पर उस का अगहीन पुत्र भी उस समय तक राज्याधिकार प्राप्त कर सकता है जबतक कि उस अगहीन पुत्र की दूसरी कोई योग्य सन्तान न हो जाये (२४, ७२)।

इस प्रकार सोमदेव अंगहीन पुत्र को भी उस समय तक राज्य का अधिकार देने के पक्ष में हैं जबतक कि उस को कोई योग्य सन्तान राज्यभार सँभालने के योग्य न हो जाये। यह बात आचार्य की प्रगतिशीलता एव व्यावहारिक राजनीतिज्ञता की द्योतक है। अन्य आचार्य शारीरिक दोष वाले राजकुमार को राज्याधिकार प्रदान करने के पक्ष में नही हैं। मनु का कथन है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र किसी शारीरिक अथवा मानसिक दोष

---

१ शुक्र—नीतिवा०, पृष्ठ २४६।
सुत सोदरसापत्नपितृव्या गोत्रिणस्तथा।
दौहित्रागन्तुका योग्य पदे राज्ञो यथाक्रमम्॥

से ग्रसित है तो उस को राज्याधिकार नही मिलना चाहिए, अपितु उस के छोटे भ्राता को राज्य सिंहासन पर आसीन कर देना चाहिए।[1] महाभारत के आदिपर्व में इस प्रकार का वर्णन आता है कि धृतराष्ट्र के अन्धा होने के कारण ही उन्हें राज्य सिंहासन प्राप्त नही हुआ और उन के स्थान पर उन के छोटे भाई पाण्डु को राजा बनाया गया।[2] शुक्रनीति मे इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है कि यदि ज्येष्ठ राजकुमार बहरा, अन्धा, गूंगा तथा नपुसक हो तो ऐसी स्थिति मे वह राज्याधिकार के सर्वथा अयोग्य है और उस के कनिष्ठ भ्राता अथवा पुत्र को उस के स्थान पर सिंहासनासीन करना चाहिए।[3]

साधारणतया राजतन्त्र वंशानुगत ही था। शतपथब्राह्मण मे दस पीढ़ियों के वंशानुगत राज्याधिकार का वर्णन उपलब्ध होता है।[4] यद्यपि उत्तराधिकार वंशपरम्परागत था किन्तु ज्येष्ठता का नियम प्रधान माना जाता था अर्थात् राजा की मृत्यु अथवा उस के द्वारा राज्य का त्याग करने के उपरान्त उस का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था। ऋग्वेद मे भी ज्येष्ठता के सिद्धान्त का वर्णन मिलता है।[5] रामायण के अयोध्याकाण्ड मे वशिष्ठ राम से कहते है कि इक्ष्वाकुओ में यही परम्परा रही है कि राजा की मृत्यु के पश्चात् अथवा राज्यत्याग के उपरान्त उस का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता है।[6] कौटिल्य तथा मनु भी ज्येष्ठता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं।[7]

ज्येष्ठ पुत्र उसी समय राज्याधिकार से वंचित किया जाता था जबकि वह किसी शारीरिक अथवा मानसिक व्याधि से ग्रसित होता था। कभी-कभी राजा अपने कनिष्ठ पुत्र को भी उस की योग्यता से प्रभावित होकर तथा ज्येष्ठ पुत्र के दुराचरण से तंग आकर राज्याधिकारी मनोनीत कर देते थे। इस बात के कई ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जबकि राजाओ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र की उपस्थिति मे ही छोटे पुत्र को अपने जीवन-काल मे ही उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। समुद्रगुप्त यद्यपि चन्द्रगुप्त प्रथम का छोटा पुत्र था, किन्तु उस की योग्यताओ से प्रभावित होकर ही चन्द्रगुप्त प्रथम ने उसी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।[8] इसी प्रकार समुद्रगुप्त ने भी अपने छोटे पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।[9]

१ मनु० ६, २०१।
२ महा० आदिपर्व १०६, २५।
३ शुक्र० १, ३४३-४४।
४ शतपथब्राह्मण।
५ ऋग्वेद।
६ रामायण-अयोध्याकाण्ड ७३, २२।
७ कौ० अर्थ० १, १७ तथा मनु० ४ १८४।
८ Gupta Inscriptions, P 6, Allahabad Pillar Inscription, Verse 4
९ Ibid

यद्यपि इस प्रकार के कुछ उदाहरण इतिहास में मिल जाते है किन्तु फिर भी प्राचीन भारत में ज्येष्ठता के सिद्धान्त की प्रधानता थी। राज्य का अधिकारी राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही होता था।

राजत्व के उच्च आदर्श

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओ ने राजा के आदर्शों की भी व्याख्या की है। प्राचीन काल में राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता और पुत्र के समान था, क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने राजत्व के इसी उच्च आदर्श का समर्थन किया था। आचार्य कौटिल्य का कथन है कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है तथा प्रजा के हित में ही राजा का हित है। स्वय को प्रिय लगने वाले कार्यों का करना राजा का हित नही, अपितु प्रजा के प्रिय कार्यों का करना ही राजा का सब से बडा हित है।[1] इस प्रकार आचार्य कौटिल्य प्रजा-हित को ही सब से अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं और उसी में राजा का हित बताते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में बृहस्पति के दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिन मे से प्रथम का आशय इस प्रकार है—सम्पूर्ण कर्तव्यो को पूर्ण कर के पृथ्वी का भली-भाँति पालन तथा नगर एव राष्ट्र की प्रजा का सरक्षण करने से राजा परलोक में सुख प्राप्त करता है। द्वितीय श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—जिस राजा ने अपनी प्रजा का अच्छी तरह पालन किया है, उसे तपस्या से क्या लेना है ? उसे यज्ञो का भी अनुष्ठान करने की क्या आवश्यकता है ? वह तो स्वयं ही सम्पूर्ण धर्मों का ज्ञाता है।[2] इन श्लोको में भी प्रजाहित को राजा का सब से महान् एव कल्याणकारी कर्तव्य बताया गया है। आचार्य सोमदेवसूरि भी राजत्व के प्राचीन आदर्शों में आस्था रखते हैं। उन का कथन है कि प्रजा पालन ही राजा का यज्ञ है, प्राणियो का बध करना नही (२६, ६८)। वे प्रजारजन के पक्ष को सब से अधिक महत्त्व देते है। राजा का प्रत्येक कार्य जनहित पर आधारित होना चाहिए और वह सदैव प्रजा के सुख एव समृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे ऐसा आचार्य का मत है। दुष्टनिग्रह तथा शिष्ट पुरुषों का पालन करना ही राजा का धर्म है (५, २)। आगे आचार्य लिखते है कि जो राजा प्रजा की रक्षा नही करता वह राजा नही है (७, २१)। राजा के लिए दानादि अन्य धर्म तो गौण है उस के लिए किसी व्रत की चर्या धर्म नही है। अन्यत्र सोमदेव लिखते हैं कि राजा वृद्ध, बालक, व्याधित और रोगी पशुओं का बान्धवो के समान पोषण करे (८, ९)। इस प्रकार आचार्य की करुणा केवल मानवमात्र तक ही सीमित नही है, अपितु पशुओं के प्रति भी उन की सहानुभूति है। राजा प्रजाकार्यों को स्वय ही देखे, उन्हे राजकर्मचारियों पर कभी न छोडे (१७, ३२)। यदि राजकर्मचारियो पर प्रजाकार्य

---

१ कौ० अर्थ० १, १९।
प्रजासुखे सुखं राज्ञ प्रजाना च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हित राज्ञ प्रजानां तु प्रिय हितम्॥

२ महा० शान्ति०, ६९, ७२-७३।

छोड़ दिया जायेगा तो प्रजा का हित न हो सकेगा। राजा समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझे (१७, ४९)। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कुटुम्ब के सुख दु.ख, हानि-लाभ की चिन्ता में निरत रहता है, उसी प्रकार राजा को भी भूमण्डल के प्राणियो की रक्षा, पालन-पोषण अपने कुटुम्ब के समान ही करना चाहिए। आचार्य सोमदेव का यह भी कथन है कि राजा देव, गुरु एव धर्म-कार्यों को भी स्वय ही देखे (२५, ६५)। इस प्रकार आचार्य सोमदेव प्रजा की हर प्रकार से रक्षा करने तथा उस का सवर्धन करने पर विशेष बल देते है और इसी को राजा का सब से बडा धर्म बताते हैं। वे पितृत्व के सिद्धान्त में भी विश्वास रखते है और राजा को आदेश देते हैं कि उसे प्रजा का पालन अपने कुटुम्ब के समान ही करना चाहिए। राजकार्य में जिन व्यक्तियो का प्राणान्त हो गया हो उन के परिवार के पालन-पोषण का भार भी सोमदेव राजा पर ही छोडते हैं तथा ऐसा न करने वाले राजा का वे उन मृतको के ऋण का भाजन बतलाते हैं (३०, ९३)।

समस्त प्राचीन धर्मशास्त्रो एव अर्थशास्त्रो मे राजा का जन्म ही प्रजा की सेवा एव उस का हर प्रकार से हित चिन्तन करने के लिए बतलाया गया है। महाभारत मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का सा व्यवहार होना चाहिए।[१] जैसे गर्भवती स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले पदार्थो आदि का परित्याग कर के केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा को भी प्रजा के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। कुरुश्रेष्ठ, राजा अपने को प्रिय लगने वाले विषय का परित्याग कर के जिस मे सब लोगो का हित हो वही कार्य करे।[२] महाभारत मे ही अन्यत्र ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है कि राजा धर्म का पालन और प्रचार करने के लिए ही होता है, विषय सुखो का उपभोग करने के लिए नही। मान्धाता तुम्हे यह जानना चाहिए कि राजा सम्पूर्ण जगत् का रक्षक है और यदि वह धर्माचरण करता है तो देवता बन जाता है और यदि अधर्म करता है तो नरकगामी होता है। सम्पूर्ण प्राणी धर्म के आधार पर स्थित है और धर्म राजा के ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा भली-भाँति धर्म का पालन और उस के अनुकूल शासन करता है वही दीर्घकाल तक इस पृथ्वी का स्वामी बना रहता है।[३] इस प्रकार महाभारत में राजा को सम्पूर्ण जगत् का रक्षक तथा धर्म का धारण करने वाला बतलाया गया है। मार्कण्डेयपुराण मे राजा मरुत की दादी उस को राजधर्म का उपदेश देती हुई कहती है कि राजा का शरीर सुखो का उपभोग करने के लिए नही

---

१ महा० शान्ति० ५६, ४४।
भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा।

२ वही, ५६, ४५-४६।

३ वही, ९०, ३-५।

होता अपितु वह पृथ्वी की रक्षा में सलग्न रहने तथा अपने कर्तव्यों के पालन करने के लिए ही होता है।[1]

प्राचीन आचार्यों ने राजा को पितृवत् शासन करने का आदेश दिया है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि राजा को अपनी प्रजा तथा सेवको के साथ पिता के समान आचरण करना चाहिए।[2] रामायण में भी ऐसा वर्णन आता है कि राम ने अपनी प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार किया।[3] सम्राट् अशोक ने राजा के पितृत्व के आदर्श को चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। द्वितीय कलिंग लेख से विदित होता है कि उस ने अपने शासन में पितृत्व के सिद्धान्त को किस सीमा तक व्यवहृत किया। वह कहता है कि सारे मनुष्य मेरी सन्तान हैं। जिस प्रकार मैं अपनी सन्तति को चाहता हूँ कि वह सब प्रकार की समृद्धि और सुख इस लोक और परलोक में भोगे ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा के सुख एव समृद्धि की भी कामना करता हूँ। यह पितृत्व का उत्तरदायित्व केवल राजा तक ही सीमित नही था, अपितु अशोक ने अपने राजकर्मचारियो को भी यह आदेश दे रखा था कि वे प्रजा की भलाई का पूर्ण ध्यान रखें और उस से पुत्रवत् ही व्यवहार करें। चतुर्थ स्तम्भ लेख में वह कहता है, 'जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने पुत्र को एक कुशल धाय के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि यह धाय मेरे पुत्र को सुख पहुँचाने की भरसक चेष्टा करेगी, उसी प्रकार लोगो के हित तथा उन्हे सुख पहुँचाने के लिए मै ने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।"

इस प्रकार अपने उत्तरदायित्वो को समझने वाला राजा वास्तविक रूप में वर्तमान प्रजातन्त्र के उत्तरदायी भवनो एव राजकर्मचारियो से कही अधिक उत्तरदायी है और प्रजा का वास्तविक प्रतिनिधि है। वास्तव में राजा और प्रजा वैधानिक एकता के आवश्यक अग है। आचार्य सोमदेवसूरि द्वारा राज्य की परिभाषा मे भी प्रजा-पालन का आदर्श निहित है। वे कहते हैं कि राजा का पृथ्वीपालनोचित कर्म राज्य है (५, ४)। इसी प्रकार वे राज्य का अन्तिम लक्ष्य भी प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति बतलाते हैं (पृ० ७)। इस प्रकार सोमदेव प्रजा की सर्वतोमुखी उन्नति करना राज्य का उद्देश्य बतलाते है। राजा को प्रजा के सम्मुख उच्च आदर्श उपस्थित करना चाहिए, जिस से प्रजा का नैतिक उत्थान हो सके। राजा के विकृत एव अ-धार्मिक हो जाने पर प्रजा भी विकारग्रस्त तथा अधार्मिक हो जाती है (१७, २८-२९)। आचार्य सोमदेव का आदेश है कि राजा को सर्वदा मर्यादा का पालन करना चाहिए

---

१ मार्कण्डेय० १३०, ३३-३४।
राज्ञः शरीरग्रहण न भोगाय महीपते।
क्लेशाय महते पृथ्वीस्वधर्मपरिपालने॥

२ याज्ञ० १, ३३४

३ रामायण—२, २, ३६

क्योंकि मर्यादा का अतिक्रमण करने से फलवती भूमि भी अरण्यतुल्य हो जाती है (१९, १९)। इस के विपरीत न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने से प्रजा को अभिलाषित फलों की प्राप्ति होती है, मेघ समय पर वर्षा करते हैं तथा सम्पूर्ण व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं (१७, ४५-४६)। आचार्य का यह भी कथन है कि राजा समय के परिवर्तन का कारण होता है (१७, ५०)। सारे लोकपाल राजा का ही अनुकरण करते हैं इसी कारण राजा मध्यम लोकपाल होते हुए भी उत्तम लोकपाल कहलाता है (१७,४७)। सोमदेव का कथन है कि यदि समुद्र ही अपनी मर्यादा का उल्लंघन करने लगे और सूर्य अपना प्रकाशधर्म त्याग कर अन्धकार का प्रसार करने लगे तथा माता भी अपने बच्चे का पालनरूप धर्म छोडकर उस का भक्षण करने लगे, तो उन्हें कौन रोक सकता है (१७, ४४)। इसी प्रकार राजा भी यदि अपना धर्म (शिष्ट-पालन तथा दुष्ट निग्रह) छोडकर प्रजा के साथ अन्याय करने लगे तो उसे दण्ड देने वाला कौन हो सकता है, अर्थात् कोई नही। अत राजा को प्रजा के साथ कभी अन्याय नही करना चाहिए। यदि राजा हो दुष्टो की सहायता करने लगे तो फिर प्रजा का कल्याण किस प्रकार हो सकता है (१७, ४८)।

इस प्रकार आचार्य सोमदेव ने राजत्व के उच्च-आदर्श अपने ग्रन्थ में व्यक्त किये है। वे राजा को धर्म का आचरण करने, मर्यादा का पालन करने तथा प्रजा की हर प्रकार से रक्षा करने और उस का पालन-पोषण अपने कुटुम्ब के समान करने का आदेश देते है।

●

मन्त्रिपरिषद्

राजशासन मे मन्त्रिपरिषद् का महत्त्व

राज्य की प्रकृतियो मे राजा के पश्चात् द्वितीय स्थान मन्त्रियो को प्रदान किया गया है। मन्त्रियो के सत्परामर्श पर ही राज्य का विकास, उन्नति एव स्थायित्व निर्भर है। भारतीय मनीषियो ने मन्त्रियो को बहुत महत्त्व दिया है। उन की उपयोगिता के कारण ही समस्त आचार्यों ने राजा को मन्त्रियों की नियुक्ति करने का आदेश दिया है। साधारण कार्यों मे भी एक व्यक्ति की अपेक्षा दो व्यक्तियों का उस पर विचार करना श्रेष्ठ बताया जाता है फिर राजकार्य तो बहुत जटिल होते हैं तब उन्हे अकेला राजा किस प्रकार कर सकता है। आचार्य सोमदेव ने भी मन्त्रियों एव अमात्यो को राज्य-शासन मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है तथा उन के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग किया है (१०, १६७)। सोमदेव के कथनानुसार जो राजा मन्त्री, पुरोहित और सेनापति द्वारा निर्धारित किये हुए धार्मिक और आर्थिक सिद्धान्तो का पालन करता है वह आहार्यबुद्धि वाला है (१०, १)। गुरु का कथन है कि जो राजा मन्त्री, पुरोहित तथा सेनापति के हितकारी वचनो को नही मानता वह दुर्योधन राजा की तरह नष्ट हो जाता है।[१] मन्त्री और पुरोहित को राजा का हितैषी होने के कारण सोमदेव ने उन्हें राजा के माता-पिता के समान बतलाया है (११, २)। मूर्ख और असहाय राजा भी सुयोग्य मन्त्रियो के परामर्श एव अनुकूलता से शत्रुओ द्वारा अजेय हो जाता है (१०,३)। सोमदेव ने अपने कथन की पुष्टि मे एक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किया है। वे कहते है कि इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्वय राज्य का अधिकारी न होते हुए विष्णुगुप्त के अनुग्रह से राजपद प्राप्त कर लिया (१०, ४)। जो राजा मन्त्रियो के हितकारक वचनो की अवहेलना करता है वह निश्चय ही नष्ट हो जाता है (१०, ५८)। अन्यत्र आचार्य लिखते हैं कि जो राजा मन्त्रियों की नियुक्ति नही करता और स्वच्छन्द रूप से शासन करता है वह अपने राज्य को नष्ट कर देता है (१०, १४३)। सोमदेव का कथन है कि युक्तियुक्त वचन तो बालक से भी ग्रहण

---

१ गुरु-नीतिवा० पृ० १०६।
यो राजा मन्त्रिपूर्वाणा न करोति हित वच।
स शीघ्र नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृप॥

कर लेने चाहिए (१०, १५५)। बहुत सहायकों वाले राजा के सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाते हैं तथा उस की अभिवृद्धि होती है (१०, ८१)।

अमात्यों का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए सोमदेव लिखते हैं कि राजा चतुरंग बल से युक्त होकर भी अमात्यो के बिना राजा नही रह सकता (१८, १)। जिस प्रकार रथ का एक चक्र दूसरे चक्र की सहायता के बिना नही घूम सकता उसी प्रकार अकेला राजा भी अमात्यों की सहायता के बिना राज्य रूपी रथ का सचालन नही कर सकता (१८, ३)। आचार्य कौटिल्य ने भी ठीक इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।[१] आगे सोमदेव लिखते है जिस प्रकार अग्नि ईंधन युक्त होने पर भी हवा की सहायता के बिना प्रज्वलित नही हो सकती उसी प्रकार बलिष्ठ व सुयोग्य राजा भी बिना सहायको के राज्य सचालन में सफलता प्राप्त नही कर सकता (१८, ४)।

उक्त बातो का तात्पर्य यही है कि राजा को अकेले कोई भी कार्य नही करना चाहिए। उसे सुयोग्य मन्त्रियो एवं अमात्यो को नियुक्ति करनी चाहिए तथा प्रत्येक राज-कार्य में उन का परामर्श मानना चाहिए। स्वच्छन्द प्रकृति से राज्य नष्ट हो जाता है।

अन्य राज्यशास्त्र प्रणेताओ ने भी मन्त्रियो की नियुक्ति एव उन के परामर्श से शासन का सचालन करने पर विशेष बल दिया है। मनु का कथन है कि जो राजा समस्त कार्यो को अकेला ही करने का प्रयत्न करता है वह मूर्ख है।[२] मनु का यह विधान है कि राजा को मन्त्रियो की नियुक्ति अवश्य करनी चाहिए तथा राज्य के साधारण एव असाधारण कार्यों पर उन्ही के साथ मिलकर विचार-विमर्श करना चाहिए।[३] समस्त राज्य के कार्यों का तो कहना ही क्या, एक साधारण कार्य भी राजा को अकेले नही करना चाहिए।[४] आचार्य विशालाक्ष का मत है कि अकेले किसी भी मनुष्य के विचार करने से मन्त्र-सिद्धी नही होती, क्योकि राज्यकार्य प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान प्रमाण के आधार पर चलता है। तात्पर्य यह है कि राजकार्य सहाय-साध्य होता है। अज्ञात बात का ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञात का निश्चय करना, निश्चित बात को दृढ़ बनाना, मतभेद के समय उपस्थित सन्देह को निवृत्त करना, किसी विषय के अश का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर शेष अश का अनुमान करना, यह सब कार्य मन्त्रियो की सहायता से ही सिद्ध हो सकते है। अत बुद्धिमान् मन्त्रियो के साथ बैठकर ही राजा को मन्त्रणा करनी चाहिए।[५] शुक्र का मत है कि सुयोग्य राजा भी समस्त बातें नही समझ सकता, पुरुष-पुरुष मे बुद्धिवैभव पृथक् पृथक् होता है, अत राज्य की उन्नति

---

१ कौ० अर्थ० ७, १५।
२ मनु० ७, ३०-३१।
३. वही, ७, ५४-५७।
४ वही, ७, ३० ३१ एव ७, ५५-५६।
५ कौ० अर्थ १, १५।

चाहने वाला राजा सुयोग्य मन्त्रियों का निर्वाचन करे अन्यथा राज्य का पतन अवश्य-म्भावी है।[1] कात्यायन का तो कथन यहाँ तक है कि राजा को अकेले बैठ कर किसी अभियोग का निर्णय नही करना चाहिए और अमात्यो एव सभ्यों आदि के साथ बैठ कर ही मुकदमो अथवा अभियोगो का निर्णय करना चाहिए।[2] आचार्य कौटिल्य का कथन है कि जब कोई कठिन समस्या उपस्थित हो जाये अथवा प्राणो तक का भय हो तो मन्त्रियो एव मन्त्रिपरिषद् को बुला कर राजा उन से सब कुछ कहे और उन का परामर्श ले। उन में से अधिक मन्त्री जिस बात को कहें, अथवा जिस उपाय का शीघ्र ही कार्य की सिद्धि वाला बतायें, राजा को चाहिए कि उसी उपाय का अनुष्ठान करे।[3] मन्त्रिपरिषद् का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में एक हजार ऋषि थे। वे ही कार्यों के द्रष्टा होने के कारण इन्द्र के चक्षु के समान थे। इसलिए इस दो नेत्र वाले इन्द्र को भी सहस्राक्ष कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक राजा को अपनी मन्त्रिपरिषद् मे सामर्थ्यानुसार अनेक मन्त्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए।[4] इस प्रकार राजतन्त्र का महान् समर्थक कौटिल्य भी राजा को यही आदेश देता है कि उस को मन्त्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए तथा प्रत्येक प्रश्न पर परिषद् से विचार विमर्श करने के उपरान्त बहुमत के आधार पर कार्य करना चाहिए।

मन्त्रिपरिषद् की रचना

नीतिवाक्यामृत में मन्त्रिपरिषद् के सम्बन्ध में मन्त्री एवं अमात्य शब्दो का प्रयोग हुआ है। अन्य राज्यशास्त्र प्रणेताओ ने अमात्य का उल्लेख राज्य की प्रकृति के रूप में किया है और सप्ताग राज्य में अमात्य को भी राज्य की एक प्रकृति माना है। परन्तु आचार्य सोमदेव ने अमात्य और मन्त्री में कुछ भेद प्रदर्शित किया है। इसी उद्देश्य से उन्होने मन्त्री एव अमात्य दो पृथक् समुद्देशो की रचना की है। मन्त्री पुरोहित और सेनापति की चर्चा मन्त्री समुद्देश में की है तथा अमात्य की अमात्य समुद्देश में। सम्भवत सोमदेव ने मन्त्री शब्द का प्रयोग प्रधानमन्त्री एव अन्तरग परिषद् के मन्त्रियो के लिए किया है तथा अमात्य शब्द का प्रयोग मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों एव उच्च राज्याधिकारियो के लिए किया है। अमात्य की परिभाषा देते हुए आचार्य लिखते है कि जो राजा द्वारा प्रदत्त दान-सम्मान प्राप्त कर कर्तव्य पालन में उत्कर्ष व अपकर्ष करने से क्रमश राजा के सुख-दुःख मे भागी होते हैं उन्हें अमात्य कहते है (१८, १५)। अतः राजकार्यों मे सहायता प्रदान करने वाले अधिकारी को सोमदेव ने अमात्य कहा है। कामन्दक तथा अग्निपुराण में भी अमात्य की परिभाषा

---

१ शुक्र० २, ८१।

२ वीरमित्रोदय—पृ० १४।

३ कौ० अर्थ० १, १५।

४ वही, इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद्-ऋषीणा सहस्रम्। स तच्चक्षु। तस्मादिम द्वयक्ष सहस्राक्षमाहु। यथासामर्थ्यमिति कौटल्य। ते ह्यस्य स्वपक्ष परपक्ष च चिन्तयेयु।

१२

इसी प्रकार दी गयी है।[1] सोमदेव के अनुसार आयव्यय, स्वामिरक्षा, तन्त्रपोषण तथा सेना की उचित व्यवस्था करना अमात्य का अधिकार बतलाया है (१८, ६)।

आचार्य कौटिल्य ने मन्त्री एव अमात्य का भेद अर्थशास्त्र में स्पष्ट कर दिया है। कौटिल्य अमात्य आदि के सम्बन्ध मे अन्य आचार्यों के मत उद्धृत करने के उपरान्त अन्त में लिखते हैं कि भारद्वाज के सिद्धान्त से लगाकर अभी तक जो कुछ अमात्य के सम्बन्ध में कहा गया है वह सब ठीक है, क्योंकि पुरुष के सामर्थ्य की व्यवस्था, उन के कार्यों के सफल होने पर तथा उन की विद्याबुद्धि के बल पर ही की जा सकती है। इस लिए राजा सहाध्यायी आदि का भी सर्वथा परित्याग न करे, किन्तु इन सब को ही उन की कार्यक्षमता के अनुसार उन की बुद्धि आदि गुण, देश, काल तथा कार्यों का अच्छी तरह विवेचन कर के अमात्य पद पर नियुक्त करे, परन्तु इन को अपना मन्त्री कदापि न बनावे।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि अमात्य मन्त्रिपरिषद् के सदस्य होते थे, किन्तु उन को मन्त्रणा का अधिकार प्राप्त नही था। मन्त्रणा केवल सर्वगुणसम्पन्न, पूर्णरूपेण परीक्षित एव विश्वसनीय मन्त्रियो से ही की जाती थी। परीक्षोपरान्त अमात्यो में से ही मन्त्री नियुक्त किये जाते थे। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की सख्या तो अधिक होती थी, किन्तु अन्तरग परिषद् मे केवल तीन या चार मन्त्री होते थे और उन्ही के साथ राजा गूढ़ विषयो पर मन्त्रणा करता था। महाभारत से भी इस बात की पुष्टि होती है।[3]

मन्त्रियो की नियुक्ति

जिस प्रकार राजा का पद वंशानुगत था उसी प्रकार मन्त्रियों की नियुक्ति भी इसी सिद्धान्त के आधार पर होती थी। राजा के अन्य कर्तव्यो के साथ मन्त्रियो की नियुक्ति करना भी उस का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य समझा जाता था। राजा अपनी इच्छानुसार मन्त्रियो की नियुक्ति नही कर सकता था, अपितु उन की नियुक्ति करते समय धर्मशास्त्रो एव अर्थशास्त्रों में उन के सम्बन्ध मे निर्धारित नियमो को ध्यान में रखना परम आवश्यक था।

मन्त्रिपरिषद् के सदस्यो की योग्यता

मन्त्रियो की योग्यता अथवा गुणो के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों की भाँति सोमदेव ने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रधानमन्त्री के गुणो का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि राजा का प्रधानमन्त्री द्विज, स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन, व्यसनो से रहित,

---

१ कामन्दक १३, २३-२४ तथा अग्निपुराण २४१, १६-१८।
२ कौ० अर्थ० १, ८।
३ महा० शान्ति० ८३, ४७।

स्वामिभक्त, नीतिज्ञ, युद्ध-विद्याविशारद और निष्कपट होना चाहिए (१०, ५)। इन गुणों से विभूषित प्रधानमन्त्री के सहयोग से ही राज्य की श्रीवृद्धि हो सकती है, ऐसा आचार्य का विचार था। आचार्य कौटिल्य ने भी प्रधानमन्त्री के गुणों का वर्णन इसी प्रकार किया है। कौटिल्य लिखते हैं कि प्रधानमन्त्री में निम्नलिखित गुण होने चाहिए—"राजा के ही देश में उत्पन्न, उत्तमकुल में जायमान, जो अपने को तथा और को बुराई से दूर रख सके, शिल्प तथा सगीत आदि में पारगत, अर्थशास्त्र रूपी सूक्ष्म दृष्टि से सम्पन्न, प्रखरबुद्धि वाला, प्राचीन घटनाओ की स्मरणशक्ति से युक्त, शीघ्र कार्य पूर्ण करने में समर्थ, वाक्पटु, किसी भी विषय को भली-भाँति व्यक्त करने के साहस से सम्पन्न, युक्तियो तथा तर्कों द्वारा अपनी बात समझाने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, कष्टसहिष्णु, पवित्र आचरण वाला, स्नेही, राजा अथवा स्वामी के प्रति भक्ति रखने वाला, शीलवान्, बलवान्, आरोग्यवान्, धैर्यवान्, गर्वरहित, चपलताशून्य, सौम्याकृति वाला और शत्रुत्व भाव से रहित पुरुष ही प्रधान मन्त्री बनने के योग्य होता है। जिन में उपर्युक्त गुणो का एक चतुर्थांश कम हो वे मध्यम श्रेणी के और जिन में आधे गुण हो वे निम्न श्रेणी के मन्त्री माने जाते हैं।"[1] मनु, कामन्दक, शुक्र तथा याज्ञवल्क्य आदि ने भी मन्त्रियो की योग्यताओ के विषय मे पर्याप्त प्रकाश डाला है।[2]

१. द्विजाति का विधान—सोमदेवसूरि ने प्राचीन आचार्यो की भाँति ही द्विजवर्ण के पुरुषो को ही मन्त्री पद पर नियुक्त करने का उल्लेख किया है (१०, ५)। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही इस पद पर नियुक्त किया जा सकता था। किन्तु शूद्र उपर्युक्त गुणो से सम्पन्न होने पर भी इस पद का अनधिकारी था। इस का कारण यह था कि द्विज वर्ण के लोगो में उच्च सस्कारों के कारण उक्त गुणो का सृजन स्वाभाविक रूप से होता है। यद्यपि सोमदेव का दृष्टिकोण बहुत विशाल था, किन्तु उन्होने शूद्र को इस पद पर नियुक्त करने का निषेध इसी कारण किया है कि वे वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था मे आस्थावान् थे, जिस के अनुसार शूद्र का धर्म द्विजाति की सेवा करना ही था।

२. कुलीनता—उच्चकुल मे उत्पन्न हुए व्यक्ति को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। उच्च कुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति से उत्तम आचरण की सम्भावना अधिक होती है। सोमदेव लिखते हैं कि नीचकुल वाला मन्त्री राजा से द्रोह कर के भी मोह के कारण किसी से भी लज्जा नहीं करता (१०, ८)। इस में तर्क यही है कि कुलीन व्यक्ति से यदि अज्ञानतावश कोई अपराध हो भी जाता है तो वह अवश्य ही लज्जित होता है, परन्तु नीच कुल वाला व्यक्ति निर्लज्ज होता है। इसलिए

१ कौ० अर्थ० १, ९।

२ मनु० ७, ५४, कामन्दक ४, २५-३०, शुक्र० २, ८-९, याज्ञ० १, ३१२-३१३।

वह कभी राजा का अनर्थ भी कर सकता है। नीचकुल वाले राजमन्त्री आदि कालान्तर में राजा पर आपत्ति आने पर पागल कुत्ते के विष की भाँति विरुद्ध हो जाते हैं (१०, १६)। कुलीन व्यक्ति की प्रशसा करते हुए सोमदेव लिखते है कि जिस प्रकार अमृत विष नहीं हो सकता, उसी प्रकार उच्चकुल वाला मन्त्री कभी विश्वासघात नही कर सकता (१०, १७)। शुक्र ने भी कुलीनता के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। वे लिखते हैं कि मन्त्रि-परिषद् के सदस्य उच्चकुल के होने चाहिए।[१] रामायण तथा महाभारत मे भी कुलीनता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।[२] मनु तथा याज्ञवल्क्य भी कुलीनता पेर बल देते हैं।[३] इस प्रकार प्राचीन भारत में उन्हीं व्यक्तियो को मन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता था जो अन्य गुणो के साथ ही उच्चवश से सम्बन्धित होते थे।

३ स्वदेश वासी—मन्त्री के लिए स्वदेशज की शर्त भी आवश्यक थी। यह सिद्धान्त आधुनिक युग में भी माना जाता है। सोमदेव का कथन है कि समस्त पक्षपातो मे अपने देश का पक्ष महान् होता है (१०, ६)। इस का यही अभिप्राय है कि मन्त्री अपने ही देश का होना चाहिए। विदेशी को यदि मन्त्री आदि उच्चपद पर नियुक्त कर दिया जायेगा तो प्रत्येक बात में वह अपने ही देश का पक्ष लेगा। इस प्रकृति से वह जिस राज्य में मन्त्री पद पर आसीन है उस का अहित भी कर सकता है। अत मन्त्री के लिए स्वदेशवासी होने का प्रतिबन्ध सभी आचार्यों ने लगाया है। महाभारत में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि विदेशी चाहे विभिन्न गुणो से विभूषित हो क्यो न हो, किन्तु उसे मन्त्र सुनने का अधिकार नही है। आगे यह भी लिखा है कि मन्त्रियो को स्वदेशवासी ही होना चाहिए।[४] आचार्य कौटिल्य भी इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं।

४ चारित्रवान्—उपर्युक्त गुणो के साथ ही मन्त्री के लिए सदाचारी होना भी परम आवश्यक था। व्यक्तित्व का प्रभाव जनता पर पड़ता है। व्यक्तित्व का निर्माण तथा उस का प्रभावशाली होना व्यक्ति के चरित्र पर ही निर्भर है। इसी हेतु मन्त्रियो के लिए चारित्रवान् होना भी एक आवश्यक योग्यता मानी गयी थी। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राजा सदाचारी होना चाहिए, अन्यथा उस के दुराचारी होने से राजवृक्ष का मूल (राजनीतिकज्ञान) और सैनिक सगठन आदि सद्गुणो के अभाव मे राज्य की क्षति अवश्यम्भावी है (१०, ७)।

स्मृतिकारो ने भी यह बात स्पष्ट रूप से लिखी है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य

---

१ शुक्र० २, ८।
२ रामायण अयोध्या काण्ड, १००, १५। महा० शान्ति० ८३, १६।
३ मनु०, ७, ५४ याज्ञ० १, ३१२ तथा ७—कौ० अर्थ० ८, ६।
४ महा० शान्ति० ८३, ३८।

सुपरीक्षित एवं चारित्रवान् व्यक्ति होने चाहिए।[1] महाभारत में भी मन्त्रियों की योग्यता के विषय में यह उल्लेख मिलता है कि सचिव ऐसे होने चाहिए जो काम, क्रोध, लोभ और भय आदि विकारों से ग्रसित होने पर भी धर्म का त्याग न करें।[2]

५. निर्व्यसनता—मन्त्री के लिए यह भी आवश्यक था कि वह सर्वथा निर्व्यसन हो। व्यसनग्रस्त मन्त्री किसी भी कार्य को ठीक प्रकार से नही कर सकता। उस से राज्य का हित कभी नही हो सकता, क्योकि वह व्यसनों का दास हो जाता है। व्यसनी व्यक्ति को उचित और अनुचित का भी ज्ञान नही रहता। आचार्य सोमदेव का कथन है कि जिस राजा का मन्त्री द्यूतक्रीडा, मद्यपान और परकलत्र सेवन आदि व्यसनो से अनुरक्त है वह राजा पागल हाथी पर आरूढ़ व्यक्ति की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इस कथन का आशय यही है कि व्यसनी मन्त्री राजा को उचित परामर्श नही दे सकता तथा वह शत्रुपक्ष से भी मिल सकता है। ऐसे मन्त्री के परामर्श से राजा पथभ्रष्ट होकर विनाश को प्राप्त हो जाता है। अत' मन्त्री को सब प्रकार के व्यसनो से मुक्त होना चाहिए।

६ राजभक्ति—राजभक्ति भी मन्त्री के लिए आवश्यक गुण माना गया है। अपने स्वामी से द्रोह करने वाले मन्त्री एव सेवको की नियुक्ति करना निरर्थक है (१०, १०)। आचार्य शुक्र का कथन है जो विपत्ति पडने पर स्वामी से द्रोह करता है उस मन्त्री से राजा को क्या लाभ है चाहे ऐसा व्यक्ति (मन्त्री) सर्वगुणसम्पन्न ही क्यो न हो।[3] सोमदेव का कथन है कि सुख के समय पर सभी सहायक हो जाते हैं किन्तु विपत्ति काल मे कोई सहायक नही होता। अत विपत्ति में सहायता करने वाला पुरुष ही राजमन्त्री पद के योग्य है अन्य नही (१०, ११)। आचार्य कौटिल्य भी अमात्यो के लिए राजभक्ति के गुण को आवश्यक मानते हैं।[4]

७ नीतिज्ञता—राज्य की उन्नति एव विकास कुशल नीति पर ही अवलम्बित है। इसी करण आचार्य सोमदेव ने मन्त्री के लिए नीतिज्ञ होना भी परम आवश्यक बतलाया है (१०, ५)। नीतिकुशल मन्त्री ही राज्य का कल्याण कर सकता है, आचार्य का कथन है कि राजा हित साधन और अहित प्रतिकार के उपायो को नही जानता किन्तु केवल उस की भक्ति मात्र करता है उसे मन्त्री बनाने से राज्य की अभिवृद्धि नही हो सकती (१०, १२)। अत राजा का यह कर्तव्य है कि वह राजनीतिविशारद एव कर्तव्य परायण व्यक्ति को ही अपना मन्त्री बनाये।

८ युद्धविद्या विशारद—मन्त्री के लिए विविध अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोग में निपुण, निर्भीक एवं उत्साही होना भी आवश्यक है। शस्त्र विद्या का ज्ञाता होने पर भी

---

१ मनु० ७, ५८, ६०।
२. महा० शान्ति० ८३, २६।
३ शुक्र०—नीतिवा० पृ० ११०।
४ कौ० अर्थ०, १, ६।

यदि वह भीरु है तो उस के शस्त्रज्ञान का कोई लाभ नही। भीरु मन्त्री शस्त्रों के प्रयोग का ज्ञाता होते हुए भी आक्रमण होने पर अपनी रक्षा भी नही कर सकता। इस विषय में सोमदेव लिखते हैं कि जिस का शस्त्र, खड्ग और धनुष अपनी रक्षा करने में भी समर्थ नही हैं ऐसे शस्त्रविद्याविशारद व्यक्ति से राज्य का कोई भी लाभ नही हो सकता (१०, १३)। जिस प्रकार बछड़े को भारी बोझा ढोने के कार्य में लगाने से कोई लाभ नही, उसी प्रकार कायर पुरुष को युद्ध के लिए एवं मूर्ख को शास्त्रार्थ के लिए प्रेरित करने से कोई लाभ नही हो सकता (१०, २१)। कायर और मूर्ख पुरुष मन्त्रीपद के अयोग्य है। जिस वीर पुरुष का शस्त्र शत्रुओ के आक्रमण को निर्मूल नही बनाता उस का शस्त्र धारण करना उस की पराजय का हेतु है। इसी प्रकार जिस प्रकार विद्वान् का शास्त्र ज्ञानवादियो के बढ़ते हुए वेग को नही रोकता उस का शास्त्रज्ञान भी उस की पराजय का कारण होता है (१०, २०)।

९ निष्कपटता—निष्कपटता भी मन्त्री के लिए आवश्यक है। मन्त्री को राजा से किसी भी स्थिति मे कपटपूर्ण व्यवहार नही करना चाहिए। कपटी मन्त्री राजा का विनाश करता है।

उपर्युक्त गुण केवल प्रधान मन्त्री के लिए ही नही, अपितु अन्य मन्त्रियो के लिए भी इन गुणो की परम आवश्यकता थी। जिस मन्त्री मे जैसी योग्यता होती थी उसे वैसे ही कार्य मे लगाया जाता था (१८, ६०)। लालची व्यक्ति को मन्त्री पद पर नियुक्त करने का भी सभी आचार्यों ने निषेध किया है। सोमदेव लिखते है कि जिस के मन्त्री की बुद्धि धन ग्रहण करने मे आसक्त होती है उस राजा का न तो कोई कार्य ही सिद्ध होता है और न उस के पास धन ही रहता है। इस बात की पुष्टि के लिए सोमदेव ने एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—यदि थाली ही भोजन को स्वय भक्षण कर जाये तो भोजन करने वाले को भोजन कहाँ मिल सकता है। इस का अभिप्राय यही है कि यदि मन्त्री राजद्रव्य को स्वय ही हड़पने लगे तो फिर राजकोष किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है।

मन्त्रिपरिषद् के सदस्यो की संख्या

मन्त्रिपरिषद् का सर्व-प्रथम कर्तव्य राजा को शासन कार्यों मे परामर्श देना एव उन को सम्पन्न करना था। राजकीय महत्त्व के विषयो पर उचित परामर्श के लिए एक या दो व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक व्यक्तियो का परामर्श उपयोगी माना गया है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि जिस राजा के बहुत से सहायक होते हैं उसे समस्त अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति होती है। अकेला व्यक्ति (मन्त्री) अपने को किन-किन कार्यों मे लगायेगा (१०, ८०-८१)। इस का अभिप्राय यही है कि राज्य के विभिन्न कार्य होते है, उन्हें अकेला मन्त्री नही कर सकता। अत विभिन्न कार्यों के लिए अधिक मन्त्रियो की आवश्यकता है। इस के लिए आचार्य सोमदेव बहुत सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत

करते हैं, "क्या केवल एक शाखा वाले वृक्ष से अधिक छाया हो सकती है ? नहीं हो सकती, उसी प्रकार अकेले मन्त्री से राज्य के महान् कार्य सिद्ध नहीं हो सकते (१०, ८२)।"

एक ओर जहाँ मन्त्रियो की संख्या अधिक होने का विचार है तो दूसरी ओर मन्त्र को गुप्त रखने का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। अधिक मन्त्रियो के होने से मन्त्र का गुप्त रखना असम्भव हो जाता है। अत अधिक मन्त्रियो वाली परिषद् से लाभ के स्थान पर हानि भी सम्भव है। सोमदेव इस प्रश्न का समाधान करते हुए लिखते हैं कि यदि मन्त्री पूर्वोक्त गुणो से युक्त हो तो एक या दो मन्त्री रखने से भी राजा की हानि नही हो सकती (१०, ७७)। मन्त्रिपरिषद् की सख्या के विषय में सोमदेव का विचार है कि राजाओ को तीन, पाँच या सात मन्त्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए। वे विषम सख्या वाली मन्त्रिपरिषद् पर अधिक बल देते हैं। इस का कारण यही है कि विषम सख्या वाले मन्त्रिमण्डल का एकमत होना कठिन होता है (१०, ७१-७२)। अत वे राज्य के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र नही कर सकते। सोमदेव एक या दो मन्त्रियों की नियुक्ति के विरोधी है। उन का कथन है कि राजा को केवल एक मन्त्री की नियुक्ति नही करनी चाहिए, क्योकि अकेला व्यक्ति स्वच्छन्द हो सकता है (१०, ६६ ६७)। आचार्य आगे लिखते है कि दो व्यक्तियो को भी मन्त्री न बनावे, क्योकि दोनो मन्त्री मिलकर राज्य को नष्ट कर डालते है (१०, ६८-६९)। अधिक मन्त्रियो की नियुक्ति से होने वाली हानि की ओर सकेत करते हुए वे लिखते हैं कि परस्पर ईर्ष्या करने वाले बहुत से मन्त्री राजा के समक्ष अपनी-अपनी बुद्धि का चमत्कार प्रकट कर के अपना मत पुष्ट करते हैं इस से राजकार्य मे हानि होती है (१०, ७३)। परस्पर ईर्ष्या रखने वाले तथा स्वेच्छाचारी मन्त्रियो की नियुक्ति से राजा को सर्वदा हानि उठानी पड़ती है। अत उसे ऐसे व्यक्तियो को मन्त्रीपद पर कभी नियुक्त नही करना चाहिए।

आचार्य सोमदेव सूरि ने मन्त्रिपरिषद् के लिए कोई निश्चित सख्या निर्धारित नही की है। वे एक सन्तुलित एव विषम सख्या वाली परिषद् के पक्ष में हैं, जिस में मन्त्रियो की सख्या तीन, पाँच अथवा सात हो। सम्भवत वे भी आचार्य कौटिल्य की भाँति आवश्यकतानुसार मन्त्रियों की नियुक्ति के पक्ष में थे। किन्तु कौटिल्य ने विषम सख्या की ओर सकेत नही किया है। मन्त्रिपरिषद् की सख्या के विषय में प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। आचार्य कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में विभिन्न आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं जो इस प्रकार है—मानव सम्प्रदाय (मनु आदि) का विचार है कि मन्त्रिपरिषद् में मन्त्रियो की सख्या बारह होनी चाहिए, बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के अनुसार मन्त्रियो की सख्या सोलह तथा औशनस् (शुक्र) सम्प्रदाय के मत से बीस होनी चाहिए। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों के मतो का उल्लेख करने के उपरान्त कौटिल्य लिखते हैं कि जितनी आवश्यकता हो उसी के

अनुसार मन्त्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए।[1] महाभारत में सैंतीस मन्त्रियों को परिषद् का उल्लेख मिलता है।[2]

कौटिल्य ने मानव सम्प्रदाय के मतानुसार बारह मन्त्रियो की नियुक्ति का उल्लेख किया है, किन्तु वर्तमान उपलब्ध मनुस्मृति में यह उल्लेख मिलता है कि मन्त्रिपरिषद् में सात या आठ मन्त्रियो की नियुक्ति करनी चाहिए।[3] मनुस्मृति में अन्यत्र ऐसा भी विवरण मिलता है कि राजा अन्य मन्त्रियो की भी नियुक्ति करे।[4] सम्भवत कौटिल्य ने दोनो स्थानो के वर्णन के आधार पर सामान्य रूप से मानव सम्प्रदाय के मतानुसार मन्त्रिपरिषद् के सदस्यो की सख्या बारह व्यक्त की है।

मन्त्र का प्रधान प्रयोजन

परस्पर वैर-विरोध न करने वाले प्रेम और सहानुभूति रखने वाले, युक्ति व अनुभव शून्य बात न करने वाले मन्त्रियों के द्वारा जो मन्त्रणा की जाती है, उस से थोडे से उपाय से महान् कार्य की सिद्धि होती है और यही मन्त्र का फल या माहात्म्य है (१०, ५०)। साराश यह है कि थोडे परिश्रम से महान् कार्य सिद्ध होना मन्त्रशक्ति का फल है। जिस प्रकार पृथ्वी में गढ़ी हुई विशाल पत्थर की चट्टान तिरछी लकडी के यन्त्रविशेष से शीघ्र ही थोडे परिश्रम से उठायी जा सकती है, ठीक उसी प्रकार मन्त्रशक्ति से महान् कार्य भी थोडे परिश्रम से सिद्ध हो जाते हैं (१०, ५१)। आचार्य सोमदेव का कथन है कि किसी बात का विचार करते ही उसे शीघ्र ही कार्यरूप मे परिणत कर देना चाहिए। मन्त्र में विलम्ब करने से उस के प्रकट होने का भय रहता है (१०, ४२)। अत उसे शीघ्र ही कार्य रूप में परिणत करे, आचार्य शुक्र का भी यही विचार है कि जो मनुष्य विचार निश्चित कर के उसी समय उस पर आचरण नही करता उसे मन्त्र का फल प्राप्त नही होता।[5] जो विजिगीषु निश्चित विचार के अनुसार कार्य नही करता वह हानि उठाता है। विजिगीषु (राजा) यदि मन्त्रणा के अनुकूल कर्त्तव्य मे प्रवृत्त नही होता तो उस की मन्त्रणा व्यर्थ है (१०, ४३)। शुक्र ने भी कहा है कि जो विजिगीषु मन्त्र का निश्चय कर के उसे के अनुकूल कार्य नही करता वह मन्त्र आलसी विद्यार्थी के मन्त्र की भाँति व्यर्थ हो जाता है।[6] जिस प्रकार औषधि के ज्ञान हो जाने पर भी उस के भक्षण किये बिना व्याधि नष्ट नही होती उसी प्रकार मन्त्र के कार्य रूप मे परिणत किये बिना केवल विचार मात्र से कार्य सिद्ध नही होता (१०, ४४)।

---

१ कौ० अर्थ० १, १५।
२ महा० शान्ति० ५, ७-८।
३ मनु० ७, ५४।
४ वही ७, ६४।
५ शुक्र० नीतिवा० पृ० १२०।
६ वही, पृ० १२०।

मन्त्र के अंग

आचार्य सोमदेव ने भी कौटिल्य की भाँति मन्त्र के पाँच अग बतलाये हैं—१ कार्य के आरम्भ करने का उपाय, २ पुरुष और द्रव्य सम्पत्ति, ३ देश और काल का विभाग, ४. विनिपात (प्रतिकार) और ५ कार्यसिद्धि ।[१]

१ कार्य प्रारम्भ करने के उपाय—जैसे, अपने राष्ट्र को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए उस में खाई, परकोट और दुर्ग आदि का निर्माण करने के साधनों पर विचार करना और दूसरे देश में शत्रुभूत राजा के यहाँ सन्धि व विग्रह आदि के उद्देश्य से गुप्तचर व दूत भेजना आदि कार्यों के साधनो पर विचार करना मन्त्र का प्रथम अग है ।

२ पुरुष का द्रव्य सम्पत्ति—यह पुरुष अमुक कार्य करने में निपुण है, यह जानकर उसे उस कार्य में नियुक्त करना तथा द्रव्य सम्पत्ति, इतने धन से अमुक कार्य सिद्ध होगा । यह क्रमश पुरुषसम्पत् और द्रव्यसम्पत् नाम का दूसरा मन्त्र का अग है । अथवा स्वदेश-परदेश की अपेक्षा से प्रत्येक के दो भेद हो जाते हैं ।

३ देश और काल—अमुक कार्य करने में अमुक देश या अमुक काल अनुकूल एव अमुक देश और काल प्रतिकूल है इस का विचार करना मन्त्र का तीसरा अग है । अथवा अपने देश (दुर्ग आदि के निर्माण के लिए जनपद के बीच का देश) और काल (सुभिक्ष, दुर्भिक्ष तथा वर्षा एव दूसरे देश मे सन्धि आदि करने पर कोई उपजाऊ प्रदेश और काल) आक्रमण करने या न करने का समय कहलाता है । इन का विभाग करना यह देश-कालविभाग नाम का तीसरा अग कहलाता है ।

४. विनिपात-प्रतिकार—आयी हुई विपत्ति के विनाश का उपाय—चिन्तन करना, जैसे अपने दुर्ग आदि पर आने वाले अथवा आये हुए विघ्नो का प्रतिकार करना यह मन्त्र का विनिपात-प्रतिकार नामक चोथा अग है ।

५ कार्यसिद्धि—उन्नति, अवनति और समवस्था यह तीन प्रकार की कार्य-सिद्धि है । जिन सामादि उपायो से विजिगीषु राजा अपनी उन्नति, शत्रु की अवनति या दोनो की समवस्था प्राप्त हो यह कार्यसिद्धि नामक पाचवाँ अग है ।[२] विजिगीषु राजा को समस्त मन्त्रिमण्डल से अथवा एक या दो मन्त्रियो से उक्त पचांगमन्त्र का विचार कर तदनुकूल कार्य करना चाहिए ।

मन्त्रणा के अयोग्य व्यक्ति

मन्त्रणा प्रत्येक व्यक्ति से नही की जा सकती । इस सम्बन्ध में आचार्य सोमदेव लिखते है कि जो व्यक्ति धार्मिक कर्मकाण्ड का विद्वान् नही है उस को जिस प्रकार

---

१ कौ० अर्थ० १, १५ तथा नीतिवा०, १०, २५ ।
२ कौ० अर्थ १, १४ ।

श्राद्ध आदि क्रिया कराने का अधिकार नही है उसी प्रकार राजनीतिज्ञान से शून्य मूर्ख मन्त्री को भी मन्त्रणा का अधिकार नही है (१०, ८९) । मूर्ख मन्त्री अन्धे के समान मन्त्र का निश्चय नही कर सकता (१०, ९०) । जो राजा मूर्ख मन्त्री पर राज्य-भार सौंप देता है वह स्वय ही अपने विनाश के बीज बोता है (१०, ८७) । आगे आचार्य लिखते हैं कि शस्त्र सचालन करने वाले क्षत्रिय लोग मन्त्रणा के पात्र नही हैं, क्षत्रियो को रोकने पर भी केवल कलह करना सूझता है । अत उन्हें मन्त्री नही बनाना चाहिए । शस्त्रो से जीविका अर्जन करने वाले क्षत्रियो को युद्ध किये बिना प्राप्त किया हुआ भोजन भी नही पचता (१०, १०३) । मन्त्रीपद की प्राप्ति, राजा की प्रसन्नता व शस्त्रो से जीविका प्राप्त करना, इन में से प्राप्त हुई एक भी वस्तु मनुष्य को उन्मत्त बना देती है, फिर उक्त तीनों वस्तुओ का समुदाय तो अवश्य ही उसे उन्मत्त बना देगा । धनलम्पट व्यक्ति भी मन्त्रणा के अयोग्य है । आचार्य सोमदेव का कथन है कि जिस राजा के मन्त्री की बुद्धि धन ग्रहण करने में आसक्त है उस राजा का न तो कोई कार्य ही सिद्ध होता है और न उस के पास धन ही रहता है (१०, १०४) ।

राजा को चतुर व्यक्तियो के साथ ही परामर्श करना चाहिए । सोमदेव लिखते है कि जिस प्रकार नेत्र की सूक्ष्म दृष्टि उस की प्रशसा का कारण होती है उसी प्रकार राजमन्त्री की भी यथार्थ दृष्टि (सन्धि, विग्रह आदि कार्यसाधक मन्त्र का यथार्थ ज्ञान) उस का राजा द्वारा गौरव प्राप्त करने में कारण होती है (१०, १००) । राजा को अपराधी व अपराध कराने वालो के साथ भी मन्त्रणा नही करनी चाहिए (१०, १६९) । दण्डित व अपराधी पुरुष घर में प्रविष्ट हुए सर्प की भाँति समस्त आपत्तियो के आने का कारण होता है (१०, १००) । राजा ने जिन के बन्धु आदि कुटुम्बियों का वध बन्धनादि अनिष्ट किया है उन विरोधियो के साथ भी मन्त्रणा नही करनी चाहिए (१०, ३१) । उन के साथ मन्त्रणा करने से मन्त्र के प्रकट हो जाने का भय रहता है ।

मन्त्रवेला मे केवल वही व्यक्ति प्रविष्ट हो जिन्हें राजा ने आमन्त्रित किया है । बिना बुलाया हुआ व्यक्ति वहाँ न ठहरे (१०, ३२) । अमात्य और सेनाध्यक्ष आदि राज्याधिकारियो से राजदोष (क्रोध व ईर्ष्या आदि) और स्वय किये हुए अपराधों के कारण जिन की जीविका नष्ट कर दी गयी है वे क्रोधी, लोभी, भीत और तिरस्कृत होते है उन्हें कृत्या के समान महा भयकर समझना चाहिए (१०, १६५) । नारद का कथन है कि जिन का पराभव और जिन्होने पराभव किया है, उन्नति के आकाक्षी को उन के साथ मन्त्रणा नही करनी चाहिए ।[१] शुक्र का कथन है कि जिस प्रकार घर में निवास करने वाले सर्प से सदैव भय बना रहता है उसी प्रकार घर मे आये हुए दोषियो से भी भय रहता है ।[२] इस के साथ ही राजा को यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि वह कभी बाहर से आये हुए दूत के सामने मन्त्रणा न करे । चतुर

१ नारद-नीतिवा० ।

२ शुक्र-नीतिवा०, पृ० ११८ ।

व्यक्ति मन्त्रणा करने वाले के मुख के विकार और हस्तादि के संचालन से तथा प्रति-ध्वनिरूप शब्द से मन में रहने वाले गुप्त अभिप्राय को जान लेते हैं। अत राजा को दूत के समक्ष मन्त्रणा आदि कार्य नही करने चाहिए (१०, २७)।

मन्त्र के लिए उपयुक्त स्थान

यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि मन्त्र या मन्त्रणा किस स्थान पर की जाये। मन्त्रणा में स्थान का भी बहुत महत्त्व है। आचार्य सोमदेव ने इस विषय में भी राजा को सचेत किया है कि वह किन-किन स्थानो पर मन्त्रणा न करे। इस सम्बन्ध में आचार्य के विचार इस प्रकार हैं—जो स्थान चारो तरफ से खुला हुआ हो ऐसे स्थान पर तथा पर्वत या गुफा आदि स्थानो में जहाँ पर प्रतिध्वनि निकलती है वहाँ पर राजा और मन्त्री को मन्त्रणा नही करनी चाहिए (१०, २६)। अत गुप्त मन्त्रणा का स्थान चारो ओर से दबा हुआ और प्रतिध्वनि से रहित होना चाहिए। गुरु विद्वान् ने भी लिखा है कि मन्त्र सिद्धि चाहने वाले राजा को खुले हुए स्थान में मन्त्रणा नही करनी चाहिए, अपितु जिस स्थान में मन्त्रणा का शब्द टकराकर प्रतिध्वनित नही होता है ऐसे स्थान में बैठ कर मन्त्रणा करनी चाहिए।[1] आचार्य सोमदेव का मत है कि मन्त्र स्थान में पशु-पक्षियो को भी नही रहने देना चाहिए। पशुपक्षी भी राजा की गुप्त मन्त्रणा को प्रकाशित कर देते हैं जैसे शुक सारिकाओ की कहानियो से ज्ञात होता है (१०, ३३)।

अपरीक्षित स्थान पर भी कभी मन्त्रणा नही करनी चाहिए (१०, २९)। इस के सम्बन्ध मे आचार्य सोमदेव ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—वृद्ध पुरुषो के मुख से सुना जाता है कि एक समय पिशाच लोग हिरण्य गुप्त सम्बन्धी वृत्तान्त की गुप्त मन्त्रणा कर रहे थे। उसे रात्रि मे वट वृक्ष के नीचे छिपे हुए वररुचि नामक राजमन्त्री ने सुन लिया था। अत उस ने हिरण्यगुप्त के द्वारा कथित श्लोक के प्रत्येक पाद सम्बन्धी एक-एक अक्षर से अर्थात् चारो पदो के चारो अक्षरों से पूर्ण श्लोक की रचना कर ली थी (१०, ३०)। अत अपरीक्षित स्थान पर कभी मन्त्रणा न करे। बृहस्पति का विचार यह है कि मैदान में और जहाँ शब्द की प्रतिध्वनि होती हो, वहाँ सिद्धि का चाहने वाला राजा मन्त्रणा न करे।[2] महाभारत में बताया गया है कि जहाँ मन्त्रणा हो तो वहाँ बौने, कुबडे, अन्धे, लँगडे, हिजडे, तिर्यग्योनि वाले जीव न रहने पावें। यदि इन के समक्ष मन्त्रणा की जायेगी तो वह अवश्य ही प्रकट हो जायेगी।[3]

गुप्त मन्त्रणा प्रकाशित हो जाने के कारण

मन्त्र को गुप्त रखना बहुत आवश्यक था, क्योकि मन्त्रणा के प्रकाशित हो जाने से महान् अपकार होता था। इसी हेतु मन्त्रणा को गुप्त रखने के लिए बडी सावधानी

---

१ गुरु-नीतिवा०।

२ बृहस्पति-नीतिवा०, पृष्ठ ११७।

३ महाभारत-८३, ५५।

से काम लिया जाता था। मन्त्रभेद किन कारणो से हो जाता है इस विषय में भी प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने गम्भीर दृष्टि से विचार किया है, क्योंकि यह एक महत्त्वपूर्ण विषय था। आचार्य सोमदेव के अनुसार गुप्त मन्त्र का भेद पाँच कारणो से होता है—(१) इगित, (२) शरीर की सौम्य-रौद्र आकृति, (३) मदिरापान, (४) प्रमाद तथा (५) निद्रा। इन पाँच बातो के कारण मन्त्रणा प्रकाशित हो जाती है (१०, ३५)। इन बातों की व्याख्या भी आचार्य सोमदेव ने की है जो इस प्रकार है—जब राजा मन्त्रणा करते समय अपनी मुखादि को विजातीय (गुप्त अभिप्राय को प्रकट करने वाली) चेष्टा बनाते हैं तो इस से गुप्तचर उन के अभिप्राय को जान लेते है। इसी प्रकार क्रोध से उत्पन्न होने वाली भयकर आकृति और शान्ति से होने वाली सौम्य आकृति को देख कर गुप्तचर यह जान लेते है कि राजा की भयकर आकृति युद्ध को और सौम्य आकृति सन्धि को प्रकट कर रही है। इसी प्रकार मदिरापान आदि प्रमाद तथा निद्रा भी गुप्त रहस्य को प्रकाशित कर देते है। अत राजा को इन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए (१०, ३६ ४१)। वशिष्ठ ने कहा है कि राजा को मन्त्रणा के समय अपने मुख की आकृति शुभ और शरीर को सौम्य रखना चाहिए तथा निद्रा, मद और आलस्य को त्याग देना चाहिए।[1]

उपर्युक्त बातो के साथ ही मन्त्र को गुप्त रखने के लिए राजा को अन्य बातो को भी ध्यान मे रखना चाहिए। राजा मन्त्र को गुप्त रखने के लिए किस प्रकार मन्त्रणा करे इस विषय पर विभिन्न आचार्यों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में भारद्वाज का यह मत उद्धृत किया है कि गुह्य विषयो पर राजा अकेला स्वय ही विचार करे क्योकि यदि उन विषयो पर मन्त्रियो से परामर्श किया जायेगा तो मन्त्र कभी गुप्त नही रह सकता। मन्त्रियो के भी उपमन्त्री होते है तथा उन के भी अन्य परामर्शदाता होते है। मन्त्रियो की इस परम्परा के कारण मन्त्र गुप्त नही रह सकता। अत राजा कार्य के प्रारम्भ होने अथवा उस के पूर्ण होने से पूर्व किसी भी व्यक्ति को यह आभास न होने दे कि वह क्या करने जा रहा है। किन्तु विशालाक्ष ने इस मत का विरोध किया है। उन के अनुसार यदि राजा किसी विषय पर अकेला ही विचार करेगा तो उसे मन्त्र सिद्धि नही होगी। इस का कारण यह है कि राजा को प्रत्येक विषय का पूर्ण ज्ञान होना असम्भव है। मन्त्री ही उस को सब विषयो का ज्ञान प्राप्त कराते है। आचार्य पराशर का कथन है कि राजा को मन्त्रियो के साथ परामर्श करने से मन्त्र का ज्ञान तो हो सकता है, किन्तु इस पद्धति से उस की रक्षा सम्भव नही है। इसलिए राजा जो करना चाहता है उस से विपरीत बात मन्त्रियो से पूछे। यह कार्य है, यह कार्य ऐसा था, यदि कार्य ऐसा हो तो क्या करना

---

१ वशिष्ठ नीतिवा०, पृ० ११६
मन्त्रयित्वा महीपेन कर्तव्य शुभचेष्टितम्।
आकारश्च शुभ कार्यस्त्याज्या निद्रामदालसा॥

चाहिए—इस प्रकार के प्रश्न पूछ कर मन्त्रिगण जैसी मन्त्रणा दें उसी के अनुसार राजा कार्य करे। ऐसा करने से उस को मन्त्र का ज्ञान भी हो जायेगा तथा मन्त्र भी प्रकाशित न हो सकेगा। परन्तु पिशुन इस बात से सहमत नही हैं। उन का कथन है कि जब मन्त्रियों से किसी अनिश्चित विषय पर परामर्श लिया जाता है तो वे उपेक्षा-पूर्ण ही उस का उत्तर देते हैं और उस से अन्य व्यक्तियों के सामने प्रकाशित भी कर देते हैं। अत जो मन्त्री जिस विषय से सम्बन्ध रखता हो उस विषय पर केवल उसी से परामर्श लिया जाये। ऐसा करने से दोनो कार्यों की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् मन्त्र का भी ज्ञान हो जायेगा तथा वह गुप्त भी रह सकेगा।

इन समस्त आचार्यों के विचार उद्धृत करने के उपरान्त आचार्य कौटिल्य सब से असहमति प्रकट करते हुए लिखते हैं कि राजा तीन या चार मन्त्रियो से मन्त्रणा करे। उन का कथन है कि यदि एक ही मन्त्री से मन्त्रणा की जायेगी, तो वह मन्त्री निरकुश हुआ स्वच्छन्दता पूर्वक आचारण करने लगेगा। इस के अतिरिक्त राज्य के गम्भीर विषयो पर अकेले मन्त्री के लिए विचार करना बहुत कठिन कार्य है। आचार्य कौटिल्य दो मन्त्रियो से भी मन्त्रणा के विरोध मे है, क्योकि दोनो मन्त्रियो के मिल जाने से राजा उन के सम्मुख असहाय हो जायेगा और उन के एक-दूसरे के विरोधी होने से मन्त्र प्रकट हो जायेगा। परन्तु तीन या चार मन्त्रियो से परामर्श करने से उपर्युक्त दोषो का परिहार हो जायेगा तथा राजकार्य भी सुचारु रूप से चल सकेगा।[1] आचार्य सोमदेव भी कौटिल्य के विचारो से बहुत कुछ सहमत हैं किन्तु वे विषम सख्या वाले मन्त्रिमण्डल के पक्ष मे हैं। गुप्त मन्त्रणा के प्रकाशित हो जाने से राजा के सम्मुख जो सकट उपस्थित हो जाता है वह कठिनाई से भी दूर नही किया जा सकता। इसलिए राजा को अपने मन्त्र की रक्षा मे सदैव सावधान रहना चाहिए, क्योकि मन्त्र-भेद का कष्ट दुर्निवार होता है। आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि मनुष्य को प्राणो से भी अधिक अपने गुप्त रहस्य की रक्षा करनी चाहिए (१०, १४७)।

मन्त्र के गुह्य रखने के इतने महान् महत्त्व के कारण ही प्राचीन आचार्यों ने मन्त्र के प्रकाशित हो जाने के कारणो तथा उस को गुप्त रखने के उपायों का विशद विवेचन किया है। वास्तव मे यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है, क्योकि मन्त्रसिद्धि पर राज्य की समृद्धि एव सुरक्षा सम्भव है और उस के प्रकट हो जाने पर राजा महान् विपत्तियो मे फँस जाता है।

मन्त्रणा के समय मन्त्रियो के कर्तव्य

मन्त्रियों को मन्त्रणा के समय परस्पर कलह कर के वाद-विवाद और स्वच्छन्द वार्तालाप नही करना चाहिए। सारांश यह है कि कलह करने से वैर-विरोध और अनुभवशून्य वार्तालाप से अनादर होता है। अत मन्त्रियों को मन्त्रवेला में उक्त बातें

---

१ कौ० अर्थ०, १, १५।

कदापि नही करनी चाहिए। गुरु का कथन है कि जो मन्त्री मन्त्रवेला में वैर-विरोध के उत्पादक वाद-विवाद और हँसी आदि करते है उन का मन्त्र सिद्ध नही होता।[1]

मन्त्रिपरिषद् के कार्य

मन्त्रियों के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि बिना प्रारम्भ किये कार्यों को प्रारम्भ करना, प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूर्ण करना और जो पूर्ण हो चुके है उन में कुछ विशेषता उत्पन्न करना तथा अपने अधिकार को उचित स्थान में प्रभाव दिखाना ये मन्त्रियो के प्रमुख कार्य है (१०,२४)। आचार्य कौटिल्य ने भी लिखा है कि कार्य के प्रारम्भ करने के उपाय, मनुष्यों और धन का कार्यों के लिए विनियोग, कार्यों के करने के लिए कौन-सा प्रदेश व कौन-सा समय प्रयुक्त किया जाये, कार्यसिद्धि के मार्ग में आने वाली विपत्तियो का निवारण और कार्य की सिद्धि, ये मन्त्र (राजकीय परामर्श) के पाँच अग होते हैं। इन्ही कार्यों के लिए मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता होती है।[2] इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने भी मन्त्रिपरिषद् के पाँच कार्य बतलाये है।

राजकार्यों में राजा को सत्परामर्श देना मन्त्रियो का प्रधान कर्तव्य था। मनु ने लिखा है कि इन सचिवो के साथ राजा को राज्य की विभिन्न विकट परिस्थितियो में तथा सामान्य, सन्धि, विग्रह, राष्ट्ररक्षा तथा सत्पात्रो आदि को धन देने के कार्य में नित्य परामर्श करना चाहिए।[3] इस प्रकार प्रत्येक कार्य मन्त्रियों के परामर्श से करने मे ही राज्य का कल्याण है। यद्यपि राजा के लिए प्रत्येक कार्य मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से करने का विधान था, किन्तु राजा इन मन्त्रियो के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नही था। मन्त्रियो से परामर्श करने के उपरान्त उस को अपना व्यक्तिगत निर्णय देने का भी अधिकार स्मृतिकारो ने राजा को प्रदान किया है।[4] किन्तु राजा इन मन्त्रियो के परामर्श का उल्लघन उसी समय कर सकता था जब कि उन के परामर्श में एकरूपता न हो और वह राष्ट्र के हित के लिए अपना निर्णय अधिक उपयोगी समझता हो।

इस का अभिप्राय यह नही है कि मन्त्रिपरिषद् का राजा के समक्ष कोई अस्तित्व ही नही था। राजा सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह अधिकार रखता था कि मन्त्रिपरिषद् के परामर्श को वह माने या न माने, परन्तु मन्त्रिपरिषद् मे विभिन्न विभागो के विशेषज्ञ मन्त्रियो के होने के कारण वह उन के निर्णय को महत्त्व देता था और साधारणत उस के अनुसार ही कार्य करता था। आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि राजाओ को अपने समस्त कार्यों का प्रारम्भ सुयोग्य मन्त्रियो की मन्त्रणा से ही करना चाहिए (१०, २२)।

---

१ गुरु०—नीतिवा०।
२ कौ० अर्थ० १, १५।
३ मनु० ७, ५८।
४ वही०, ७, ५७।

वह आगे लिखते हैं कि विजिगीषु राजा को अप्राप्त राज्य की प्राप्ति और सुरक्षा आदि के लिए अत्यन्त बुद्धिमान् और राजनीति के धुरन्धर विद्वान् तथा अनुभवी मन्त्रियों के साथ बैठ कर मन्त्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है (१०, २३)। इन बातों से स्पष्ट है कि मन्त्रियों के परामर्श का बहुत महत्त्व था और व्यवहार में राजा प्रत्येक कार्य इन्हीं मन्त्रियों के परामर्श से करता था।

मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य न करने से होने वाली हानि की ओर संकेत करते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि जो राजा मन्त्रियों के परामर्श की अवहेलना करता है और उन की बात नहीं सुनता और न उन की बात पर आचरण ही करता है वह राजा नहीं रह सकता, अर्थात् उस का राज्य नष्ट हो जाता है (१०, ५८)। इस वर्णन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में मन्त्रियों के परामर्शों को बहुत महत्त्व दिया जाता था और प्रत्येक कार्य में उन का परामर्श अत्यन्त आवश्यक था। इस से मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों का अनुमान लगाना बहुत सरल है। धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं का निर्देश था कि यदि मन्त्री लोग विरोध करें तो राजा को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी को धन दान में दे सके। यहाँ तक कि वह ब्राह्मणों को भी इस प्रकार का दान नहीं दे सकता था। यह विधान आपस्तम्ब के समय तक प्रचलित रहा।[1] बौद्धकालीन भारत में भी मन्त्रिपरिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान था। मन्त्रिगण समय-समय पर सम्राट् की उस आज्ञा का उल्लघन करते थे जिस से राष्ट्र की हानि होने की सम्भावना होती थी। बौद्ध ग्रन्थों के अवलोकन से मन्त्रियों के अधिकारों के विषय में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। सम्राट् अशोक के आज्ञा देने पर भी मन्त्रिपरिषद और प्रधान मन्त्री राधागुप्त ने बौद्ध भिक्षुकों को अधिक धन दान देने का विरोध किया था और इस से विवश होकर भारत के महान् सम्राट् अशोक को दान की अनुमति प्राप्त नहीं हुई।[2] अशोक के शिलालेखों से भी मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों पर प्रकाश पड़ता है। अशोक ने अपने प्रधान शिलालेखों की छठी धारा मे कहा है कि यदि मैं किसी दान अथवा घोषणा के सम्बन्ध मे कोई आज्ञा दूँ और मन्त्रिपरिषद् मे उस के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न हो तो मुझे उस की सूचना तुरन्त मिलनी चाहिए। यदि परिषद् मे मेरे सम्बन्ध मे, मेरे प्रस्ताव के सम्बन्ध मे मतभेद हो अथवा वह प्रस्ताव पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया गया हो तो उस की मुझे तुरन्त सूचना मिलनी चाहिए।[3] इसी प्रकार जब रुद्रदामन ने सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार की आज्ञा दी तो उसे मन्त्रियों ने अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की। सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार के सम्बन्ध में मन्त्रिगण राजा के प्रस्ताव से सहमत नहीं थे। उन्होंने उस योजना के लिए धन की स्वीकृति नहीं दी और

१ आपस्तम्ब—२, १०, २६, १।

२ दिव्यावदान पृ० ४३० तथा आगे।

३ इण्डियन एण्टीक्वेरी—१९१३, पृ० २४२।

राजा को अपने निजी कोश से ही उस का सम्पूर्ण व्यय वहन करना पडा।[1] अत स्पष्ट है कि राजा को प्रत्येक कार्य करने से पूर्व मन्त्रिपरिषद् की स्वीकृति प्राप्त करना परम आवश्यक था। जो राजा मन्त्रियों की हितकारी बात को न मानकर अपनी स्वेच्छा से कार्य करता था उस का परिणाम भयकर होता था। वेन, नहुष तथा यवन-राज सुदास इस के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जिन्होने मन्त्रिपरिषद् की उपेक्षा कर के अविनयी होकर स्वेच्छाचारी शासन का प्रयत्न किया और इसी कारण उन्हे राज्य से हाथ धोना पडा तथा वे स्वय भी नष्ट हो गये।[2]

आचार्य सोमदेव ने राजा को मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार कार्य करने का आदेश दिया है, किन्तु इस के साथ ही वह मन्त्रियो का भी यह कर्तव्य बतलाते हैं कि मन्त्री राजा को सदैव सत्परामर्श ही दें और उसे कभी अकार्य का उपदेश न दें। इस सम्बन्ध में उन का कथन है कि मन्त्री को राजा के लिए दु ख देना उत्तम है अर्थात् यदि वह भविष्य में हितकारक किन्तु तत्काल अप्रिय लगने वाले ऐसे कठोर वचन बोल कर राजा को दु खी करता है तो उत्तम है, परन्तु अकर्तव्य का उपदेश देकर राजा का विनाश करना अच्छा नही (१०, ५३)। जो मनुष्य इस प्रकार का कार्य करता है वह राजा का शत्रु है। मन्त्रियो का तो यह कर्तव्य है कि यदि राजा अपने कर्तव्य से हट कर कुमार्ग का अनुसरण करे तो उसे कठोर वचन बोल कर भी सन्मार्ग पर लाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे आचार्य सोमदेव सूरि ने बडा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—"जिस प्रकार माता अपने शिशु को दुग्धपान कराने के उद्देश्य से उस को ताडित करती है, उसी प्रकार कुमार्ग पर चलने वाले राजा को कठोर वचन द्वारा मन्त्री सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें (१०, ५४)।" इस के साथ ही सोमदेव मन्त्रियो को यह भी आ देश देते है कि वे राजा के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ स्नेह आदि सम्बन्ध न रखें (१०, ५५)। राजा की सुख-सम्पत्ति ही मन्त्रियो का सुख-सम्पत्ति है और राजा के कष्ट भी मन्त्री के कष्ट समझे जाते है। राजा जिस पुरुष पर निग्रह और अनुग्रह करते है वह मन्त्रियो द्वारा किया हुआ ही समझना चाहिए (१०, ५६)। इस का अभिप्राय यही है कि मन्त्रियो को पृथक् रूप से उस पुरुष पर निग्रह अथवा अनुग्रह नही करना चाहिए और सदैव राज्य के कल्याण का ही चिन्तन करते रहना चाहिए। आचार्य कौटिल्य भी मन्त्रियो के कार्यों का वर्णन इसी प्रकार करते है।[3]

राजा और मन्त्रिपरिषद्

उपर्युक्त वर्णन से यह बात स्पष्ट है कि राजा और मन्त्रिपरिषद् का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। राज्य का समस्त कार्य मन्त्रियो के परामर्श से ही होता था। राज्यागो मे

---

१ एपिग्राफिया इण्डिका—८, ४४ (शिलालेख की पंक्तियाँ १६ १७)।
२ मनु० ७, ४१।
३ कौ० अर्थ० १ १५।

भी राजा के पश्चात् द्वितीय स्थान अमात्य अथवा मन्त्री का ही था। राजा को अपनी प्रकृति (मन्त्री एव सेनापति आदि) से कैसा व्यवहार करना चाहिए तथा उन के अपराधी सिद्ध होने पर क्या दण्ड देवे इस विषय में भी सोमदेव ने प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि नीतिज्ञ राजा का कर्तव्य है कि वह अपराध के कारण पृथक् किये गये अधिकारियों को नीति द्वारा वश में करे। क्रोधी और लोभी राज्याधिकारियो को सेवा से मुक्त करे, क्योकि उन्हें पुन नियुक्त करने से उस की तथा राज्य की क्षति होने की सम्भावना रहती है। जीविका के बिना भयभीत हुए कर्मचारियो को पुन उन के पदो पर नियुक्त कर देना चाहिए। ऐसा करने से वे कृतज्ञता के कारण विद्रोह नही कर सकते। स्वाभिमानी व्यक्तियो का सम्मान करना चाहिए (१०, १६३)।

राजा का यह कर्तव्य है कि जिन कार्यों से उस की प्रकृति, मन्त्री, सेनापति आदि कर्तव्यच्युत होते हैं, उन्हे न करे एव लोभ के कारणों से पराङ्मुख होकर उदारता से काम ले (१०, १६५)। वशिष्ठ ने कहा है कि राजा को अमात्य आदि प्रकृति के नष्ट और विरक्त होने के साधनो का संग्रह तथा लोभ करना उचित नही है, क्योकि प्रकृति के दुष्ट—नष्ट और विरक्त—होने से राज्य को वृद्धि नही हो सकती।[१] शत्रु आदि से होने वाले समस्त क्रोधो की अपेक्षा मन्त्री व सेनापति आदि प्रकृति वर्ग का क्रोध राजा के लिए विशेष कष्टदायक होता है (१०, १६७)। इस का तात्पर्य यही है कि राज्यरूपी वृक्ष का मूल अमात्य आदि प्रकृति ही होती है। इस के विरुद्ध होने से राज्य नष्ट हो जाता है। अत राजा को उसे सन्तुष्ट रखने मे प्रयत्नशील रहना चाहिए। राजा का यह भी कर्तव्य है कि जिन को कौटुम्बिक सम्बन्ध आदि के कारण कठोर दण्ड नही दिया जा सकता, ऐसे राजद्रोही अपराधियो को तालाब तथा खाई खुदवाना, पुल बनवाना आदि कार्यों में नियुक्त कर क्लेशित करे (१०, १६८)।

अमात्यो के दोष

आचार्य सोमदेव ने जिस प्रकार मन्त्री आदि के गुण दोषो का विवेचन नीतिवाक्यामृत में किया है उसी प्रकार अमात्यादि के कर्तव्यो, गुणो तथा उन के दोषो पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होने स्पष्ट रूप से यह बतलाया है कि किन व्यक्तियो को राज्य के उच्च पदो पर नियुक्त करना चाहिए। अमात्यों के दोषो का वर्णन करते हुए सोमदेव लिखते हैं कि राजा निम्नलिखित व्यक्तियो को अमात्यपद पर कभी नियुक्त न करे—अत्यन्त क्रोधी, सुदृढ़ पक्ष वाला, बाह्य एवं आभ्यन्तर मलिनता से दूषित, व्यसनी, अकुलीन, हठी, आय से अधिक व्यय करने वाला, विदेशी तथा कृपण। सोमदेव ने अमात्यपद के अयोग्य व्यक्तियो की स्पष्ट रूप से व्याख्या भी की है जिस का वर्णन निम्नलिखित है—

---

१ वशिष्ठ—नीतिवा० पृ० १५७।

क्षयो लोभो विरागौ च प्रकृतीनां न शस्यते।
यतस्तासां प्रदोषेण राज्यवृद्धि प्रजायते॥

१ अत्यन्त क्रोधी—क्रोध मनुष्य का सन्तुलन खो देता है और उसे उचित-अनुचित के ज्ञान से पथभ्रष्ट कर देता है। यदि क्रोधी व्यक्ति को अमात्य बना दिया जाये और किसी अपराध के कारण उसे दण्ड दिया जाये तो वह क्रोध के कारण या तो स्वयं नष्ट हो जाता है अथवा अपने स्वामी को नष्ट कर देता है (१८, १४)।

२ बलिष्ठ पक्ष वाला—ऐसा व्यक्ति भी अमात्यपद पर नियुक्त किये जाने में सर्वथा अयोग्य है जिस का पक्ष (माता-पिता आदि) बलिष्ठ होता है। वह अपने पक्ष की सहायता से राजा को नष्ट कर देता है (१८, १५)।

३. अपवित्र—उसी व्यक्ति को अमात्य बनाना चाहिए जो श्रेष्ठ चरित्र वाला हो। ऐसे व्यक्ति का प्रभाव ही जनता पर अच्छा पड सकता है। अपवित्र व्यक्ति प्रभावहीन होता है। वह राजा को अपने स्पर्श से दूषित करता है (१८, १३)।

४ व्यसनी—यदि अमात्य किसी भी व्यसन का दास है तो वह राजा को विनाश की ओर ले जायेगा। आचार्य सोमदेव के अनुसार व्यक्ति में यदि एक भी व्यसन है तो वह विनाश का कारण है (१६, ३३)। व्यसनी को कर्तव्य-अकर्तव्य का कोई भी ज्ञान नहीं रहता।

५ अकुलीन—समस्त आचार्यों ने कुलीन व्यक्तियो को ही अमात्य बनाने का निर्देश दिया है। आचार्य सोमदेव लिखते है कि नीच कुल वाला व्यक्ति थोडा-सा भी वैभव प्राप्त कर के मदोन्मत्त हो जाता है और राज्य की हानि करता है (१८, १३)।

६ हठी—हठी व्यक्ति दुराग्रह के कारण किसी की भी बात नही मानता और अपनी मनमानी करता है। किसी कार्य से चाहे राज्य की कितनी भी हानि क्यो न हो किन्तु वह अपनी ही हठ करता है (५, ७६)।

७ विदेशी—किसी भी विदेशी को अर्थ-सचिव या उच्च सेना का अधिकारी नही बनाना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य सोमदेव लिखते है कि राजा विदेशी पुरुष को धन के आय-व्यय का अधिकार एव प्राणरक्षा का अधिकार न देवे (१८, १८)। अर्थात् उन्हें अपने सचिव एव सेना-सचिव के उत्तरदायित्वपूर्ण पदो पर नियुक्त न करे क्योंकि विदेशी उस के राज्य मे कुछ समय ठहर कर के अपने देश को प्रस्थान कर जाते हैं और अवसर पाकर राजद्रोह करने लगते है तथा राज्य का धन भी अपने साथ ले जाते हैं। अत अर्थ सचिव व सेना-सचिव अपने देश का योग्य व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि अपने देशवासी से उस के द्वारा एकत्रित किया हुआ धन कालान्तर में भी प्राप्त किया जा सकता है किन्तु विदेशी से वह धन नही मिल सकता क्योकि वह तो उस धन को लेकर अपने देश को भाग जाता है (१८, १९)।

८ कृपण—कृपण व्यक्ति को भी कभी अमात्य नही बनाना चाहिए। कृपण जब राजकीय धन ग्रहण कर लेता है तो उस से पुन धन वापस मिलना पाषाण से वल्कल छीलने के समान असम्भव होता है (१८, २०)। अत कृपण मनुष्य को भी कभी अर्थ-सचिव नही बनाना चाहिए।

अधिकारी बनाने योग्य व्यक्ति

आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि वही व्यक्ति अधिकारी बनाने योग्य है जो अपराध करने पर राजा द्वारा सरलता पूर्वक दण्डित किये जा सकें (१८, २१)। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं सम्बन्धी को कभी अर्थ-सचिव आदि पदों पर नियुक्त नही करना चाहिए (१८, २२)। आचार्य सोमदेव ने इन को अधिकारी न बनाने के कारणो पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते है कि ब्राह्मण अधिकारी होने पर अपने जातिगत स्वभाव के कारण ग्रहण किया हुआ धन बडी कठिनता से देता है अथवा नही भी देता (१८, २३)। क्षत्रिय के विरोध में अपना मत प्रकट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि क्षत्रिय अधिकारी विरुद्ध हुआ तलवार दिखाता है (१८, २४)। इस का अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय अधिकारी द्वारा ग्रहण किया हुआ धन शस्त्र प्रहार के बिना नही प्राप्त हो सकता।

कुटुम्बी और सहपाठी को अधिकारी बनाने का निषेध

अपने कुटुम्बी अथवा सहपाठी को भी राजा कभी किसी उच्चपद पर नियुक्त न करे (१८, २५)। जब राजा द्वारा अपना कुटुम्बी या सहपाठी बन्धु आदि अधिकारी बना दिया जाता है तो वह—मैं राजा का बन्धु हूं अथवा सहपाठी हूं—इस गर्व से दूसरे अधिकारियो को तुच्छ समझ कर स्वय समस्त राजकीय धन हडप लेता है। वह सब अधिकारियो को तिरस्कृत कर के स्वय अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है। राजा किसी ऐसे व्यक्ति को भी उच्च अधिकारी न बनावे जिसे अपराध के कारण दण्ड देने पर पश्चात्ताप करना पडे। किसी पूज्य व्यक्ति को भी अधिकारी नही बनाना चाहिए, क्योकि वह स्वय को राजा द्वारा पूज्य समझ कर निर्भीक व उच्छृखल होता हुआ राजा की आज्ञा का उल्लघन करता है तथा राजकोय धन का अपहरण आदि मनमानी प्रवृत्ति करता है (१८, ३२)। उस के इस व्यवहार से राजकीय धन की क्षति होती है। राजा किसी पुराने सेवक को भी अधिकारी न बनाये (१८, ३३)। क्योकि वह उस से परिचय के कारण चोरी आदि अपराध कर लेने पर भी निडर रहता है। राजा किसी उपकारी को भी अपना अधिकारी न बनाये (१८, ३४)। क्योकि उपकारी पुरुष पूर्वकृत उपकार राजा के समक्ष प्रकट कर के समस्त राजकीय धन हडप कर जाता है। किसी बाल्यकाल के मित्र को भी अधिकारी नही बनाना चाहिए। जिस के निषेध का कारण यह है कि वह अतिपरिचय के कारण अभिमानवश स्वय को राजा के समान ही समझता है (१८, ३५)। क्रूर व्यक्ति को भी राजा कभी अधिकारी न बनाये क्योकि क्रूर हृदय वाला व्यक्ति अधिकारी बनकर समस्त अनर्थ उत्पन्न करता है (१८, ३६)। राजद्वेषी क्रूर हृदय वाले पुरुष को अधिकारी बनाने से जो हानि होती है उस का उदाहरण शकुनि तथा शकटार से मिल सकता है, जिन्होने मन्त्री प्राप्त कर के अपने स्वामियो से द्वेष कर के राज्य में अनेक अनर्थ उत्पन्न किये जिस के फल-

स्वरूप राज्य की महान् क्षति हुई । मित्र को अमात्यादि अधिकारी बनाने से राजकीय धन व मित्रता की हानि होती है, अर्थात् मित्र अधिकारी राजा को अपना मित्र समझ कर निर्भीकतापूर्वक उच्छृ खल होकर उस का धन ले लेता है जिस से राजा उस का वध कर डालता है । इस प्रकार मित्र को अधिकारी बनाने से राजकोय धन व मित्रता दोनों का ही विनाश होता है (१८, ३७) । मूर्ख व्यक्ति को भी अमात्यादि बनाने का निषेध किया है । मूर्ख को अमात्यादि अधिकार देने से स्वामी को धर्म, धन तथा यश की प्राप्ति कठिनाई से होती है अथवा अनिश्चित होती है । क्योंकि मूर्ख अधिकारी से स्वामी को धर्म का निश्चय नही होता और न धन-प्राप्ति ही होती है और न यश ही मिलता है, परन्तु दो बातें निश्चित होती है—(१) स्वामी का आपत्तिग्रसित हो जाना तथा (२) नरक की प्राप्ति (१८, ४०) । मूर्ख अधिकारी ऐसे दुष्कृत्य कर बैठता है जिस से उस का स्वामी आपद्ग्रस्त हो जाता है तथा ऐसे कार्य करता है जिस से प्रजा पीडित होती है । इन कार्यों के परिणामस्वरूप स्वामी नरकगामी होता है । आलसी व्यक्ति की नियुक्ति से भी राजा को कोई लाभ नही हो सकता, क्योकि आलसी अधिकारी कोई भो राज्य-कार्य ठीक प्रकार से नही कर सकता और ऐसो स्थिति मे समस्त कार्य राजा को ही करने पडते है (१०, १४८) । किन्तु अकेला राजा समस्त कार्यों को ठीक प्रकार से नही कर सकता । इसी कारण विद्वानो ने आलसी को नियुक्त करने का निषेध किया है । राज्याधिकारी कर्मठ होने चाहिए जिस से राज्य के समस्त कार्य सुचारु रूप से चल सकें । इस विषय में आचार्य सोमदेव लिखते है कि राजा को उन मन्त्री आदि अधिकारियो से कोई लाभ नही जिन के होने पर भो उसे स्वय कष्ट उठाकर अपनेआप ही राज्य-कार्य करने पडे अथवा स्वय कर्तव्य पूर्ण कर के सुख प्राप्त करना पडे (१८, ४१) । क्षुद्र प्रकृति वाले अमात्यादि अपने-अपने अधिकारो मे नियुक्त हुए सैन्धव जाति के घोडे के समान विकृत हो जाते है (१८, ४३) । इस का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सैन्धव जाति के घोडे के दमन करने पर वह उन्मत्त होकर सवार को भूमि पर गिरा देता है उसी प्रकार अधिकारीगण भी क्षुद्र प्रकृतिवश गर्वयुक्त होकर राज्य की हानि करने के लिए तत्पर रहते है । अत राजा को सदैव उन की परीक्षा करते रहना चाहिए ।

अमात्यो के अन्य दोष

आचार्य सोमदेव ने अमात्यो के कुछ अन्य दोषो की ओर भी सकेत किया है । वह लिखते हैं कि जिस अमात्य में निम्नलिखित दोष पाये जायें उसे अमात्यपद पर नियुक्त नही करना चाहिए । उन के अनुसार अमात्यो के दोष इस प्रकार है— (१) भक्षण—राजकीय धन खाने वाला, (२) उपेक्षण—राजकीय सम्पत्ति नष्ट करने वाला, (३) प्रज्ञाहीनत्व—जिस की बुद्धि नष्ट हो गयी हो या जो राजनीतिक ज्ञान से शून्य हो, (४) अपरोध्य—प्रभावहीन, (५) प्राप्तार्थी प्रदेश—जो कर आदि उपायो द्वारा

प्राप्त हुए धन को राजकोष मे जमा नही करता, (६) द्रव्यविनिमय—जो राजकीय बहुमूल्य द्रव्य अन्य मूल्य में निकाल लेता है अर्थात् जो बहुमूल्य मुद्राओं को स्वय ग्रहण कर के और उन के बदले में अल्प मूल्य वाली मुद्राएँ राज्य-कोष में जमा कर देता है। सारांश यह है कि जो राजा उक्त दोषों से युक्त व्यक्ति को अमात्य बनाता है उस का राज्य नष्ट हो जाता है (१८, ४७)।

राज्याधिकारियो के धनवान् होने का निषेध

राजा का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने अधिकारियो को अधिक धनवान् न होने देवे। अमात्यादि अधिकारियो से राज-कोष की रक्षा के लिए उन का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए तथा समय-समय पर उन की परीक्षा करते रहना चाहिए (१८, ४४)। नारद ने भी कहा है कि पृथ्वी पर कुलीन पुरुष भी धनवान् होने पर गर्व करने लगते हैं। सभी अधिकारी अत्यन्त धनाढ्य होने पर भविष्य में स्वामी के वशवर्ती नही होते अथवा कठिनाई से वश मे होते है अथवा उस के पद की प्राप्ति के अभिलाषी हो जाते है (१८, ४६)।

राज्याधिकारियो की स्थायी नियुक्ति का निषेध

राजा अपने अधिकारियो की नियुक्ति स्थायी रूप से कदापि न करे और न एक स्थान पर ही उन्हे अधिक समय तक रहने दे (१८, ४८)। स्थायी नियुक्ति वाले अधिकारी राजकोष की क्षति करने वाले हो सकते है। अत राजा राज्याधिकारियो की नियुक्ति अस्थायी एव क्रमानुसार बदलने वाली ही करे। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राजा अमात्यै आदि अधिकारियो की नियुक्ति स्वदेश या परदेश का विचार न कर अस्थायी रूप से करे, क्योकि अधिकारियो की स्थायी नियुक्ति का परिणाम भयकर होता है (१८, ५०)। अर्थात् स्थायी अधिकारी राजकोष की क्षति करने वाले होते है।

●

दुर्ग

भारत का प्राचीन इतिहास अनेक युद्धो से परिपूर्ण है। सीमा विस्तार की भावना इस देश के राज्यो में अति प्राचीन काल से ही देखी गयी है। चक्रवर्ती शासन का परम्परा में इन युद्धो में कुछ कमी अवश्य आयी, किन्तु फिर भी युद्धो की समाप्ति ?र्ण रूप से नही हुई। भारतीय जनता एव आचार्यों ने चक्रवर्ती शासन को मान्यता प्रदान की। राज्यो की सुदृढ़ता के लिए दुर्ग निर्माण का महत्त्व कम नही हुआ। प्राचीन काल में राज्य की सुरक्षा के लिए दुर्ग एक महत्त्वपूर्ण राज्याग समझा जाता था, इसी कारण उस को राजनीतिज्ञो ने राज्य के अगो में एक प्रमुख अग माना। जिस राज्य में जितने अधिक दुर्ग होते थे वह उतना ही अधिक शक्तिशाली समझा जाता था। जन धन की सुरक्षा की दृष्टि से तथा युद्ध में सहायक होने के कारण दुर्गों का महत्त्व इस देश मे बहुत काल तक रहा। राज्यशास्त्र प्रणेताओ ने अपने ग्रन्थो मे उस की महत्ता के कारण ही उस का वर्णन किया है। शुक्राचार्य तथा आचार्य कौटिल्य ने दुर्ग-रचना की विशिष्ट विधियो एव श्रेष्ठ दुर्ग के लक्षणो पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है।[1] आचार्य सोमदेवसूरि ने भी दुर्ग को राज्यागों मे बहुत महत्त्व प्रदान किया है इसी कारण उन्होने नीतिवाक्यामृत में दुर्ग-समुद्देश की भी रचना की है। दुर्ग की व्याख्या करते हुए सोमदेव लिखते हैं कि जिस के समीप जाने से शत्रु दु ख प्राप्त करते हैं अथवा जहाँ दुष्टो के उद्योग द्वारा उत्पन्न होने वाली विजिगीषु की आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं उसे दुर्ग कहते हैं (२०, १)। साराश यह है कि जब विजिगीषु अपने राज्य मे शत्रु द्वारा आक्रमण होने के अयोग्य विकट स्थान—दुर्ग, खाईं आदि बनवाता है, तब शत्रु लोग उन विकट स्थानो से दु खी होते है, क्योकि उन के आक्रमण वहाँ सफल नही हो पाते। शुक्राचार्य दुर्ग की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि जिस को प्राप्त करने में शत्रुओ को भीषण कष्ट सहन करने पडे और जो सकट काल में अपने स्वामी की रक्षा करता है, उसे दुर्ग कहते हैं।[2]

---

१ शुक्र० ४,६, कौ० अर्थ २,३-४।

२ शुक्र०, नीतिवा०, पृ० ११८।

यस्य दुर्गस्य सप्राप्ते शत्रवो दु खमाप्नुयु ।
स्वामिन रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥

राजधानी

जहाँ राज्य-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले राजा तथा अन्य राजकर्मचारी निवास करते हैं उसे राजधानी अथवा पुर कहते है। यह शासन का केन्द्र होता है और यहीं से समस्त शासन नीति का प्रसारण होता है। अन्य नगरो की अपेक्षा इस स्थान को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है और इस को विशिष्ट प्रकार के साधनों से सम्पन्न बनाया जाता है। कही इस स्थान की रचना दुर्गवत् होती है और कहीं नगरवत्। यदि इस की रचना नगरवत् होती है तो उस के अन्दर दुर्ग होता है और यदि दुर्गवत् होती है तो दुर्ग के अन्दर नगर होता है। इसी कारण प्राचीन आचार्यों ने पुर और दुर्ग का प्रयोग पर्यायवाची शब्दो के रूपों मे किया है। प्राचीन काल में अधिकतर नगरो की रचना दुर्गाकार रूप में ही की जाती थी। ऋग्वेद में भी 'आयसीपुर' अर्थात् लौहनिर्मित पुर का वर्णन मिलता है।

पुर को किस प्रकार से बसाया जाये अथवा उस का निर्माण किस प्रकार किया जाये इस विषय पर नीति ग्रन्थो मे विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। जनपद की सीमाओ पर सामरिक स्थानो का निर्माण किस प्रकार किया जाये इस विषय में भी विद्वानो ने विचार किया है। आचार्य कौटिल्य ने दुर्ग विधान के प्रकरण मे लिखा है कि राजा को चाहिए कि अपने देश के चारो ओर युद्धोपयोगी एव दैवनिर्मित पर्वतादि विकट स्थानो को ही दुर्ग रूप में परिणत कर दे। जल से पूर्ण किसी स्वाभाविक द्वीप अथवा गहरी खुदी हुई खाई से परिवेष्टित स्थान ये दो प्रकार के औदक (जलीय) दुर्ग माने जाते हैं। बड़े-बड़े पत्थरो से तथा कन्दराओ से घिरा दुर्ग पर्वतदुर्ग कहलाता है। जल तथा घास आदि से हीन और ऊसर प्रदेश मे बना हुआ दुर्ग धान्वन् (मरु-स्थलीय) दुर्ग माना जाता है। चारो ओर दलदल से घिरा तथा काँटेदार झाडियो से परिवेष्टित दुर्ग वनदुर्ग कहा जाता है। इन मे से नदीदुर्ग तथा पर्वतदुर्ग अपने देश की रक्षा करते है। धान्वनदुर्ग तथा वनदुर्ग जगलो में बनाये जाते हैं। आपत्तिकाल में राजा इन दुर्गों मे आत्मरक्षा करता है।[१]

जनपद के मध्य में राजा आठ सौ ग्रामो के बीच बनने वाला स्थानीय नाम का एक नगरविशेष बसाये। वह नगर राजा का समुदयस्थान (राजकोष मे रखने योग्य धनराशि जुटाने का स्थान—तहसील) कहा जाता है। वास्तुशास्त्र के विज्ञजन किसी निर्दिष्ट स्थान, किसी नदी के सगमस्थल पर, सदा जिस मे जल रहता हो ऐसे किसी सरोवर के तट पर अथवा कमलयुक्त किसी तडाग के बीच मे इस स्थानीय नगर का निर्माण कराये। वास्तु की स्थितिवश वह नगर गोलाकार, लम्बा तथा चौकोर रखा जा सकता है। नगर के चारो ओर जलप्रवाह युक्त खाईं अवश्य होनी चाहिए। वह नगर एक प्रकार का पत्तन कहलायेगा, जिस मे उस के चारों ओर उत्पन्न होने वाली

---

१ कौ० अर्थ० २, ३।

वस्तुओं के सग्रह तथा क्रय-विक्रय का केन्द्र रहेगा और वह स्थान जलपथ तथा स्थलपथ से सम्बद्ध होगा। इस स्थानीय नगर के चारो ओर राजा चार हाथ के अन्तर पर तीन खाइयाँ खुदवाये। वे तीनो ही क्रमश चौदह दण्ड (५६ हाथ), बारह दण्ड (४८ हाथ) तथा दस दण्ड (४० हाथ) चौडी होनी चाहिए। उन की गहराई चौड़ाई से एक चतुर्थांश कम अथवा आधी रहे। अथवा चौडाई का एक तृतीयाश उस की गहराई रखे, उन खाइयो का तलप्रदेश चौकोर और पत्थर से बना होना चाहिए। उन की दीवार पत्थर या ईंटो की बनी हुई हो और खुदाई इतनी गहरी की जाये कि धरती के भीतर से पानी निकल आये। अथवा नदी आदि के आगन्तुक जल से उन्हें भरा जा सके। उन में से जल निकलने का भी मार्ग बना होना चाहिए। उन मे कमल तथा नक्र आदि जलजन्तु भी रहे।[1]

कौटिल्य ने दुर्ग विधान के प्रकरण में उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त भी बडे विस्तार के साथ जनपद की रचना के विषय मे प्रकाश डाला है।[2]

दुर्गका महत्त्व

प्राचीन आचार्यों ने दुर्ग के महत्त्व पर भी पूर्ण रूप से अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस विषय मे सोमदेव लिखते हैं कि जिस देश में दुर्ग नही है वह पराजय का स्थान है। जिस प्रकार समुद्र के मध्य नौका से पृथक् होने वाले पक्षी का कोई रक्षक नही होता, उसी प्रकार सकट काल में दुर्ग विहीन राजा की भी रक्षा करने वाला कोई नही (२०, ४-५)। कौटिल्य ने दुर्ग के महत्त्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि यदि दुर्ग न हो तो कोष पर शत्रु सुगमता से अधिकार कर लेगा और युद्ध के अवसर पर शत्रु को पराजय के लिए दुर्ग का ही आश्रय लेना हितकर होगा। सैन्यशक्ति का प्रयोग वही से भली-भाँति हो सकता है। जिन राजाओं का दुर्ग सुदृढ होता है उन्हे परास्त करना सुगम नही होता है।[3] दुर्ग के महत्त्व के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि दुर्ग मे सुरक्षित एक धनुर्धारी सौ योद्धाओं से तथा सौ धनुर्धारी दस सहस्र योद्धाओ से युद्ध करने मे समर्थ हो सकते है अत राजा को अपनी सुरक्षा के लिए दुर्ग का निर्माण करना चाहिए।[4] याज्ञवल्क्य का कथन है कि दुर्ग राजा, जनता तथा कोष की सुरक्षा के लिए परम आवश्यक है।[5]

दुर्ग के भेद—आचार्य सोमदेव ने स्वाभाविक एव आहार्य दो प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है (२०, २)। टीकाकार ने स्वाभाविक दुर्ग के चार भेद बतलाये है—१. ओदक, २ पर्वत दुर्ग, ३ धन्वहदुर्ग तथा ४ वनदुर्ग।

---

१ कौ० अर्थ० २, ३।
२ वही,२, ३-४।
३. वही, ८, १।
४ मनु० ७, ७४।
५ याज्ञ० १, ३२१।

१ औदक—चारों ओर नदियों से वेष्टित व मध्य में टापू के समान विकट स्थान अथवा बडे-बडे सरोवरों से वेष्टित मध्य स्थान को औदकदुर्ग कहते हैं।

२ पर्वतदुर्ग—बडे-बड़े प्रस्तरों अथवा विशाल चट्टानो से वेष्टित अथवा स्वय गुफाओ के आकार के बने हुए विकट स्थान पर्वतदुर्ग कहलाते हैं।

३. धन्वदुर्ग—जल, घास शून्य भूमि या ऊसर भूमि में बने हुए विकट स्थान को धन्वदुर्ग कहते है।

४. वनदुर्ग—चारों ओर घनी कीचड से युक्त अथवा काँटेदार झाडियो से वेष्टित स्थान को वनदुर्ग कहते हैं।

जलदुर्ग और पर्वतदुर्ग देश की रक्षा के लिए तथा धन्वदुर्ग एव वनदुर्ग आटविकों की रक्षा के लिए होते हैं। राजा भी शत्रुकृत आक्रमणों से उत्पन्न आपत्ति के समय भागकर इन दुर्गों में आश्रय ले सकता है। मनु ने छह प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया है। उन के अनुसार धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मृद्दुर्ग तथा गिरिदुर्ग आदि दुर्गों के भेद हैं। इन दुर्गों की व्याख्या भी मनु ने की है। उन्होने गिरिदुर्ग को विशेष महत्त्व दिया है।[1] शुक्रनीतिसार में सात प्रकार के दुर्गों का वर्णन मिलता है। शुक्र के अनुसार एरिणदुर्ग, पारिखदुर्ग, वनदुर्ग, धन्वदुर्ग, जलदुर्ग, गिरिदुर्ग तथा सैन्यदुर्ग आदि दुर्गों के भेद है।[2] उन्होने इन सात प्रकार के दुर्गों की व्याख्या भी की है जो इस प्रकार है—जो दुर्ग झाडी, काँटे, पत्थर, ऊसरभूमि तथा गुप्तमार्गयुक्त हो उसे एरिणदुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग का परकोटा ईंट, पत्थर, मिट्टी आदि की दीवार से बना हो उसे पारिखदुर्ग कहते हैं। जो विशाल घने वृक्षो और काँटों से घिरा हो उसे वनदुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग के चारो ओर जल का प्रवाह हो उसे धन्वदुर्ग कहते है और जो दुर्ग जल से घिरा हो उसे जलदुर्ग कहते हैं। जो बडे ऊँचे स्थान पर निर्जन स्थान मे बनाया जाये उसे गिरिदुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग मे सैनिक शिक्षा के विशेषज्ञ शूरवीर हों और जो अजेय हो उसे सैन्यदुर्ग कहते हैं। जिस मे शूरवीरो के अनुकूल बन्धुजन रहते हो वह सहायदुर्ग कहलाता है। पारिख से एरिण, एरिण से पारिख और पारिख से वनदुर्ग श्रेष्ठ है। सहायदुर्ग और सैन्यदुर्ग सम्पूर्ण दुर्गों के साधन हैं। इन के अभाव मे समस्त दुर्ग व्यर्थ है।[3] समस्त दुर्गों में आचार्यों ने सैन्यदुर्ग को ही महत्त्व दिया है।

आचार्य कौटिल्य ने भी दुर्गों के भेदो पर प्रकाश डाला है। उन के अनुसार

---

१ मनु० ७, ७०-७१।
धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥
सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥

२ शुक्र० ४, ६।

३ वही।

औदकदुर्ग, पार्वतदुर्ग, धान्वनदुर्ग तथा वनदुर्ग आदि दुर्गों के चार प्रकार है।[1] महाभारत मे छह प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है—(१) धन्वदुर्ग, (२) महीदुर्ग, (३) गिरिदुर्ग, (४) मनुष्यदुर्ग, (५) मृत्तिकादुर्ग, (६) वनदुर्ग।[2] पुराणो मे भी दुर्गों का वर्णन मिलता है।[3] ऋषि वाल्मोकि ने भी लका वर्णन में लकानगरी को अनेक प्रकार के दुर्गों से सुरक्षित बतलाया है।[4]

दुर्ग के गुण

आचार्य सोमदेवसूरि ने दुर्ग की विशेषताओ का भी उल्लेख किया है। दुर्ग की जिन विभूतियों के कारण विजिगीषु शत्रुकृत उपद्रवो से अपने राष्ट्र को सुरक्षित कर विजय प्राप्त कर सकता है उन का वर्णन आचार्य ने इस प्रकार किया है—दुर्ग की भूमि पर्वत आदि के कारण विषम, ऊँची-नीची तथा विस्तीर्ण होनी चाहिए। जहाँ पर अपने स्वामी के लिए ही घास, ईंधन और जल बहुतायत मे प्राप्त हो सके, परन्तु आक्रमण करने वाले शत्रुओ को अप्राप्त हो, जहाँ गेहूँ, चावल आदि अन्न तथा नमक, तेल, घी आदि रसो का सग्रह प्रचुरमात्रा में हो, जिस के प्रथम द्वार से प्रचुर धान्य और रसो का प्रवेश एव दूसरे से निष्कासन होता हो तथा जहाँ पर वीर सैनिको का पहरा हो ये दुर्ग की सम्पत्ति है। जहाँ पर उपर्युक्त सामग्री का अभाव हो वह दुर्ग कारागार के समान अपने स्वामी के लिए घातक होता है (२०, ३)।

दुर्ग की सम्पत्ति के विषय मे मनु, कामन्दक तथा शुक्र ने भी प्रकाश डाला है।[5] मनु का कथन है कि दुर्ग शस्त्र, धन-धान्य से युक्त, वाहनो, विद्वानो, कलो को जानने वालो, कलो, जल और इंधन से युक्त होना चाहिए।[6]

शत्रुदुर्ग पर अधिकार करने के उपाय

राजा किस प्रकार अपने शत्रु के दुर्ग पर अधिकार प्राप्त कर सकता है, इस विषय मे भी सोमदव ने प्रकाश डाला है। उन के अनुसार शत्रुदुर्ग पर अधिकार करने के निम्नलिखित उपाय हैं—

१. अभिगमन—सामादि उपाय द्वारा शत्रुदुर्ग पर शस्त्रादि से सुसज्जित सैन्य प्रविष्ट करना।

---

१ कौ० अर्थ० २, ३।

२ महा०, शान्ति० ८६, ५।
धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथेव च।
मनुष्यदुर्गं मृद्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट्॥

३ वायु० ८, १०८ मत्स्य० २१७, ६-७ अग्नि०, २२२ ४-५।

४ रामायण, युद्धकाण्ड—३, २०।
लङ्का पुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा।
नादेय पार्वत चान्य कृत्रिम च चतुर्विधम्॥

५ मनु०, ७, ७५ कामन्दक, ४, ६०, शुक्र०, १, २१२-२१६।

६ मनु०, ७, ७५।

२ उपजाप—विविध उपायो द्वारा शत्रु के अमात्य आदि अधिकारियों में भेद डालकर उन्हें शत्रु के प्रतिद्वन्द्वी बनाना ।

३ चिरनिबन्ध—शत्रु के दुर्ग पर सैनिको को चिरकाल तक घेरा डालना ।

४. अवस्कन्द—प्रचुर सम्पत्ति और मान देकर वश मे करना ।

५ तीक्ष्णपुरुषप्रयोग—घातक गुप्तचरों को शत्रु राजा के पास भेजना ।

उपर्युक्त पाँच उपाय आचार्य सोमदेवसूरि ने शत्रुदुर्ग पर अधिकार करने में सहायक बतलाये हैं (२०, ६) । शुक्र ने भी कहा है कि विजिगीषु शत्रुदुर्ग को केवल युद्ध द्वारा ही नष्ट नही कर सकता । अत उसे शत्रु के अधिकारियो मे भेद और उपायो का प्रयोग करना चाहिए ।[१]

आचार्य सोमदेव ने दुर्गप्रवेश के सम्बन्ध में भी उपयोगी विचार व्यक्त किये हैं । उन का कथन है कि राजा (विजिगीषु) ऐसे व्यक्ति को अपने दुर्ग मे कभी प्रविष्ट न होने दे जिस के हाथ में राजमुद्रा नही दी गयी है तथा जिस को पूर्णरूपेण परीक्षा न कर ली गयी हो । किसी ऐसे व्यक्ति को दुर्ग से बाहर जाने की भी आज्ञा नही देनी चाहिए (२०, ७) । इस विषय मे उन्होने कुछ ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं । उन का कथन है कि इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हूण देश के नरेश ने अपने सैनिको को विक्रय योग्य वस्तुओ का धारण करने वाले व्यापारियो के वेश मे दुर्ग में प्रविष्ट कराया और उन के द्वारा दुर्ग के स्वामी को मरवा कर चित्रकूट देश पर अपना अधिकार कर लिया । आगे आचार्य लिखते हैं कि किसी शत्रु राजा ने काची नरेश की सेवा के बहाने से भेजे हुए शिकार खेलने में प्रवीण खड्गधारण में अभ्यस्त सैनिको को उस के देश मे भेजा जिन्होने दुर्ग मे प्रविष्ट होकर भद्र नाम के राजा को मारकर अपने स्वामी को काची देश का अधिपति बना दिया (२०, ८-९) ।

उपर्युक्त समस्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में दुर्ग का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था । इस के महत्त्व के कारण ही राजनीतिज्ञो ने दुर्ग की इतनी महिमा बतलायी है । जिस प्रकार मनुष्य पर आक्रमण होने पर सर्वप्रथम उस के हाथ ही आक्रमण को रोकते हैं उसी प्रकार शत्रु के आक्रमण का सामना सर्वप्रथम दुर्ग ही करता है । प्रागैतिहासिक काल से ही भारत मे दुर्ग रचना का विधान रहा है । ऋग्वेद में आयसिपुर ऐसा वर्णन आता है, जिस का अभिप्राय लोहनिर्मित पुर से है जिसे दुर्गवत् ही समझना चाहिए । इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवो का दुर्ग आज भी उस काल की दुर्गप्रियता का परिचय दे रहा है । मौर्यकाल में भी दुर्गों का बहुत महत्त्व था । इसी कारण कौटिल्य ने दुर्ग-रचना एव विविध प्रकार के दुर्गों का उल्लेख अर्थशास्त्र मे किया है ।

---

१ शुक्र नीतिवा० पृ० २००
न युद्धेन प्रशक्य स्यात्परदुर्गं कथंचन ।
मुक्त्वा भेदाद्युपायांश्च तस्मात्तान् विनियोजयेत् ।

राजपूतकाल में भी दुर्गों का महत्त्व कम नहीं हुआ । राजस्थान अपने पर्वतीय दुर्गों के लिए प्रसिद्ध है । आगरा तथा दिल्ली के दुर्ग इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि मुगलकाल में भी दुर्गों का महत्त्व बना रहा । ग्वालियर का दुर्ग आज भी उस काल के पर्वतीय दुर्गों की स्मृति दिलाता है । राजस्थान में पर्वतीय दुर्गों का जाल सा बिछा हुआ था । किन्तु आज उन दुर्गों के ध्वसावशेष ही दृष्टिगोचर होते हैं । महाराष्ट्र देश भी दुर्गों का देश रहा है । महाराजा शिवाजी इन्ही दुर्गों पर अधिकार करने के उपरान्त अपनी राजनीति में सफल हुए । सिंहगढ़, रोहिन्दा, चकन, तोर्ण, पुरन्दर, सूपा, वाराभनी, जावली, कल्याण तथा भिवन्दी आदि प्रसिद्ध दक्षिण भारत के दुर्गों पर आक्रमण कर के तथा अपनी नीतिकुशलता से सब को अपने अधिकार में कर लिया । इन दुर्गों पर अधिकार हो जाने के कारण ही शिवाजी ने अपने शत्रुओ को पराजित किया और अँगरेजो के दाँत खट्टे कर दिये । इस के अतिरिक्त महाराष्ट्र प्रदेश जो कि एक पहाडी प्रदेश है, उस की पहाड़ियों पर मराठो ने अनेक दुर्गों का निर्माण किया था जिन पर अधिकार करना दुर्लभ था ।

भारत में अँगरेजो के आगमन से दुर्गरचना का पराभव होने लगा, क्योंकि अब इन दुर्गों का महत्त्व नवीन अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण के कारण उतना न रहा जितना कि धनुष, भाला, तलवार आदि शस्त्रो के युग में था । इन नवीन अस्त्र-शस्त्रो ने सीमा की सुरक्षा एव देश-रक्षा का दायित्व धारण कर लिया और देश की सीमाओ पर इन अस्त्रो को स्थापित कर के सारे देश को ही दुर्ग के रूप मे परिणत करने की नवीन प्रणाली का सूत्रपात हुआ ।

किन्तु आधुनिक युग में दुर्ग विषयक भावना वर्तमान राजनीतिज्ञो के मस्तिष्क से पूर्णरूपेण विलुप्त नही हुई है । समस्त राष्ट्र को दुर्ग के रूप मे परिणत करने की नवीन भावना यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है । यह माना कि स्थल के आक्रमणो से सुरक्षा के लिए दुर्गो की उतनी आवश्यकता अब नही रह गयी है जितनी कि प्राचीन काल मे थी । किन्तु आकाश मे वायुयानों द्वारा आक्रमण से रक्षा के लिए प्रमुख देशों में योजनाबद्ध भूगृह-रचना की योजना विस्तार पर है । देश-काल के अनुसार विधि और व्यवस्था में परिवर्तन अवश्य हो गया है, किन्तु फिर भी मानव के मस्तिष्क मे दुर्ग की भावना अभी तक पूर्ववत् ही निहित है । दुर्ग का महत्त्व युद्ध-काल में ही अधिक होता है । रक्षात्मक युद्ध इन दुर्गो के द्वारा बडो सुगमता से सचालित किया जा सकता है क्योंकि दुर्ग की अल्पशक्ति ही महान् बाह्य-शक्ति का सामना करने में समर्थ होती है जैसा कि मनु का विचार है ।

●

कोष

राजशास्त्र के प्रणेताओं ने राज्यागो में कोष को बहुत महत्त्व दिया है। आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि कोष ही राजाओं का प्राण है (२१, ५)। संचित कोष सकट-काल में राष्ट्र की रक्षा करता है। वही राजा राष्ट्र को सुरक्षित रख सकता है जिस के पास विशाल कोष है। सचित कोष वाला राजा ही युद्ध को दीर्घकाल तक चलाने में समर्थ हो सकता है। दुर्ग में स्थित होकर प्रतिरोधात्मक युद्ध को चलाने के लिए भी सुदृढ़ कोष की आवश्यकता होती है। इसलिए कोष को क्षीण होने से बचाने तथा सचित कोष की वृद्धि करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक उपाय बताये हैं। राज-नीति के ग्रन्थों में अपने महत्त्व के कारण ही कोष एक स्वतन्त्र विषय रहा है। आचार्य सोमदेव ने भी अन्य आचार्यों की भाँति इस विषय पर भी प्रकाश डाला है। नीति-वाक्यामृत में कोष समुद्देश कोष सम्बन्धी बातों का दिग्दर्शन कराता है।

कोष की परिभाषा

आचार्य सोमदेव ने कोष समुद्देश के प्रारम्भ में ही कोष की परिभाषा दी है। उन के अनुसार जो विपत्ति और सम्पत्ति के समय राजा के तन्त्र की वृद्धि करता है और उस को सुसगठित करने के लिए धन की वृद्धि करता है वह कोष है (२१, १)। धनाढ्य पुरुष अथवा राजा को धर्म और धन की रक्षा के लिए तथा सेवकों के पालन-पोषण के लिए कोष की रक्षा करनी चाहिए। कोष की उत्पत्ति राजा के साथ ही हुई है। जैसा कि महाभारत के इस वर्णन से प्रकट होता है। प्रजा ने मनु के कोष के लिए पशु और हिरण्य का पचासवाँ भाग तथा धान्य का दसवाँ भाग देना स्वीकार किया।[1]

कोष का महत्त्व

समस्त आचार्यों ने कोष का महत्त्व स्वीकार किया है। आचार्य सोमदेव का पूर्वोक्त कथन—कोष ही राजाओं का प्राण है—इस के महान् महत्त्व का द्योतक है। आचार्य सोमदेव आगे लिखते हैं कि जो राजा कौडी-कौडी कर के अपने कोष की वृद्धि नही करता उस का भविष्य में कल्याण नही होता (२१, ४)।

---

१. महा० शान्ति०, ६७, २३-२४।

आचार्य कौटिल्य कोष का महत्त्व बतलाते हुए लिखते है कि सब का मूल कोष ही है अत राजा को सर्वप्रथम कोष की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।[१] महाभारत में भी ऐसा वर्णन आता है कि राजा को कोष की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। क्योकि राजा लोग कोष के ही अधीन हैं तथा राज्य की उन्नति भी कोष पर ही आधारित है।[२] कामन्दक ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति से यही सुना जाता है कि राजा कोष के आश्रित है।[३] कोष के इस महत्त्व के कारण ही मनु ने लिखा है कि सरकार तथा कोष का निरीक्षण राजा स्वय ही करे, क्योकि इन का सम्बन्ध राजा से ही है।[४] याज्ञवल्क्य राजा को यह आदेश देते है कि उसे प्रतिदिन राज्य की आय-व्यय का स्वय निरीक्षण करना चाहिए तथा इस विभाग के कर्मचारियो द्वारा सगृहीत स्वर्ण एव धनराशि को कोष मे जमा करना चाहिए।[५]

आचार्य सोमदेव का कथन है कि राज्य की उन्नति कोष से होती है न कि राजा के शरीर से (२१, ७)। आगे वे लिखते है कि जिस के पास कोष है वही युद्ध मे विजयी होता है (२१, ८)। इस प्रकार आचार्य कोष को राज्य की सर्वांगीण उन्नति एव उस की सुरक्षा का अमोघ साधन मानते है। कोष वाले राजा को सेवक और सैन्य सब कुछ सुलभ हो सकते है, परन्तु कोष विहीन राजा को कोई भी वस्तु सुलभ नही होती। कोषहीन राजा नाममात्र का ही राजा है। क्षीण कोष वाला राजा अपनी प्रजा पर धन-सग्रह के लिए अनेक प्रकार के अत्याचार करता है, जिस के परिणाम-स्वरूप प्रजा दु खी होती है और वह उस के अत्याचार से तग आकर उस देश को छोडकर अन्यत्र चली जाती है। इस से राजा जनशक्ति विहीन हो जाता है (२१, ६)।

उत्तम कोष

इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं कि राज्य की प्रतिष्ठा, रक्षा एव विकास के लिए कोष को परम आवश्यकता है। इस के साथ ही आचार्यो ने इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि कौन-सा कोष उत्तम है। आचार्य सोमदेव उत्तम कोष का वर्णन करते हुए लिखते है कि जिस म स्वर्ण, रजत का प्राबल्य हो और व्यावहारिक नाणको (प्रचलित मुद्राओ) की अधिकता हो तथा जो आपत्काल मे बहुत व्यय करने मे समर्थ हो वह उत्तम कोष है (२१, २)।

---

१ कौ० अर्थ० २, ८।
कोशमूला कोशपूर्वा सर्वारम्भा। तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत॥
२ महा० शान्ति० ११६, १६।
३ कामन्दक—१३, ३३।
कोशमूलो हि राजेति प्रवाद सार्वलौकिक।
४ मनु० ७, ६५।
५ याज्ञ० १, ३२७-२८।

आचार्य सोमदेव ने कोष के गुणो की जो व्याख्या की है वह आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपत्ति-काल में धान्य और पशुओ के विक्रय से पर्याप्त धन प्राप्त नही हो सकता। अत जिन वस्तुओ का विक्रय तुरन्त हो सके और अल्प वस्तु अधिक मूल्य में बिक सके ऐसी ही वस्तुओ का अधिक मात्रा में राजकोष मे सग्रह होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से सोमदेव ऐसी वस्तुओ का सग्रह करने के लिए राजा को परामर्श देते है। नाणक की भी कोष में बडी आवश्यकता रहती है, क्योकि सेना और अन्य राजकर्मचारियो को वेतन में नाणक (प्रचलित मुद्रा) ही देना पडता है। इस मुद्रा से व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुओ का सरलता पूर्वक क्रय कर सकता है। स्वर्ण एव रजत की अधिक मात्रा होने से नाणक तैयार किये जा सकते है। इसलिए उत्तम कोष वही है जिस में सोना एव रजत अधिक मात्रा मे हो। इस के अतिरिक्त यदि कोई शत्रु राजा के देश पर आक्रमण कर दे और उस के पास युद्ध करने के लिए पर्याप्त सेना न हो अथवा पराजय की आशका हो तो राजा साम दामादि से शत्रु को लौटा सकता है। शत्रु को तभी धन से सन्तुष्ट किया जा सकता है जब कि राजा का कोश स्वर्ण एव रजत से परिपूर्ण हो।

कोषविहीन राजा

आचार्य सोमदेवसूरि ने धनहीन राजा की निन्दा की है, क्योकि उन की दृष्टि में राज्य की प्रतिष्ठा एव सुरक्षा की आधारशिला कोश ही है। आचार्य का कथन है कि धनहीन व्यक्ति को तो उस की स्त्री भी त्याग देती है फिर अन्य पुरुषो का तो कहना ही क्या (२१, ९)। इस का अभिप्राय यही है कि धनहीन राजा को उस के सेवक तथा पदाधिकारी त्याग कर अन्य राजा की सेवा मे चले जाते हैं। जिस से वह असहाय अवस्था को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। आचार्य का यह भी कथन है कि धनहीन व्यक्ति (राजा) चाहे कितना ही कुलीन एव सदाचारी क्यो न हो, सेवकगण उस की सेवा करने को प्रस्तुत नही होते, क्योकि वहाँ से उन्हें जीविका के लिए धन प्राप्ति की कोई आशा नही होती (२१, १०)। उस के विपरीत नीचकुल मे उत्पन्न हुए एव चरित्रभ्रष्ट व्यक्ति से धनाढ्य होने के कारण उसे धन का स्रोत समझ कर सभी लोग उस की सेवा के लिए प्रस्तुत रहते है। उक्त विवेचन का अभिप्राय यही है कि कुलीन और सदाचारी होने पर राजा को राजतन्त्र के नियमित तथा व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए न्यायोचित उपायो द्वारा कोष की वृद्धि करनी चाहिए।

आचार्य सोमदेव ने आगे लिखा है कि उस तालाब के विस्तीर्ण होने से क्या लाभ है जिस में पर्याप्त जल नही है (२१, ११)। परन्तु जल से परिपूर्ण छोटा तालाब भी इस से कही अधिक प्रशसनीय है। साराश यह है कि मनुष्य कुलीनता आदि से बडा होने पर यदि दरिद्र है तो उस का बडप्पन व्यर्थ है, क्योकि उस से कोई भी कार्य सिद्ध नही हो सकता। अत नैतिक उपायो द्वारा धन का सग्रह करना महत्त्वपूर्ण बतलाया है।

रिक्त राजकोष की पूर्ति के उपाय

आचार्य सोमदेवसूरि ने रिक्त राजकोष की पूर्ति के उपायों पर भी प्रकाश डाला है। उन के अनुसार राजकोष की पूर्ति के निम्नलिखित उपाय हैं—

१ ब्राह्मण और व्यापारियो से उन के द्वारा सचित किये हुए धन में से क्रमश धर्मानुष्ठान, यज्ञानुष्ठान और कौटुम्बिक पालन के अतिरिक्त जो धनराशि शेष बचे उसे लेकर राजा को अपनी कोष-वृद्धि करनी चाहिए।

२. धनाढ्य पुरुष, सन्तानविहीन, धनी व्यक्ति, विधवाओ का समूह और कापालिक—पाखण्डी लोगों के धन पर कर लगाकर उन की सम्पत्ति का कुछ अश लेकर अपने कोष की वृद्धि करे।

३ सम्पत्तिशाली देशवासियों की प्रचुर धनराशि का विभाजन कर के उन के भली-भाँति निर्वाह योग्य धनराशि छोड़कर उन से प्रार्थना पूर्वक धन ग्रहण कर के कोष की वृद्धि करनी चाहिए।

४ अचल सम्पत्तिशाली, मन्त्री, पुरोहित और अधीनस्थ सामन्तों से अनुनय और विनय कर के उन के घर जाकर उन से धन याचना करनी चाहिए। और उस धन से अपने कोष की वृद्धि करनी चाहिए (२१, १४)।

इस प्रकार उक्त चार साधनो से राजा को अपने रिक्त राजकोष की वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। राजा को सर्वदा इस कार्य में प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसे अपना राजकोष कभी रिक्त नही रहने देना चाहिए। कोष ही राज्य की प्राण-शक्ति है और उस के अभाव में वह नष्ट हो जाता है।

आय-व्यय

सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले न्यायोचित साधन अथवा उपाय, कृषि, व्यापारादि एव राजा द्वारा उचित कर लगाना आदि को आय कहा गया है। स्वामी की आज्ञानुसार धन खर्च करना व्यय है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राजा अपनी आय के अनुकूल ही व्यय करे, क्योकि जो राजा आय का विचार न कर के अधिक व्यय करता है वह कुबेर के समान असख्य धन का स्वामी होकर भी भिक्षुक के समान आचरण करने वाला हो जाता है (१६, १८)। एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं कि नित्य धन के व्यय से सुमेरु भी क्षीण हो जाता है (८, ५)। आचार्य के विचार से समान आय-व्यय वाला कार्य आनन्ददायक है। शुक्र का कथन है कि राजा अपनी वार्षिक आय का षट्-भाग सेना पर व्यय करे, बारहवाँ भाग दान में, मन्त्रियो पर, अन्य राज-कर्मचारियो पर तथा अपने व्यक्तिगत कार्यों पर व्यय करे।[1] इन समस्त बातों का अभिप्राय यही है कि राजा को अधिक व्यय नही करना चाहिए।

---

१ शुक्र० १, ३१५-१७।

राज-कर के सिद्धान्त

प्राचीन काल में कर के कुछ निश्चित सिद्धान्त थे जिन का उल्लेख धर्मशास्त्रों में विशेषरूप से हुआ है। राजा प्रजा पर कर लगाने मे स्वतन्त्र नही था, अपितु वह उन्ही करो को प्रजा पर लगा सकता था जिन का प्रतिपादन स्मृतिग्रन्थो द्वारा किया गया है। स्मृतियो द्वारा निर्धारित कर के सिद्धान्तो का पूर्णरूप मे पालन किया जाता था। धर्मशास्त्रों एव स्मृतियो द्वारा प्रतिपादित कर के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) राजकीय कर का निर्धारण स्वेच्छा से न किया जाये अपितु धर्मशास्त्रो में निर्धारित कर ही प्रजा से ग्रहण किया जाये। सोमदेव का भी यही मत है। उन का कथन है कि अन्याय से त्रणशलाका का लेना भी प्रजा को महान् कष्टदायक होता है और इस से प्रजा राजा के विरुद्ध हो जाती है (१६, २३)। अन्यत्र वे लिखते हैं कि अन्याय प्रवृत्ति चिरकाल तक सम्पत्तिदायक नही होती (१७, २०)। जो राजा भारी कर लगाकर प्रजा को पीडित करता है वह स्वय नष्ट हो जाता है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि जो राजा अपनी प्रजा को समस्त प्रकार के कष्ट देता है उस का कोष नष्ट हो जाता हैं (१२, १७)। अत कर प्रजा को कष्टदायक नही होना चाहिए।

(२) कर का दूसरा सिद्धान्त यह था कि राजकीय कर मूलोच्छेद करने वाला नही होना चाहिए। अधिक कर लगाने से कर देने वालो की जड का उच्छेदन हो जाता है और इस से राजा का भी मूलोच्छेद हो जाता है। आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि कर मे अधिक वृद्धि करने से सम्पूर्ण राष्ट्र दरिद्र होकर नष्ट हो जाता है। अत न्यायी राजा को अपने प्रजा से उचित कर ही लेना चाहिए जिस से राष्ट्र की श्रीवृद्धि होती रहे (१६, २५)। अन्यत्र वे लिखते है कि प्रजा का वैभव ही स्वामी का वैभव है इसलिए युक्ति से जनता के वैभव का उपभोग करना चाहिए (१६, २७)। इस का अभिप्राय यही है कि राजा को प्रजा से उतना ही कर ग्रहण करना चाहिए जितनी उस की सामर्थ्य हो। यदि जनता पर अधिक कर लगा दिया जायेगा तो कर के भार से दबी हुई जनता दरिद्र हो जायेगी और ऐसी स्थिति मे राजा और प्रजा दोनो की ही हानि होगी। दरिद्र जनता से राजा को धन प्राप्त नही हो सकेगा। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि अत्याचारो के भय से जनता राजा का देश छोडकर अन्यत्र जा बसे। अत राजा का यह कर्तव्य है कि उचित करो के निर्धारण से जनता को वैभवशाली बनाये, क्योकि इसी मे राजा का हित है। यदि राजा केवल अपनी आर्थिक स्थिति को ही सुधारता है और जनता की आर्थिक दशा की ओर कोई ध्यान नही देता तो प्रजा उसे त्याग देती है। जनता के अन्यत्र चले जाने से राज्य का प्रमुख तत्त्व (जनता) ही नष्ट हो जाता है और इस प्रकार राज्य का अस्तित्व भी असम्भव हो जाता है।

आचार्य सोमदेव का मत है कि अधिक कर लगाकर जनता का मूलोच्छेद करना सर्वथा अनुचित है। जिस प्रकार वृक्ष के काटने से केवल एक बार ही फल प्राप्त हो सकते है भविष्य में नही (१६, २६)। इसी प्रकार यदि जनता पर प्रारम्भ में ही

भारी कर लगा दिये जायेंगे तो राज्य को केवल एक बार ही अधिक धन प्राप्त हो सकेगा। भविष्य में उसे धन की प्राप्ति नही हो सकेगी, क्योकि भारी करो को एक बार अदा कर के जनता गरीब हो जायेगी और फिर वह कर देने योग्य न रहेगी। अत: राजा को कभी लोभ अथवा तृष्णा के वशीभूत होकर प्रजा पर भारी कर नही लगाना चाहिए।

महाभारत में बछडे का उदाहरण देकर यह बताया गया है कि जिस प्रकार बछडे का पोषण भली-भाँति करने से वह भारी बोझा ढोने मे समर्थ होता है, उसी प्रकार जनता पर अल्प कर लगाकर उस को समृद्ध बनाने से वह भी महान् कार्यों के करने में समर्थ होती है। यदि प्रारम्भ मे ही उस पर अधिक कर लगा दिया जायेगा तो वह महान् कार्यों के करने में असमर्थ होगी। उस से राजा को भी अर्थ की प्राप्ति नही हो सकेगी।[1] अत राजा को प्रजा पर अधिक कर नही लगाने चाहिए।

कर का तीसरा सिद्धान्त यह था कि राजकर ऐसा होना चाहिए जो प्रजा को भारी मालूम न हो। मनु का कथन है कि राजा प्रजा से शनै-शनै अल्प मात्रा में कर ग्रहण करे जिस से जनता कर को भारस्वरूप न समझे। राजा को प्रजा के साथ कर के सम्बन्ध में जलजोक, बछडा तथा भ्रमर का-सा व्यवहार करना चाहिए।[2] महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार मधुमक्खी पुष्पो एव पत्तियो को हानि पहुँचाये बिना पुष्पो से मधु ग्रहण करती हैं उसी प्रकार राजा को प्रजा से कोई हानि पहुँचाये बिना हो कर प्राप्त करना चाहिए।[3] इन समस्त उदाहरणो का तात्पर्य यही है कि प्रजा पर उतना ही कर लगाना चाहिए, जिसे वह सरलता पूर्वक दे सके। आचार्य सोमदेव भी इसी सिद्धान्त मे विश्वास रखते हैं।

कर के सम्बन्ध मे चौथा सिद्धान्त यह था कि कर देश काल के अनुरूप ही लिया जाये। यदि इस नियम का उल्लघन किया जायेगा तो प्रजा राजा के विरुद्ध हो जायेगी। आचार्य सोमदेव का कथन है कि राजा प्रजा से अपने देशानुकूल ही कर ग्रहण करे (२६, ४१)। अन्यथा उत्तम फसल आदि न होने के कारण प्रजा राजा से विद्रोह करने को कटिबद्ध हो जाती है। आगे आचार्य लिखते है कि जिन व्यक्तियो को राजा ने पहले करमुक्त कर दिया है, उन से उसे पुन कर ग्रहण नही करना चाहिए, क्योकि ऐसा आचरण करने से उस को प्रतिष्ठा एव कीर्ति में वृद्धि होगी (१९, १८)। सोमदेव का यह भी कथन है कि मर्यादा का अतिक्रमण करने से उर्वरा भूमि भी अरण्य तुल्य हो जाती है (१९, १९)। इसी प्रकार वे अन्यत्र लिखते हैं कि अन्याय से त्रणशलाका का ग्रहण करना भी प्रजा को कष्टदायक होता है (१६, २३)।

इस प्रकार प्राचीन काल में कर के सिद्धान्त निश्चित थे। जिन का उल्लेख

---

१ महा० शान्ति० ८७, २० २१।
२ मनु० ७, १२६।
३ महा० उद्योग० ३४, १७ १८।

धर्मशास्त्रो एव अर्थशास्त्रो में मिलता है। यदि राजा इन नियमो की उपेक्षा करने का साहस करता था तो प्रजा उस के विरुद्ध हो जाती थी। इसी भय से सामान्यत. प्राचीन भारत में कर के उपर्युक्त सिद्धान्तो का पूर्णरूपेण पालन किया जाता था।

राजकर साधन था न कि साध्य

आचार्य सोमदेव ने कोष वृद्धि मे केवल धार्मिक और न्यायिक साधनो का प्रयोग करने की अनुमति दी है। अधार्मिक साधनों द्वारा कोष-वृद्धि का उन्होने सर्वत्र विरोध किया है। वे लिखते है कि जब कोषहीन राजा अन्याय पूर्वक प्रजा से धन ग्रहण करता है तो प्रजा उस का देश छोडकर अन्यत्र चली जाती है और इस प्रकार राष्ट्र जनशून्य हो जाता है (२१, ६)। बिना प्रजा के राज्य का अस्तित्व भी नही रहता। अन्यत्र आचार्य लिखते है कि यदि राजा प्रयोजनार्थियो से इष्ट प्रयोजन न कर सके तो उसे उन की भेंट स्वीकार नही करनी चाहिए, क्योकि ऐसा करने से लोक में उस की हँसी और निन्दा होती है (१७, ५०)। राजा को अपराधियो के जुर्माने से आये हुए, जुआ मे जीते हुए, युद्ध में मारे गये, नदी, तालाब और मार्गों आदि में मनुष्यो के द्वारा भूले हुए धन का तथा चोरी के धन का, पति, पुत्रादि कुटुम्बियो से विहीन अनाथ स्त्री का अथवा रक्षकहीन कन्या का धन एव विप्लव आदि के कारण जनता द्वारा छोडे हुए धन का स्वय उपभोग कदापि नही करना चाहिए (९, ५)। इस प्रकार के धन का उपयोग प्रजा की भलाई के कार्यों में न तो किया जा सकता था, किन्तु उस का उपभोग राजा के लिए निषिद्ध था।

राजकर राजा का वेतन था

धर्म ग्रन्थो मे कर को राजा का वेतन बताया गया है। महाभारत मे जनता से प्राप्त धन को राजा का वेतन ही कहा गया है।[1] कौटिल्य ने भी धान्य के छठे भाग और पण्य के दसवें भाग को राजा का भागदेय बतलाया है।[2] अन्य नीतिग्रन्थो में भी राजा को स्वामी रूप मे मानकर भी प्रजा-पालन के लिए स्वभागरूपी वृत्ति के प्राप्त करने से उसे (राजा को) प्रजा का दास ही बताया गया है।[3] प्रजापालन करने के उपलक्ष्य में ही राजा को कर के रूप मे धन प्राप्त होता था। नीतिवाक्यामृत में ऐसा उल्लेख आता है कि पालन करने वाला राजा सब के धर्म के छठे अश को प्राप्त करता है (७, २३)। आगे यह भी कहा गया है कि उस राजा को यह छठा भाग होवे जो हमारी रक्षा करता है (७, २५)। इन सूत्रो से यही ध्वनि निकलती है कि प्रजा राजा को उस की सेवाओ के उपलक्ष्य में ही धन कर स्वरूप देती थी।

---

१. महा० शान्ति० ७१, १०।
२ कौ० अर्थ० १, १३।
३ शुक्र० १, १८८।

आय के स्रोत

प्राचीन काल में राज्य की आय के दो प्रमुख स्रोत थे—(१) भूमि कर तथा (२) अन्य वस्तुओ पर लगने वाला कर। राजा की आय का प्रमुख साधन भूमि कर ही था जो प्राय उपज का छठा अंश ही था। परन्तु यह नियम सर्वत्र समान नही था। इस का कारण यह था कि कही भूमि अधिक उपजाऊ थी और कही कम। भूमि की उर्वर शक्ति तथा उस की सिचाई आदि की व्यवस्था के आधार पर ही नीतिकारों ने भूमि कर की दर निश्चित की थी। गौतम तथा मनु का कथन है कि राजा साधारण स्थिति मे प्रजा से उपज का छठा भाग भूमि कर के रूप मे ग्रहण करे।[1] किन्तु विषय स्थिति मे इस से अधिक भी कर दिया जा सकता था। मनु तथा कौटिल्य विषम स्थिति मे राजा को प्रजा से अधिक कर देने की अनुमति प्रदान करते हैं। उन का कथन है कि राजा आपद्-कालीन स्थिति मे कृषकों से उपज का तीसरा भाग अथवा चतुर्थांश भूमि कर के रूप मे ग्रहण कर सकता है। वे यह भी लिखते हैं कि इस प्रकार का अधिक कर प्रजा से प्रार्थना पूर्वक ही ग्रहण किया जाये न कि शक्ति का भय दिखा कर।[2] आचार्य सोमदेव ने इस सम्बन्ध में कुछ नही लिखा है कि भूमि कर की दर क्या हो। किन्तु नीतिवाक्यामृत के कुछ सूत्रो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सोमदेव भी भूमि कर के सम्बन्ध मे उसी प्राचीन परम्परा को मानते थे। त्रयीसमुद्देश के चौबीसवें सूत्र से ज्ञात होता है कि नीतिवाक्यामृत में भी छठे भाग का अनुमोदन किया गया है (७, २४)।

कृषक-वर्ग के प्रति उदारता

आचार्य सोमदेव के मतानुसार कृषको के साथ राजा का व्यवहार उदारतापूर्वक ही होना चाहिए और अनावृष्टि आदि के कारण यदि फसल अच्छी नही हो तो उन को लगान मे छूट देनी चाहिए या कृषको को लगान से पूर्णरूपेण मुक्त कर देना चाहिए। कर ग्रहण करने मे भी उन के साथ कठोरता का व्यवहार नही करना चाहिए। जो राजा लगान न देने के कारण कृषको की गेहूँ, चावल आदि को अधपकी फसल कटवा-कर उसे हस्तगत कर लेता है वह उन्हे देश-त्याग के लिए बाध्य करता है। जिस के कारण राजा और प्रजा दोनो को ही आर्थिक सकट का सामना करना पड़ता है (१९, १५)। अत राजा को कृषको के साथ इस प्रकार का अन्याय करना सर्वथा अनुचित है। आगे आचार्य लिखते हैं कि जो राजा पकी हुई धान्य की फसल काटते समय अपने राष्ट्र के खेतो में से हाथी, घोडे आदि की सेना को निकालता है उस का देश अकाल पीडित हो जाता है (१९, १६)। इस का कारण यह है कि हाथी, घोडो के द्वारा फसल नष्ट हो जाती है और उस से अन्न का अभाव हो जाता है तथा अन्ना-भाव के कारण देश में दुर्भिक्ष पड जाता है।

१ गौतम० १०, २४ तथा मनु० ७, १३०।

२ मनु० १०, १८८ तथा कौ० अर्थ० ५, २।

इस समस्त विवरण का तात्पर्य यही है कि राजा को कृषको के साथ अन्याय-पूर्ण व्यवहार कदापि नही करना चाहिए और उन की फसल को किसी प्रकार की हानि नही पहुँचानी चाहिए। कृषको के साथ उदारता का व्यवहार करने तथा उन को हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने से देश में कृषि-कर्म एवं वाणिज्य की वृद्धि होती है, जो कि राज्य की आर्थिक समृद्धि का मूल है। आचार्य सोमदेव का यही विचार है कि वार्ता की समृद्धि मे ही राजा की समस्त समृद्धियाँ निहित हैं (८, २)।

अन्य प्रकार के कर

भूमि कर के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ पर लगने वाले कर भी राज्य की आय के साधन थे। शुल्क से राज्य को पर्याप्त धन प्राप्त होता था। विक्रेता और क्रेता से राजा को जो भाग प्राप्त होता है वह शुल्क कहलाता है। शुल्क प्राप्ति के स्थान हट्टमार्ग (चुगी-स्थान) आदि हैं। इन स्थानो का सुरक्षित होना परम आवश्यक है। इस के साथ ही यह भी आवश्यक है कि वहाँ पर न्यायोचित कर ही ग्रहण किया जाये। यदि वहाँ पर किसी भी प्रकार का अन्याय होगा तो व्यापारी लोग अपना माल लाना बन्द कर देंगे और इस से राजकीय आय को क्षति पहुँचेगी। आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि आय के स्थानो मे व्यापारियो से थोडा सा भी अन्याय का धन ग्रहण करने से राजा को महान् आर्थिक हानि होती है, क्योंकि व्यापारियो के क्रय-विक्रय के माल पर अधिक कर लगाने से वे लोग भारी कर के भय से व्यापार बन्द कर देते हैं या छल-कपट का व्यवहार करते है जिस के फलस्वरूप राज्य को आर्थिक हानि होती है (१४, १४)।

आयात और निर्यात कर

नीतिवाक्यामृत मे आयात और निर्यात कर का भी उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध मे भी आचार्य ने कुछ निर्देश दिये हैं। उन का कथन है कि जिस राज्य मे अन्य देश की वस्तुओ पर अधिक कर लगाया जाता है तथा जहाँ के राजकर्मचारी बल-पूर्वक अल्प मूल्य देकर व्यापारियो से बहुमूल्य वस्तुएँ छीन लेते है उस राज्य मे अन्य देशो से माल आना बन्द हो जाता है (८, ११-१२)। इस से राज्य की आय का प्रमुख स्रोत समाप्त हो जाता है। अत. बाहर के माल पर अधिक कर नही लगाना चाहिए। अल्प कर लगाने से विदेशी व्यापारियो को देश में माल लाने की प्रेरणा मिलती है और वे बहुत सा सामान लाते हैं। अधिक आयात होने से उस पर लगने वाले शुल्क से राज्य की आय मे पर्याप्त वृद्धि होती है।

शुल्क स्थानो की सुरक्षा

किसी देश में बाहर के व्यापारी तभी आ सकते हैं जब कि उन की सुरक्षा की उचित व्यवस्था हो। यदि शुल्क स्थानो पर अथवा मार्ग मे उन को चोर आदि लूट लें या वहाँ के अधिकारी अल्प मूल्य देकर उन की बहुमूल्य वस्तुएँ हस्तगत कर लें अथवा

उन से उत्कोच आदि लेने का प्रयत्न करे तो वहाँ पर विदेशी व्यापारियो का आना बन्द हो जाता है। इसी कारण आचार्य सोमदेव शुल्क स्थानो की पूर्ण सुरक्षा को अत्यन्त आवश्यक समझते है। उन का कथन है कि राष्ट्र के शुल्क स्थान जो कि न्याय से सुरक्षित होते हैं अर्थात् जहाँ अधिक कर ग्रहण न कर के न्यायोचित कर लिया जाता है तथा चोरों आदि द्वारा चुरायी गयी प्रजा की धनादि वस्तु पुन लौटा दी जाती हैं वहाँ पर व्यापारियो को क्रय और विक्रय योग्य वस्तुओ की अधिक सख्या मे दुकानें होने के कारण वे स्थान राजा को कामधेनु के समान अभिलषित वस्तुएँ प्रदान करने वाले होते हैं (१९, २१)।

राज्य की आय के अन्य साधन

पूर्वोक्त रिक्त राजकोष की पूर्ति के उपाय भी राज्य की आय के प्रमुख साधन है। इन में सम्पत्ति कर प्रमुख था। अकस्मात् मिला हुआ धन तथा धनाढ्य पुरुषों की मृत्यु के उपरान्त उन के नि सन्तान होने की स्थिति मे उस सम्पत्ति का अधिकारी राजा ही होता था (२१, १४)। इस के अतिरिक्त अधिक लाभ लेने वाले व्यापारियो के लाभ मे से भी राजा को धन की प्राप्ति होती थी (८, १९)।

उत्कोच लेने वाले राज्याधिकारियो से धन प्राप्त करने के उपाय

आचार्य सोमदेव ने उत्कोच लेने वाले राज्याधिकारियो की घोर निन्दा की है और उन से राजा को सावधान रहने का परामर्श दिया है। आचार्य का मत है कि राजा को उन लोगो पर कठोर नियन्त्रण रखना चाहिए तथा उन के साथ कभी नही मिलना चाहिए। यदि राजा भी उन मे धन के लोभ से साझीदार हो जायेगा तो इस से महान् अनर्थ होगा (८, २०)। उस का राष्ट्र एव कोष सभी कुछ नष्ट हो जायेगा। इस के साथ ही सोमदेव ने उन उपायो का भी उल्लेख किया है जिन के द्वारा उन राज्याधिकारियो से उत्कोच का धन पुन प्राप्त हो सकता है। इस का सर्वप्रमुख उपाय यही है कि राजकर्मचारियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाये, जिस से कि वे प्रजा से उत्कोच लेने का साहस ही न कर सके। यदि नियन्त्रण रखने पर भी उन्होने इस अनुचित रीति से धन सग्रह कर लिया है तो उस धन को राजा निम्नलिखित उपायो से ग्रहण करे—

१ **नित्य परीक्षण**—राजा का यह कर्तव्य है कि वह सदैव इन अधिकारियो का निरीक्षण गुप्तचरो की सहायता से करता रहे। यदि इस ढग से उसे कोई अधिकारी दोषी मिले तो उसे कठोर दण्ड देना चाहिए।

२ **कर्मविपर्यय**—उन्हे उच्च पदो से पृथक् कर के साधारण पदो पर नियुक्त करना चाहिए जिस से कि वे भयभीत होकर उत्कोच द्वारा सचित धन को प्रकट करने के लिए विवश हो जायें।

३ प्रतिपत्रप्रदान—अधिकारियो के लिए छत्र, चँवर आदि बहुमूल्य वस्तुएँ भेंटस्वरूप प्रदान करना चाहिए जिस से कि वे अपने स्वामी से प्रसन्न होकर उत्कोच द्वारा संचित किये हुए धन को राजा को सौंप दे।

इस प्रकार आचार्य सोमदेव ने उपर्युक्त तीन उपाय राज्याधिकारियों से उत्कोच आदि का धन ग्रहण करने के सम्बन्ध में बताये हैं (१८, ५५)।

अधिकारी लोग दुष्टव्रण के समान बिना कठोर दण्ड दिये घर में उत्कोच द्वारा सचित किया हुआ धन आसानी से देने को प्रस्तुत नही होते (१८, ५६)। उन्हें बार-बार उच्च पदो से साधारण पदो पर नियुक्त करके भयभीत करना चाहिए। अपनी अवनति से घबडाकर वे उत्कोच का धन स्वामी को देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं (१८, ५७)। जिस प्रकार वस्तु को बारम्बार प्रस्तर पर पटकने से साफ किया जाता है उसी प्रकार अधिकारियो को उन के अपराधी सिद्ध होने पर बारम्बार दण्डित करने से वे उत्कोच का धन राजा को सौंप देते हैं (१८, ५८)। अधिकारीवर्ग मे आपसी फूट होने से भी राजाओ को कोष की वृद्धि होती है (१८, ६४)। इस का तात्पर्य यह है कि अधिकारीवर्ग आपसी फूट के कारण एक-दूसरे का अपराध राजा के सम्मुख प्रकट कर देते है, जिस के कारण उत्कोच आदि से सचित किया हुआ धन अधिकारीवर्ग से राजा को सरलतापूवक प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार इन समस्त साधनो से राज-कोष की वृद्धि की जाती थी। आचार्य सोमदेव ने अधिकारियो की सम्पत्ति को राजाओ का द्वितीय कोष बतलाया है जो कि यथार्थ ही है (१८, ६५)। आपत्तिकाल में राजा अधिकारियो से प्रार्थनापूर्वक धन प्राप्त कर सकता है ऐसा आचार्य का मत है (२१, १४)। इसी कारण अधिकारियो की सम्पत्ति को राजाओ का द्वितीय कोष बतलाया गया है।

राजस्वविभाग के अधिकारी

नीतिवाक्यामृत में राजस्वविभाग के पाँच अधिकारियो का उल्लेख मिलता है (१८, ५१)। इन अधिकारियो के नाम आदायक, निबन्धक, प्रतिबन्धक, नीवीग्राहक तथा राजाध्यक्ष हैं।

आदायक का कार्य शुल्क ग्रहण करना तथा व्यापारियो एव कृषको से अन्य प्रकार के कर ग्रहण करना था। इस अधिकारी का यह कर्तव्य था कि राजस्व तथा अन्य कर वसूल कर के राजकोष में जमा कर दे। इस प्रकार इस के दो कार्य थे, एक तो कर ग्रहण करना तथा दूसरा, उस सग्रहीत धनराशि को राजकोष में जमा करना। निबन्धक आदायक का सहायक कर्मचारी था जो कि राजस्व का समस्त विवरण लिखता था। एक प्रकार से यह आदायक का सम्परीक्षक था। यह सग्रहीत राजस्वकोष का हिसाब देखता था और यह भी देखता था कि जितनी धनराशि राजस्व मे प्राप्त हुई है वह राजकोष मे जमा हुई है अथवा नही। इस प्रकार का निरीक्षण कर के यह उस की

सूचना राजा को देता था। प्रतिबन्धक का कार्य आदायक द्वारा राजकोष में जमा किये गये राजस्व एव अन्य करो के विवरण पत्रो पर राजमुद्रा अंकित करना था। नीवीग्राहक राजकोष का उच्चाधिकारी होता था। यह वर्तमान कोषाधिकारी के समान था। यह राजकीय आय व्यय का लेखा रखता था। उपर्युक्त चारो अधिकारी राजाध्यक्ष के अधीन थे और इसी की अध्यक्षता में कार्य करते थे।

आय-व्यय-लेखा

शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए वार्षिक आय-व्यय का लेखा तैयार करना परम आवश्यक है। यदि राजा को इस बात का ही ज्ञान नही कि उस की वार्षिक आय क्या है तथा वर्ष में कितना व्यय होगा तो वह अपने राज्य को अधिक समय तक नही चला सकेगा। इस का कारण यह है कि आय से अधिक व्यय होने से राष्ट्र में आर्थिक सकट उत्पन्न हो जायेगा और इस के परिणामस्वरूप राज्य नष्ट हो जायेगा। आचार्य सोमदेव ने वार्षिक आय व्यय का लेखा तैयार कराने का भी निर्देश दिया है। उन का कथन है कि राजा नीवीग्राहक (कोषाध्यक्ष) से राजकीय आय व्यय की लेखा-बही को लेकर स्वय उस का निरीक्षण करे तथा उस को विशुद्ध करे (१८, ५३)। आचार्य का विचार है कि अर्थदूषण से धन-कुबेर भी भिक्षा का पात्र बन जाता है (१६, १८)। उन्होने आय से अधिक व्यय को अर्थ का दूषण बतलाया है (१६, १९)। उन का यह भी विचार है कि जब आय-व्यय का लेखा रखने वाले अधिकारियो में कोई विवाद उपस्थित हो, राज्य की आय कम हो गयी हो तथा सकटकाल में अधिक व्यय को आवश्यकता हो तो ऐसे अवसर पर राजा का यह कर्तव्य है कि वह सदाचारी एव कुशल राजनीतिज्ञ शिष्ट पुरुषों का एक आयोग नियुक्त कर के उस गम्भीर विषय पर विचार-विमर्श करे (१८, ५४)। यदि वह आयोग उस व्यय के पक्ष मे हो और उस से अधिक लाभ की सम्भावना है तो उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य सोमदेव आर्थिक विषयो मे उच्चाधिकारियो से परामर्श करना तथा उस के अनुकूल कार्य करने का निर्देश देते है। उन की दृष्टि मे समान आय-व्यय वाला कार्य आनन्ददायक है (१७, ११९)। उन का कथन है कि नित्य धन के व्यय से सुमेरु भी क्षीण हो जाता है (८, ५)। अत आय के अनुरूप ही व्यय करना चाहिए।

व्यापारी वर्ग पर राजकीय नियन्त्रण

राज्य का अन्तिम लक्ष्य जनता का कल्याण एव उस की सर्वतोमुखी उन्नति करना है। व्यापारी वर्ग जन कल्याण के मार्ग में बाधक बन सकता है। अत उस पर कठोर नियन्त्रण रखने का आचार्य सोमदेव ने राजा को आदेश दिया है। व्यापार एव वाणिज्य पर राजकीय नियन्त्रण न होने से व्यापारी वर्ग मनमानी करने लगता है।

पदार्थों में मिश्रण, तौल में न्यूनता तथा पदार्थों के मूल्य में वृद्धि करना व्यापारी वर्ग की स्वाभाविक मनोवृत्ति होती है। वणिक्जनो के नाप-तौल में अनियमितता करने तथा मिथ्या व्यवहार के कारण सोमदेव ने उन्हें पश्यतो हर बतलाया है (८, १७)। पश्यतो हर शब्द स्वर्णकार के लिए रूढ़ है किन्तु उक्त दूषित प्रवृत्तियो के कारण ही आचार्य सोमदेव ने वणिक्जन को भी पश्यतो हर कहा है। व्यापारी-वर्ग को अधिक लाभ लेने से रोकने तथा वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करने की ओर भी उन्होने सकेत किया है (८, १५)। व्यापारी वर्ग मूल्य में वृद्धि करने के उद्देश्य से सचित धान्य भण्डारों का विक्रय रोक देते हैं इस से राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत गम्भीर हो जाती है और जनता को अनेक कष्टों का सामना करना पडता है। अत आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए राजा का यह कर्तव्य है कि वह व्यापार में नाप-तौल की सच्चाई की रक्षा करे। इस के साथ ही राज्य में आर्थिक सुव्यवस्था एव उस के सम्मान की रक्षा के लिए व्यापारी-वर्ग में सत्य निष्ठा उत्पन्न करे (१८, १६)।

जहाँ व्यापारी लेन-देन में झूठ का व्यवहार करते हैं, जहाँ की तुला अविश्वसनीय है उस देश का व्यापारिक स्तर अन्य देशो की दृष्टि में हीन और अविश्वसनीय हो जाता है (१८, १३)। इस के परिणामस्वरूप राज्य के व्यापार को महान् क्षति पहुँचती है। इस कारण व्यापार में सत्यता का पालन परम आवश्यक है। जहाँ पर व्यापारी लोग मनमाना मूल्य बढ़ाकर वस्तुओ को बेचते हैं और कम से कम मूल्य में खरीदते है वहाँ की जनता दरिद्र हो जाती है (८, १४)। अत राजा को वहाँ की ठीक व्यवस्था करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र और स्वर्ण आदि पदार्थों का मूल्य देश, काल और पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा से होना चाहिए (८, १५)। जो राजा यह जानता है कि मेरे राज्य मे या अमुक देश में अमुक वस्तु उत्पन्न हुई है अथवा नही उसे देशापेक्षा कहते हैं। इस समय अन्य देश से हमारे देश मे अमुक वस्तु का प्रवेश हो सकता है अथवा नही इसे कालापेक्षा कहते हैं। राजा का कर्तव्य है कि वह उक्त देश-कालादि को उपेक्षा का ज्ञान कर के समस्त वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करे जिस से व्यापारी लोग मूल्य बढ़ाकर प्रजा को निर्धन न बना सकें।

इस के साथ ही राजा को उन व्यापारियो को परीक्षा भी करते रहना चाहिए जो बहुमूल्य वस्तुओ में मिलावट करते है, दो प्रकार की तुला रखते हो तथा नापने, तौलने के बाँटो आदि मे कमी-बेशी करते हो (८, १६)। यदि व्यापारी लोग परस्पर की ईर्ष्या के कारण वस्तुओ का मूल्य बढा देवें तो ऐसी स्थिति मे राजा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह बढाये हुए मूल्य को व्यापारी-वर्ग से छीन ले और उन्हें केवल उचित मूल्य ही दे (८,१८)। यदि किसी व्यापारी ने किसी की बहुमूल्य वस्तु को धोखा देकर अल्प मूल्य में क्रय कर लिया है तो राजा विक्रेता की बहुमूल्य वस्तु पर अपना अधिकार कर ले एव विक्रेता को उतना मूल्य दे, जितना कि उस ने क्रेता को दिया था (८, १९)। अन्न-सग्रह करने वालो को आचार्य सोमदेव ने राष्ट्र-कण्टकों की सूची में

रखा है और उन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का राजा को आदेश दिया है (८, २१)। राजा को उन की उपेक्षा कभी नही करनी चाहिए और उन को कठोर दण्ड देना चाहिए, क्योंकि वे लोग अन्न संग्रह कर के मूल्यो में वृद्धि कर देते हैं जिस से जनता को अनेक प्रकार के कष्टो का सामना करना पडता है। ये लोग अन्न-सकट के उत्पन्न करने वाले हैं अत राजा को सदैव इन से सावधान रहना चाहिए। आचार्य सोमदेव का कथन है कि जो राजा की अन्यायों को उपेक्षा करता है उस का राज्य नष्ट हो जाता है (८, २७)। इस के अतिरिक्त आचार्य सोमदेव ने दुर्भिक्ष तथा सकट काल का सामना करने के सम्बन्ध में भी राजा को बहुत सुन्दर परामर्श दिया है। आचार्य का कथन है कि राजा को धान्य एव लवण का सग्रह करना चाहिए, क्योकि यही दो वस्तुएँ सकटकाल में प्रजा और सेना को जीवित रखती है (८, ६६ तथा ७१)। उन का कथन है कि अन्न सग्रह सब संग्रहों में उत्तम है (१८, ६६)। इस का कारण यही है कि अन्न के द्वारा प्रजा और सेना की जीवन-यात्रा चलती है। इस के महत्त्व को आचार्य उदाहरणों से भी व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि मुख में डाला हुआ स्वर्ण भी प्राण की रक्षा नही करता, अन्न ही प्राणों का रक्षक है (१८, ६८)। धान्य-संग्रह न करने से होने वाली हानि की ओर भी सकेत किया है। इस सम्बन्ध मे आचार्य ने लिखा है कि जो राजा अपने देश मे धान्य-सग्रह नही करता और अधिक व्यय करता है तो उस के राज्य में सदैव दुर्भिक्ष रहा करता है (८, ६)। अत राजा को शरद् और ग्रीष्म ऋतु मे दोनो फसलो के समय धान्य सग्रह कर लेना चाहिए। यह धान्य दुर्भिक्ष के समय प्रजा को भी उचित मूल्य पर दिया जा सकता है। इस प्रकार जनता सकटकाल का सामना आसानी से कर लेती है।

इस प्रकार नीतिवाक्यामृत में राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने, कोष-वृद्धि करने, व्यापार एव वाणिज्य पर नियन्त्रण रखने एव वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करने के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी विचार व्यक्त किये गये हैं। सोमदेव ने कृषि, व्यापार एव पशुधन को राज्य की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला बतलाया है। आचार्य के उपर्युक्त आर्थिक सिद्धान्त आधुनिक युग के लिए भी महोपयोगी है।

●

सेना अथवा बल

सेना अथवा बल का प्रयोजन परराष्ट्र एव शत्रु से अनुकूल व्यवहार कराने के लिए होता है। सभी आचार्यों ने बल अथवा दण्ड को सप्ताग राज्य की प्रकृतियो में प्रमुख स्थान प्रदान किया है। दण्ड का तात्पर्य सैन्यबल से है। सैन्यबल पर विचार प्रकट करते हुए आचार्य कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—राजा पर बाह्य एव आन्तरिक दो प्रकार के कोप आते हैं। अमात्यादि का कोप आन्तरिक कोप कहलाता है तथा बाह्य कोप शत्रु के आक्रमण से उत्पन्न कोप होता है। इन दोनों कोपो में आन्तरिक कोप अधिक कष्टदायक होता है। इन दोनो कोपो से अपनी रक्षा करने के हेतु राजा को दण्ड एव कोष को अपने अधीन रखना चाहिए।[1] इस वर्णन से स्पष्ट है कि सेना अथवा बल की आवश्यकता देश में व्यवस्था बनाये रखने एव उस को बाह्य शत्रुओ के आक्रमणो से सुरक्षित रखने के लिए बहुत अधिक है। आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि जिस प्रकार जड सहित वृक्ष शाखा, पुष्प और फलादि से वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार राज्य भी सदाचार तथा पराक्रम से वृद्धिगत होता है (५, २७)। बाह्य आक्रमणो से रक्षा करना राज्य का पावन कर्तव्य माना गया है। सोमदेव लिखते है कि जो मनुष्य (राजा) शत्रुओ मे पराक्रम नही करता—उन का निग्रह नही करता—वह जीवित ही मृतक के समान है (६, ४१)। राजा शत्रुओ का दमन तभी कर सकता है जब उस के पास एक शक्तिशाली एव सुसगठित सेना हो।

सैनिक सगठन का उद्देश्य प्रजा का दमन करना नही है, अपितु देश-रक्षा तथा राष्ट्र-कण्टको का विनाश करना है। इस सम्बन्ध में सोमदेव लिखते है कि राजा को सैनिक-शक्ति का सगठन प्रजा मे अपराधो का अन्वेषण करने के अभिप्राय से नही करना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से प्रजा उस से असन्तुष्ट होकर शत्रुता करने लगती है और इस के परिणामस्वरूप उस का राज्य नष्ट हो जाता है (९, ४)।

बल की व्याख्या नीतिवाक्यामृत मे इस प्रकार की गयी है—जो शत्रुओ का निवारण कर के धन, दान व मधुर भाषणो द्वारा अपने स्वामी के समस्त प्रयोजन सिद्ध कर के उस का कल्याण करता है उसे बल कहते हैं (२२, १)। समस्त आचार्यों ने बल के चार अग माने हैं और उसे चतुरग बल के नाम से सम्बोधित किया है। हाथी,

---

१. कौ० अर्थ० ८, २।

घोड़े, रथ और पैदल ये बल के चार अंग बताये गये हैं। चतुरंगबल में हस्तिसेना को प्रमुखता दी गयी है (२२, २)। इन विषय में आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि राजाओं की विजय के प्रधान कारण हाथी ही होते हैं, क्योंकि युद्ध-भूमि में वे शत्रुकृत सहस्रों प्रहारों से ताड़ित किये जाने पर भी व्यथित न होकर अकेला ही सहस्रों सैनिकों से युद्ध करता रहता है (२८, ३)।

हाथियों के गुण—किस प्रकार के हाथी युद्धोपयोगी होते हैं इस विषय में भी नीतिवाक्यामृत में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। हाथी जाति, कुल, वन एवं प्रचार के कारण ही प्रधान नहीं माने जाते अपितु वे चार गुणों से प्रमुख माने गये हैं—(१) उन का शरीर हृष्ट-पुष्ट व शक्तिशाली होना चाहिए, क्योंकि यदि वे बलिष्ठ नहीं हैं और उन में अन्य मन्द व मृग आदि जाति, ऐरावत आदि कुल, प्राच्य आदि वन, पर्वत व नदी आदि प्रचार के पाये जाने पर भी वे युद्ध-भूमि में विजयी नहीं हो सकते, (२) शौर्य—पराक्रम हाथियों का विशिष्ट गुण है क्योंकि इस के अभाव में आलसी हाथी अपने ऊपर आरूढ़ महावत के साथ-साथ युद्ध-भूमि में शत्रुओं द्वारा मार डाले जाते हैं, (३) उन में युद्धोपयोगी शिक्षा का होना भी अनिवार्य है, क्योंकि प्रशिक्षित हाथी युद्ध में विजयी होते हैं इस के विपरीत अशिक्षित हाथी अपने साथ-साथ महावत को भी नष्ट कर देता है और बिगड़ जाने पर उलटकर अपने स्वामी की सेना को भी कुचल डालता है, (४) हाथियों में युद्धोपयोगी कर्तव्यशीलता आदि (कठिन स्थानों में गमन करना, शत्रु-सेना का उन्मूलन करना आदि) का होना भी आवश्यक है, क्योंकि इस के अभाव में वे विजय प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं (२२, ४)।

अशिक्षित हाथी—युद्धोपयोगी शिक्षा शून्य हाथी केवल अपने स्वामी का धन व महावत आदि के प्राण नष्ट कर देते हैं, क्योंकि उन के द्वारा विजय-लाभ रूप प्रयोजन सिद्ध नहीं होते। इस से वे निरर्थक घास व अन्न आदि भक्षण द्वारा अपने स्वामी की आर्थिक क्षति कर के अपने ऊपर आरूढ़ महावत को भी नष्ट कर देते हैं एवं बिगड़ जाने पर उलटकर अपने स्वामी की सेना को भी रौंद डालते हैं (२२, ५)।

हाथियों के कार्य—आचार्य सोमदेवसूरि ने हाथियों के कार्यों पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि हाथियों के निम्नलिखित कार्य हैं—(१) कठिन मार्ग को सरलतापूर्वक पार कर जाना, (२) शत्रुकृत प्रहारों से अपनी तथा महावत की रक्षा करना, (३) शत्रुनगर का कोट व प्रवेश द्वार भंग कर उस में प्रविष्ट होकर उसे नष्ट-भ्रष्ट करना, (४) शत्रु के सैन्य-समूह को कुचल कर नष्ट करना, (५) नदी के जल में एक साथ कतारबद्ध खड़े होकर पुल बाँधना तथा (६) केवल बन्धनालाभ के अतिरिक्त अपने स्वामी के लिए सभी प्रकार के आनन्द उत्पन्न करना आदि (२२, ६)। आचार्य कौटिल्य ने भी हाथियों के कार्यों को महत्त्व प्रदान किया है और हस्तिसेना को

राजा की विजय का कारण बतलाया है।[1] अर्थशास्त्र में हस्तिपालन, हाथियों के भेद तथा उन के कार्य, हस्तिविभाग के कर्मचारियो एव उन के कार्यों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस विभाग के अधिकारी को कौटिल्य ने हस्त्यध्यक्ष कहा है।[2] हस्तियुद्ध का वर्णन करते हुए कौटिल्य लिखते हैं कि हाथियो का कार्य सेना के आगे चलना, पहले से न बने हुए वासस्थान, मार्ग, नदी आदि के घाट बनाना, अपनी सेना के पास खडे होकर शत्रु सेना को हटाना, नदी की गहराई जानने के लिए उस में प्रवेश करना, शत्रुसेना का आक्रमण होने पर पक्तिबद्ध खडे हो जाना और प्रस्थान करना, ऊँचे स्थान से नीचे उतरना, घने जगल और शत्रुसेना पर पिल पडना, शत्रु के पडाव में आग लगाना और अपने पडाव में लगी हुई आग को बुझाना, रण जीतना, बिखरी सेना को एकत्रित करना, शत्रु की एकमात्र सेना को तितर-बितर करना, संकट में रक्षा करना, शत्रु-सेना को भयभीत करना और कुचल डालना, मद आदि की अवस्था द्वारा शत्रु के हाथियो को विचलित करना, अपनी सेना का महत्त्व प्रकट करना, शत्रु के सैनिकों को पकडना और शत्रु द्वारा बन्दी बनाये गये अपने सैनिको को मुक्त कराना, शत्रु के पर-कोटे, सिहद्वार और अट्टालिको को गिराना तथा शत्रु के कोष, वाहन आदि को भगा ले जाना, युद्ध मे प्रकीर्ण करना, सब चालो के एक साथ प्रयोग को छोड सेना के बिखरे हुए चारो अगो का हनन करना, पक्ष, कक्ष तथा उरस्य में खडी सेना का मर्दन करना, कही से शत्रु पक्ष को निर्बल देख उस पर प्रहार करना और साते हुए शत्रु को मार डालना आदि हाथियो के प्रमुख कार्य अथवा हस्तियुद्ध है।[3]

हाथियो के इतने उपयोगी कार्यो के कारण ही प्राचीन राजनीतिज्ञो ने हस्ति-सेना को प्रधानता दी है। उस की प्रधानता उस के कार्यों के कारण ही है। यह सेना का प्रधान अग माना जाता था और अन्य तीन अग इस के सामने गोण स्थान रखते थे।

हस्तिसेना के पश्चात् द्वितीय स्थान अश्वसेना का था। अश्वो की उपयोगिता भी युद्ध मे हाथियो से किसी प्रकार कम नही थी। अश्वसेना के सम्बन्ध में सोमदेव ने लिखा है कि अश्वसेना चतुरग सेना का चलता-फिरता भेद है, क्योकि अश्व अत्यन्त चपलता एव वेग से गमन करने वाले होते हैं (२२, ७)। अश्वसेना की प्रशसा करते हुए वे लिखते हैं कि जिस राजा के पास अश्वसेना की प्रधानता है उस पर युद्धरूपी गेंद से क्रीडा करने वाली लक्ष्मी विजयश्री प्रसन्न होती है, जिस के फलस्वरूप उसे प्रचुर सम्पत्ति मिलती है। दूरवर्ती शत्रु लोग भी निकटवर्ती हा जाते हैं। इस के द्वारा विजि-गीषु आपत्तिकाल में अभिलषित पदार्थ प्राप्त करता है। शत्रुओ के सामने जाना और अवसर पाकर वहाँ से भाग जाना, छल से उन पर आक्रमण करना व शत्रुसेना को छिन्न-

---

१ कौ० अर्थ० २, २।

२ वही, ५, ३१।

हस्त्यध्यक्षे हस्तिवनरक्षां दम्यकर्मक्षान्तानां हस्तिहस्तिनीकलभानां ।

३ वही।

भिन्न कर देना ये कार्य अश्वसेना द्वारा ही सिद्ध होते हैं, रथादि से नही (२२, ८)। आचार्य शुक्र ने भी अश्वसेना की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। उन का कथन है कि राजा लोग अश्वसेना द्वारा देखने वालो के समक्ष शत्रुओं पर आक्रमण करने, प्रस्थान कर दूरवर्ती शत्रुओ को मार डालते हैं।[1]

नीतिवाक्यामृत में अश्वो की जातियो पर भी प्रकाश डाला गया है तथा जात्य जाति के अश्व को प्रधानता दी गयी है। इस की प्रशसा करते हुए सोमदेव लिखते हैं कि जो विजिगीषु जात्य अश्व पर आरूढ़ होकर शत्रु पर आक्रमण करता है तो उस की विजय निश्चित होती है तथा शत्रु विजिगीषु पर प्रहार नही कर सकता (२२, ९)।

अश्वों की जातियाँ—आचार्य कौटिल्य जात्य अश्व के ९ भेद अथवा उत्पत्ति स्थान बताये हैं जो इस प्रकार हैं—(१) ताजिका, (२) स्वस्थलाण, (३) उक-रोखश, (४) गाजिगाणा, (५) ककाण, (६) पुष्टाहारा, (७) गाह्वारा, (८) सादुयारा, (९) सिन्धुपारा। आचार्य कौटिल्य ने भी उत्तम, मध्यम एव साधारण प्रकार के अश्वो का वर्णन किया है।[2]

जिस कार्य को हस्तिसेना एव रथसेना नही कर सकती थी उसे अश्वसेना करने मे समर्थ थी। जब आधुनिक युग के आवागमन के साधनो का आविष्कार नही हुआ था तो उस प्राचीनकाल मे एव मध्यकाल मे अश्व अपनी द्रुतगति एव भारवहन की क्षमता के कारण आवागमन का एक प्रमुख साधन माना जाता था। मौर्यकाल तक अश्वो की महान् उपयोगिता मानी गयी। अश्व की पीठ पर बैठकर मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्रता एव सुविधा से पहुँच सकता था। अश्व को गाडियो और रथादि वाहनो मे भी प्रयुक्त किया जाता था। युद्ध में उस का विशेष उपयोग किया जाता था। चतुरगिणी सेना का एक प्रमुख अग अश्वारोही सेना होती थी और इस की सहायता से राजागण शत्रु से अपने राज्य की रक्षा करने मे समर्थ होते थे एव अन्य राज्यो पर विजयश्री प्राप्त करते थे। अश्व की इतनी महान् उपयोगिता के कारण ही अश्व-पालन विभाग की स्थापना मौर्य सम्राटो ने की थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि अश्वपालन को विशेष महत्त्व दिया जाता था तथा अश्वो की खाद्य-सामग्री एव उन की चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य ने अश्वपालन विभाग के प्रमुख अधिकारी को अश्वाध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है।[3]

इतिहास इस बात का साक्षी है कि युद्ध मे हाथियो की अपेक्षा अश्वसेना ने महान् कार्य सम्पन्न किये हैं तथा राजपूतो की मुसलमानो के विरुद्ध पराजय के कारणो

---

१ शुक्र० नीतिवा० पृ० २१० ।
प्रेक्षतामपि शत्रूणां यतो यान्ति तुरगमै ।
भूपाला येन निघ्नन्ति शत्रु दूरेऽपि सस्थितम् ॥
२ कौ० अर्थ० २, ३० ।
३ वही, २, ३० ।
अश्वाध्यक्ष पण्यागारिक ॥

में उन की हस्तिसेना भी एक प्रमुख कारण था। मुसलमान अपनी अश्वसेना के कारण ही विजयी हुए और इस देश के स्वामी बन गये। जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने सिन्धुनदी के तट पर महमूद गजनवी की सेना से मोर्चा लिया था। राजपूतों की विजय होने ही वाली थी कि आनन्दपाल के हाथी के सहसा भागने से राजपूत सेना व्याकुल हो गयी और इस के परिणामस्वरूप महमूद विजयी हुआ। पुरु की पराजय भी उस के हाथी के बिगड जाने के कारण ही हुई।

रथसेना—यह चतुरगिणी सेना का तृतीय उपयोगी अग था। रथ समतल भूमि में ही अधिक उपयोगी थे, जिन में धनुर्धारी योद्धा आरूढ होकर शत्रु को पराजित करने में समर्थ होते थे। रथसेना में सारथी का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि सारथी की कुशलता पर ही युद्ध मे बहुत कुछ अश में विजय आश्रित थी। महाभारत के युद्ध मे अर्जुन के रथ का सचालन भगवान् कृष्ण कर रहे थे। इसी कारण इस युद्ध में अर्जुन को विजय प्राप्त हुई। रथ-सैन्य के महत्त्व का वर्णन करते हुए सोमदेव लिखते हैं कि जब धनुर्विद्या मे प्रवीण धनुर्धारी योद्धा रथारूढ होकर समतल युद्ध-भूमि में शत्रुओ पर प्रहार करते है तब विजिगीषु राजाओं को कोई भी वस्तु असाध्य नही होती (२२, ११)। साराश यह है कि समतल भूमि एव प्रवीण योद्धाओ के कारण ही रथारूढ योद्धाओ के द्वारा युद्ध मे विजिगीषु को विजय प्राप्त होती है। इस के विपरीत ऊबड-खाबड भूमि अकुशल योद्धाओ के कारण रथ-सचालन व युद्धादि भली-भाँति न होने से युद्ध मे निश्चित ही पराजय होती है।

आचार्य सोमदेव का कथन है कि युद्ध में सर्वप्रथम सारभूत सेना को ही आगे रखना चाहिए। इसी से विजय सम्भव होती है। वे लिखते हैं कि विजिगीषु के रथों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हुई शत्रु सेना आसानी से जीती जाती है, परन्तु उसे मौल (वश परम्परा से चली आती हुई प्रामाणिक विश्वासपात्र एव युद्ध-विद्या विशारद पैदल सेना), अधिकारी सेना, सामान्य सेवक श्रेणी सेना, मित्र सेना, आटविक सेना इन छह प्रकार की सेनाओ में से सर्वप्रथम सारभूत सेना को युद्ध मे सुसज्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि फल्गुसैन्य (दुर्बल, अविश्वसनीय एव युद्ध-विद्या मे अकुशल सारहीन सेना) द्वारा पराजय निश्चित होती है (२२, १२)।

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि वश परम्परा से चली आने वाली नित्य वश में रहने वाली, प्रामाणिक व विश्वासपात्र पैदल सेना को सारबल कहते है और गुण-निष्पन्न हाथियो व घोडो की सेना भी सारभूत सैन्य है अर्थात् कुल, जाति, धोखा, कार्य करने योग्य आयु, शारीरिक बल, आवश्यक ऊँचाई, चौडाई आदि, वेग, पराक्रम, युद्धोपयोगी शिक्षा, स्थिरता, सदा ऊपर मुँह उठाकर रहना, सवार की आज्ञा में रहना व अन्य शुभ लक्षण और शुभ चेष्टा इत्यादि गुण युक्त हाथी व घोडो का सैन्य भी सारबल है। अब विजिगीषु उक्त सारभूत सैन्य द्वारा शत्रुओ को सुख पूर्वक परास्त कर

सकता है।[1]

नारद ने भी सारभूत सेना को युद्ध में विजय प्राप्त करने का कारण बताया है।[2] उक्त छह प्रकार की सेना के अतिरिक्त सातवी प्रकार की सेना भी होती थी जिसे उत्साही सेना कहते थे। जब विजिगीषु शत्रु को जीतने के लिए उस पर चतुरग सेना द्वारा प्रबल आक्रमण करता है तब यह शत्रु राष्ट्र को नष्ट-भ्रष्ट करने तथा धन लूटने के लिए इस की सेना मे मिल जाती है। इस मे क्षात्र तेज युक्त शस्त्र-विद्या प्रवीण व इस में अनुराग युक्त क्षत्रिय वीर पुरुष सैनिक होते थे (२२, १३)।

सेनाध्यक्ष

नीतिवाक्यामृत में इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि राजा को किस व्यक्ति को सेनाध्यक्ष के पद पर नियुक्त करना चाहिए। प्राचीन युग में वही व्यक्ति इस पद पर नियुक्त किया जाता था जो विशिष्ट सैन्य गुणो से विभूषित होता था। यह पद बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। अत इस पद के लिए प्रत्येक व्यक्ति उपर्युक्त नही समझा जाता था अपितु विशिष्ट गुण वाला पुरुष ही सेनाध्यक्ष बनाया जाता था, क्योंकि उसी पर राज्य की विजय और पराजय निर्भर होती थी। आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि राजा उसी व्यक्ति को सेनाध्यक्ष के पद पर नियुक्त करे जिस में निम्नलिखित गुण हो।

कुलीन, आचार-व्यवहार सम्पन्न, राजविद्या प्रवीण (विद्वान्) स्वामी व सेवको से अनुरक्त, पवित्र हृदय वाला, बहु परिवारयुक्त, समस्त नैतिक उपाय (साम, दामादि) के प्रयोग मे निपुण, अग्नि व जल स्तम्भन प्रभृति मे कुशल, जिस मे समस्त हाथी, घोडे आदि वाहन खड्गादि शस्त्र-सचालन, युद्ध और मित्र देशवर्ती भाषाओ का ज्ञान प्राप्त किया हो, आत्मज्ञानी, समस्त सेना व आमत्य प्रभृति प्रधान राजसेवको का प्रेमपात्र, जिस का शरीर योद्धाओ स तोश लेने की शक्ति सम्पन्न और मनोज्ञ (युद्ध करने मे उत्साही) हो, स्वामी की आज्ञा पालने में रत रहने वाला, युद्ध मे विजय प्राप्ति व राष्ट्र के लिए चिन्तन मे विकल्प रहित, जिसे स्वामी ने अपने समान समझ कर सम्मानित व धन देकर प्रतिष्ठित किया हो, छत्र-चामरादि राज्य चिह्नो से युक्त और समस्त प्रकार के कष्ट व दु खो को सहन करने मे समर्थ (१२, १)। उक्त गुणो से विभूषित वीर पुरुष को सेनाध्याक्ष के पद पर आसीन करने से ही विजिगाषु को विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है। यदि इन गुणो से शून्य व्यक्ति को इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया जायेगा तो राजा की अवश्य ही पराजय होगी।

नीतिवाक्यामृत मे सेनाध्यक्ष के दोषो पर भी प्रकाश डाला गया है। सोमदेव के अनुसार सेनाध्यक्ष के दोष इस प्रकार है—"जिस को प्रकृति आत्मीयजनो तथा

१ कौ० अर्थ० १०, ५।
२ नारद० नीतिवा० पृ० २११।

अन्य शत्रुओ से पराजित हो सके, तेजशून्य, अजितेन्द्रिय, अभिमानी, व्यसनासक्त, मर्यादा से अधिक धन व्यय करने वाला, चिरकाल पर्यन्त परदेशवासी, दरिद्र, सैन्यापराधि, सब के साथ वैर-विरोध करने वाला, अनुचित बात को जानने वाला, अपनी आय को अकेला खाने वाला, स्वच्छन्द प्रकृति वाला, स्वामी के कार्य व आपत्तियो का उपेक्षक, युद्ध सहाय योद्धाओ का कार्य विघातक और राजहित चिन्ताओ से ईर्ष्यालु (१२, २)।" इन दोषो से युक्त पुरुष को राजा सेनाध्यक्ष के पद पर कदापि नियुक्त न करे। ऐसा करने से राज्य की महान् क्षति होती है।

औत्साहिक सैन्य के प्रति राजा का कर्तव्य

सेना तथा अन्य राजकर्मचारियों के प्रति राजा का व्यवहार अच्छा होना चाहिए अन्यथा वे व्यक्ति उस का हृदय से साथ नही देते। राजा अपने मौलसैन्य का अपमान न कर के उसे धन-मानादि द्वारा अनुरक्त कर के प्रसन्न रखे। इस के साथ ही उत्साही सैन्य शत्रु पर आक्रमणार्थ अपनी ओर प्रविष्ट हुई अन्य राजकीय सेना को भी धन व मान देकर प्रसन्न रखे (२२, १४)।

मौल सेना की महत्ता के कारण ही उस के साथ राजा के लिए अच्छा व्यवहार करने का आदेश दिया गया है। आचार्य सोमदेव लिखते है कि विजिगीषु का मौल सैन्य आपत्ति काल मे भी उस का साथ देता है और दण्डित किये जाने पर भी द्रोह नही करता एव शत्रुओ द्वारा अपने पक्ष में नही मिलाया जा सकता। अत विजिगीषु उसे धन-मानादि देकर सदा सन्तुष्ट रखे (२२, १५)।

सैनिक लोग धन की अपेक्षा सम्मान को अधिक श्रेष्ठ समझते है। यदि राजा अपनी सेना का मान करता है तथा उस के श्रेष्ठ कार्यो की प्रशंसा करता है तो वह बडे उत्साह के साथ देश की रक्षा करने को तत्पर रहती है। यह सम्मान उन मे राजभक्ति तथा देशभक्ति की भावना को जन्म देता है। सोमदेव का कथन है कि जिस प्रकार राजा द्वारा दिया गया सम्मान सैनिको को युद्ध के लिए प्रेरित करता है उस प्रकार दिया गया धन प्रेरित नही करता (२२, १६)। अर्थात् सैनिको के लिए धन देने की अपेक्षा सम्मान देना कही अधिक श्रेष्ठकर है।

सेना के राजा के विरुद्ध होने के कारण

सेना ही राजा का बल है और उसी की सहायता से वह अपने कर्तव्यो का पालन करने में समर्थ होता है। उस के लिए सेना की अनुकूलता बहुत आवश्यक है। कभी-कभी राजा की असावधानी तथा उस की भूलो के कारण सेना राजा के विरुद्ध भी हो जाती है। ऐसी स्थिति मे राजा का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। अत बुद्धिमान् राजा कभी ऐसी स्थिति को आने नही दे। सोमदेव ने इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि किन कारणो से सेना राजा के विरुद्ध हो जाती है। इस में वे

लिखते हैं कि स्वय अपनी सेना का निरीक्षण न करना, उन के देने योग्य वेतन में से कुछ भाग हडप लेना, आजीविका के योग्य वेतन को यथा समय न देकर विलम्ब से देना, उन्हें विपत्तिग्रस्त देखकर भी सहायता न देना और विशेष अवसरो (पुत्रोत्पत्ति, विवाह व त्यौहार आदि खुशी के अवसरों) पर उन्हे धनादि से सम्मानित न करना आदि सेना के राजा के विरुद्ध होने के कारण हैं (२२, १७)। राजा को समस्त प्रयत्नो से अपनी सेना को सन्तुष्ट रखना चाहिए। जो राजा आलस्य वश स्वय अपनी सेना की देख-रेख न कर के इस कार्य को अन्य व्यक्तियों से कराता है वह नि सन्देह धन और सैन्य से रहित हो जाता है (२२, १८)।

नैतिक व्यक्ति को कौन-कौन से कार्य स्वय करने चाहिए इस बात पर भी सोमदेव ने प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि नैतिक व्यक्ति को निश्चय पूर्वक सेवकों का पालन-पोषण, स्वामी की सेवा, धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान और पुत्रोत्पत्ति ये चार कार्य अन्य पुरुष से न करा कर स्वय ही करने चाहिए (२२, १९)।

सेवको का वेतन तथा उन के कर्तव्य

स्वामी को अपने आश्रित सेवको को इतना धन अवश्य देना चाहिए जिस से वे सन्तुष्ट रह सकें (२२, २०)। यदि राजा सेवको को आर्थिक कष्ट पहुँचाता है तो निश्चय रूप से उस की हानि होती है। राजा के इस कर्तव्य के साथ ही आचार्य ने सेवको के कर्तव्य की ओर भी सकेत किया है। वे लिखते हैं कि यदि उन को अपने स्वामी से पर्याप्त धन प्राप्त न भी हो तो भी उन्हें स्वामी से कभी द्रोह नही करना चाहिए (२२, २१)।

कृपण राजा की हानि

जो राजा कृपण होता है तथा उचित-अनुचित का विचार नही करता उस को हमेशा कष्ट भोगना पडता है। जो स्वामी आवश्यकता पडने पर अपने सेवकों की सहायता नही करता तथा जो सेवको के गुण-दोषो की भली-भाँति परख नही करता और सब के साथ एक सा ही व्यवहार करता है, ऐसे कृपण एवं विवेकहीन राजा के लिए कोई भी सैनिक अथवा सेवक युद्धभूमि में अपने प्राणो की बलि देने को तैयार नही हो सकता (२२, २४-२५)। अत राजा को सकट काल मे उदारतापूर्वक अपने सेवको की सहायता धनादि देकर करनी चाहिए। इस के साथ ही अपने सेवको के गुण-दोषो को भी बुद्धिमत्तापूर्वक परखना चाहिए। जो गुणी हैं तथा राजा के शुभचिन्तक है उनको सम्मान प्रदान कर के उत्साहित करना चाहिए तथा जो दोषी है और उस के शुभ-चिन्तक नही है, उन्हें दण्डित करना चाहिए। ऐसा करने से स्वामिभक्त सेवको का निर्माण होगा जो कि सकट काल मे अपना सर्वस्व अर्पण कर के भी राजा की रक्षा में तत्पर रहेंगे।

●

राष्ट्र

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओ ने राज्यागो में राष्ट्र को भी एक महत्त्वपूर्ण अग माना है। शुक्रनीतिसार मे राज्यागों की तुलना मानव शरीर के अवयवों से करते हुए राष्ट्र की उपमा पैरो से दी है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मानव शरीर पैरों पर ही आश्रित रहता है उसी प्रकार राज्यरूपी शरीर की आधारशिला राष्ट्र ही है। वैदिक साहित्य मे राष्ट्र शब्द का उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है और उस का प्रयोग राज्य के अर्थ मे किया गया है। ऋग्वेद में इस शब्द का उल्लेख कई स्थानो पर हुआ है। उस में एक स्थान पर ऐसा वर्णन आता है कि राजा ही राष्ट्रो का विकास करने के हेतु राष्ट्रो को रूप देने वाला कहा जाता है। अत उस के पास श्रेष्ठ क्षात्रतेज होना आवश्यक है। इस के अभाव में वह सम्पूर्ण राष्ट्र की सुरक्षा करने मे असमर्थ होगा।[2] राज्याभिषेक के समय भी उस को यह स्मरण कराया जाता था कि राजन्, तुम्हे राष्ट्रपति बनाया गया है। अब तुम इस देश के प्रभु हो। अटल, अविचल और स्थिर रहो। प्रजा तुम्हें स्नेह करे। तुम्हारा राष्ट्र नष्ट न होने पावे।[3] आर्यों की यही कामना थी कि वरुण राष्ट्र को अविचल करें, बृहस्पति राष्ट्र को स्थिर करें, इन्द्र राष्ट्र को सुदृढ करें और अग्निदेव राष्ट्र को निश्चल रूप से धारण करें।[4] आर्य यह भी अभिलाषा करते थे कि हमारे राष्ट्र में क्षात्रय वीर, धनुर्धर, लक्ष्यवेधी और महारथी हो।

इस प्रकार राष्ट्र के प्रति आर्यों की महान् श्रद्धा एव ममत्व था। वे राष्ट्र रक्षा को राजा का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य समझते थे। उन मे राष्ट्र प्रेम की उत्कट भावना थी। पाश्चात्य विद्वानो की यह धारणा कि प्राचीन भारत में राष्ट्रीयता की भावना का

---

१ शुक्र० १, ६२।
स्वाम्यमात्या सुहृच्छ्रोत्र मुख कोशो बल मन।
हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि॥

२ ऋग्वेद ७, ३४, ११।
राजा राष्ट्रानां पेशो न दीनामनुत्तमस्मै क्षत्र विश्वायु।

३ वही।

४ ऋग्वेद १०, १७३, ५।
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पति।
ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्र धारयतां ध्रुवम्॥

सर्वथा अभाव था, अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि भारतीयो में प्राचीन काल से ही राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। वैदिक ग्रन्थो में 'राष्ट्र' शब्द के अनेक बार उल्लेख से आर्यों के राष्ट्र प्रेम में कोई सन्देह नही रह जाता। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद की सहिताओ के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि भारतीयो मे राष्ट्रीयता का भाव पूर्णरूपेण निहित था। यजुर्वेद मे इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है—अपने राष्ट्र में नेता बनकर हम जागरणशील रहें।[1] अथर्ववेद के मन्त्रो मे भी राष्ट्रीयता की भावना प्रतिलक्षित होती है। उस मे इस प्रकार का वर्णन मिलता है—"मैं अपनी मातृभूमि के लिए और उस के दु ख विमोचन के लिए सब प्रकार के कष्ट सहन करने को प्रस्तुत हूँ। वे कष्ट जिस ओर से आवें, चाहे जिस समय आवें, मुझे चिन्ता नही।"[2] दूसरे मन्त्र मे इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है—"अपनी मातृभूमि के सम्बन्ध मे जो चाहता हूँ, वह उस की सहायता के लिए है। मैं ज्योतिपूर्ण, वर्चस्वशाली और बुद्धिमान् होकर मातृभूमि का दोहन करने वाले शत्रुओ का विनाश करता हूँ।"[3] अथर्ववेद की ही एक सूक्ति का भाव इस प्रकार है—"मेरी माता भूमि है और मैं उस का पुत्र हूँ।"[4]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत मे प्राचीन काल से ही राष्ट्रीयता की प्रबल भावना विद्यमान थी। पाश्चात्य विद्वान् तथा उन का अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानो के इस कथन मे कि भारत म राष्ट्रीयता की भावना कभी रही ही नही, आशिक सत्यता भी नही है। भारतीय देश को रक्षा के लिए अपनी बलि चढाने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहते थे तथा मातृभूमि की रक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे। वैदिक साहित्य मे वर्णित देशसेवा के पावन विचार क्या विश्व के अन्य किसी देश के साहित्य मे उपलब्ध हो सकते है? "पृथ्वी मेरी माता है और मैं उस का पुत्र हूँ", दशप्रेम तथा मातृभूमि के लिए बलिदान का इतनो अनन्य भक्ति एव कर्त्तव्य भावना अन्यत्र दृष्टिगोचर नही होती। यही देशप्रेम की उत्कट भावना राष्ट्रीयता की जननी है। इसी पुनीत भावना से किसी देश के नागरिको मे सच्ची राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव होता है। हमारे देश मे राष्ट्रीयता के समस्त तत्त्व परिलक्षित होते हैं। किन्तु यह बात निश्चित है कि भारत मे राष्ट्रीयता का स्वरूप अन्य देशो से भिन्न रहा है।

---

१ ऋग्वेद ९, २३।
  वय राष्ट्र जागृयाम पुरोहिता।

२ अथर्ववेद १२ १, ५४।
  अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
  अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशा विषासहि॥

३ अथर्ववेद १२, १ ५८।
  यद वदामि मधुमत तद् वदामि यदीक्षे तद्व वनन्ति मा।
  त्विषीमानास्मि पूतिमानवान्यान् हन्मि दोहत॥

४ अथर्ववेद १२, १ १२।
  माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या।

इस का मूल कारण यह है कि भारतीयों ने समस्त भूमंडल को एक कुटुम्ब के रूप में माना है। हमारी संस्कृति में देश प्रधान अभिमान या अन्ध राष्ट्रीयता की प्रधानता नही रही है। इस का कारण यह है कि इस भावना के कारण अन्य आदर्शों को दबाना पड़ता है। इतना ही नही, उस से अनेक जातियो के ईर्ष्या-द्वेष, दुराग्रह और दुराचरण राज्य को नष्ट कर देते हैं। अत भारत की राष्ट्रीयता संकुचित अथवा अन्ध राष्ट्रीयता न होकर मानवतावादी राष्ट्रीयता है। वैदिक ऋषि जनता के सच्चे कल्याण का ही ध्येय अपने सम्मुख रखते थे। अथर्ववेद में लिखा है कि समस्त जनता का कल्याण करने की इच्छा रखने वाले आत्मज्ञानी ऋषियो ने प्रारम्भ मे दीक्षा लेकर तप किया। इस से राष्ट्र, बल और ओज का निर्माण हुआ। अत सब विबुध इस राष्ट्र की भक्ति करें।[1]

ऋषियो की तपस्या से राष्ट्रभाव की उत्पत्ति हुई है, राष्ट्र भावना से राष्ट्रीय-बल बढता है और बृहत् शक्ति प्राप्त होती है। राष्ट्रीयता, बल, ओज इन तीनो में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। जिन का राष्ट्र है, उन मे बल और ओज होगे, जो शताब्दियों परतन्त्र रहे होगे उन मे राष्ट्रीय भावना नही होगी, साधिक बल भी नही होगा और ओज भी नही रहेगा।

राष्ट्र राज्य का मूलाधार है, क्योंकि राज्यागो मे सर्वप्रथम राष्ट्र की ही उत्पत्ति हुई। इस के पश्चात् बल और फिर ओज की सृष्टि हुई।[2] वैदिक साहित्य से ले कर स्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण एव नीतिग्रन्थो मे राष्ट्र के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। मनु का कथन है कि जिस प्रकार प्राणधारियो के आहार को बन्द कर देने से शरीर शोषण के कारण प्राण क्षीण होते हैं, उसी प्रकार राजाओ के भी राष्ट्र पीडन से प्राण नष्ट हो जाते है।[3] अत अपने शरीर के समान राजा को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। कामन्दक का कथन है कि राज्य के सम्पूर्ण अगो की उत्पत्ति राष्ट्र से ही हुई है। इस लिए राजा सभी प्रयत्नो से राष्ट्र का उत्थान करे।[4] अग्निपुराण में भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है कि राज्यागो मे राष्ट्र का सर्वाधिक महत्त्व है।[5]

जिस प्रकार राष्ट्र राज्य का मूलाधार है उसी प्रकार जनता राष्ट्र की आधार-शिला है। यदि यह कहें कि जनता ही राष्ट्र है तो इस में कोई अनौचित्य नहीं।

---

१ अथर्ववेद १६, ४१, १।
भद्रमिच्छन्त ऋषय स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे।
तता राष्ट्र बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपस नमन्तु॥

२ वही, १६, ४१, १।

३ मनु० ७, ११२।
शरीरकर्षणात्प्राणा क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणा क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणाद्॥

४ कामन्दक ६, ३।

५ अग्नि० २३६, २।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजाएँ ही राष्ट्र का निर्माण करने वाली हैं।[1] इस प्रकार प्रजा को वैदिक साहित्य में जनतन्त्र की भाँति बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। यद्यपि वैदिक काल में राजतन्त्र की ही प्रधानता थी, किन्तु उस राजतन्त्र मे जनतन्त्र की आत्मा निहित थी। वेदमन्त्रो में जनतन्त्र की भावना और जनता के पक्ष का समर्थन यत्र-तत्र मिलता है। यजुर्वेद मे कहा गया है कि राजा की स्थिति प्रजा पर ही निर्भर है।[2] अथर्ववेद मे ऐसा उल्लेख मिलता है—हे राजन्, प्रजाओ द्वारा तुम राज्य के लिए निर्वाचित किये जाओ।[3] उसी में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि "हे राजन्, तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण प्रजा तुम्हे चाहें।"[4]

इस प्रकार वैदिक साहित्य में प्रजा को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है और उसी के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है। इस के साथ ही वेदमन्त्रो मे सभी अगो की प्रगति और मगलकामना का उल्लेख मिलता है। सब अगो के समुचित विकास और सुख-समृद्धि पर ही राष्ट्र की समृद्धि एव उन्नति निर्भर है।

'राष्ट्र' शब्द का उल्लेख हमें महाभारत मे भी मिलता है। उस मे राष्ट्र की रक्षा तथा वृद्धि के उपायो पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म कहते हैं कि "हे राजन्, अब मैं बडे हर्ष के साथ राष्ट्र की रक्षा तथा वृद्धि का रहस्य बता रहा हूँ। तुम एकाग्र चित्त हो कर सुनो।" महाभारत के ६७वें अध्याय मे राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए राजा की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। राष्ट्र का सर्वप्रमुख कर्तव्य है कि वह किसी योग्य राजा का अभिषेक कर, क्योकि बिना राजा का राष्ट्र दुर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते तथा सताते है।[7] भीष्म का यह भी कथन है कि जिन देशो मे कोई राजा नही होता वहाँ धर्म की स्थिति नही रहती, अत वहाँ के व्यक्ति एक दूसरे को ग्रसने लगते है। जहाँ अराजकता हो उस देश को सर्वथा धिक्कार है।[8]

मनु तथा शुक्र ने राष्ट्र को राज्य का प्रमुख अग माना है।[9] कौटिल्य ने राज्य की प्रकृतियो मे राष्ट्र के स्थान पर जनपद शब्द का प्रयोग किया है।[10] महाभारत

---

१ ऐत० ब्रा० ८, २६।
राष्ट्राणि वै विश।
२ यजुर्वेद २०, ६।
३ अथर्ववेद ३ ४, २।
४ वही ४, ८, ४।
विशस्त्वा सर्वा वाछन्तु।
५ यजु० २२ २२।
६ महा० शान्ति० ८७, २।
७ वही, ६७, २।
८ वही, ६७ ३।
६ मनु० ६ २९४ तथा शुक्र १, ६१।
१० कौ० अर्थ० ६, १।

में भी जनपद शब्द का ही प्रयोग राष्ट्र के स्थान पर किया गया है।[1] आचार्य सोमदेव सूरि ने भी जनपद को ही राज्य का एक अग माना है। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत मे जनपदसमुद्देश की रचना एक पृथक् समुद्देश के रूप में की है। यद्यपि आचार्य सोमदेव ने राष्ट्र की परिभाषा दी है किन्तु उस का वर्णन राज्य के अंग के रूप मे नही किया है। आचार्य सोमदेव ने जनपदसमुद्देश मे देश के विभिन्न उपविभागो के लिए व्यवहार में आने वाले विभिन्न सज्ञा शब्दो की व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति द्वारा व्याख्या की हैं। उन्होने राष्ट्र, देश, विषय, मडल, जनपद, दारक, निर्गम आदि शब्दो की सार्थक व्याख्या की है। इस व्याख्या मे देश की सीमाओ को निर्धारित करने वाला कोई क्रम विवक्षित नही रहा है। इस समुद्देश में केवल इन शब्दो की परिभाषा करना ही आचार्य का प्रधान लक्ष्य दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम उन्होने राष्ट्र की परिभाषा की है। पशु, धान्य, हिरण्य (स्वर्ण) सम्पत्तियाँ वहाँ सुशोभित होती हैं वह राष्ट्र कहलाता है (१९, १)। स्वामी को दण्ड और कोश की वृद्धि मे सहायता देने वाला देश होता है (१९, १)। विविध वस्तुओ को प्रदान कर स्वामी के घर मे (राजधानी में) हाथी और घोडो को जो प्राप्त कराता है वह विषय है (१९,३)। समस्त कार्यों के दोहन करने से स्वामी के हृदय को जो भूषित करता है वह मडल है (१९, ४)। वर्णाश्रम से युक्त-स्थान अथवा धन के उत्पत्ति स्थान को जनपद कहते हैं (१९, ५)। अपने स्वामी की उत्कर्षजनक स्थिति होने से शत्रु के हृदय को भेदन करने वाला दारक है (१९, ६)। अपनी समृद्धि से स्वामी को जो समस्त व्यसनो से युक्त करे वह निर्गम है (१९, ७)।

इस प्रकार आचार्य सोमदेवसूरि ने देश के विभिन्न क्षेत्रो के लिए व्यवहार में आने वाले विभिन्न शब्दो की सार्थक व्याख्या की है। अमरकोश के अनुसार देश, राष्ट्र, विषय और जनपद आदि पर्यायवाची शब्द है अर्थात् इन का प्रयोग देश के अर्थ मे ही होता हैं। किन्तु अभिलेखो तथा दानपत्रो मे इन शब्दो का प्रयोग देश अथवा राज्य के उपविभागो के रूप मे ही प्राप्त होता है। इन विभागो के नामो में भी सर्वत्र साम्य दृष्टिगोचर नही होता। एक ही शब्द विभिन्न राजाओ के राज्यकाल में भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। राष्ट्र का भारतीय साहित्य मे साधारणत राज्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है किन्तु इसी शब्द का प्रयोग राष्ट्रकूटो के शासन काल मे कमिश्नरी के अर्थ में प्राप्त होता है।[2] दक्षिण के अन्य राज्यो मे इस का अर्थ तहसील या इस से बडे विभाग जिले के अर्थ में पाया जाता है।[3] अत इन प्रशासकीय क्षेत्रो के नामो से कोई निश्चित अर्थ नही समझना चाहिए, क्योकि एक ही शब्द का विभिन्न राज्य कालो में अथवा

---

१ महा० शान्ति० ६६ ६४।

२ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ० १३६।

३ एपि० इडि० १५ पृ० २७७, १६ पृ० २७१, इण्डि० ऐटि० ५ पृ० १७५)

एक ही राजा के शासन काल में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। किन्तु साधारणत राष्ट्र से अभिप्राय राज्य का ही था। राष्ट्र के उपरान्त देश का उल्लेख नीतिवाक्यामृत में हुआ है। देश से अभिप्राय आधुनिक प्रदेश से था। विषय आधुनिक जिले के समान था। कहीं विषय को देश का उपविभाग बताया गया है।[1] कही विषय का उल्लेख राष्ट्र से विशाल क्षेत्र वाले उपविभाग के लिए हुआ है। मण्डल विषय से छोटा विभाग था। कही मंडल को देश का उपविभाग बताया गया है।[3]

भारतीय साहित्य मे जनपद शब्द का प्रयोग

प्राचीन भारतीय साहित्य मे जनपद शब्द का भी प्रयोग अधिक हुआ है। राजनीतिक दृष्टि से सगठित जन-समुदाय के लिए जनपद शब्द का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध साहित्य मे सोलह महाजनपदो का उल्लेख मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त भारत मे अन्य जनपद भी थ। ये जनपद छोटे-छोटे राज्य थे। जिस प्रकार प्राचीन यूनान में नगर राज्यो की स्थापना हुई थी उसी प्रकार भारत मे भी इन जनपदो की स्थापना हुई। पाणिनी की अष्टाध्यायी मे भी जनपद शब्द का प्रयोग किया गया है। काशिका मे जनपद का लक्षण बताते हुए लिखा है कि जनपद ग्रामो के समूह को कहते है। इस के उदाहरण भी वहाँ प्रस्तुत किये है यथा, जहाँ पाचालो का निवास हो वह पाचाल जनपद है, इसी प्रकार कुरु, मत्स्य, अग, वग, मगध, पुण्ड्र आदि जनपद इन नामो के जनो के निवास के कारण ही इन नामो से सम्बोधित किये जाते हैं।[5]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी जनपद का प्रयोग प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र मे जनपद के विषय मे विस्तार के साथ लिखा है। जनपद का निर्माण अथवा उस की स्थापना किस प्रकार की जाय इस विषय मे कौटिल्य ने बहुत उपयोगी विचार व्यक्त किये है। आचार्य कौटिल्य लिखते है कि पूर्व से स्थित एव नवीन बस्ती बसाते समय राजा परदेश से जन-समुदाय लाकर अथवा अपने ही देश के जिस भूभाग मे अधिक जनसख्या हो, उस के कुछ अश को वहाँ से हटा कर ले आये। राजा नवीन ग्रामो को इस ढग से बसाये कि उस में अधिकाश शूद्र जाति के किसान ही बसे। जिस मे कम से कम सौ और अधिक से अधिक पाँच सौ परिवार रहें, उन ग्रामो की सीमा एक या दो कोस के अनन्तर रहे। क्योकि ऐसा रहने से आवश्यकता पडने पर अन्यान्य ग्राम पर-

---

१ इण्डि० ऐंटि० ८ पृ० २०।

२ एपि० इण्डि० ८ पृ० ५।

३ वही ७, पृ० २६।

४ अगुत्तरनिकाय १ २१३ ४, २५२, २५६ २६०।

५ काशिका ४, २, ८१।
'जनपदे लुप्'' ग्रामसमुदायो जनपद । पचालानां निवासो जनपद पचाला, कुरव, मत्स्या, अगा, वगा, मगधा, पुण्ड्रा ।

स्पर एक-दूसरे की रक्षा कर सकेंगे।[1] आगे आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि नदी, पर्वत, बन, गृष्टि (औषधिवृक्ष), दरी (कन्दरा), जलाशय, सेमावृक्ष, शमीवृक्ष तथा क्षीर-वृक्ष (बटवृक्ष) लगाकर उन्हीं के द्वारा ग्राम की सीमा का निर्धारण करे। उपर्युक्त रीति से बसे हुए आठ सौ ग्रामो के मध्य में स्थानीय नामक (आगे चलकर निगम नाम से सम्बोधित किया जाने वाला स्थान) नगर अथवा महाग्राम बसाये। चार सौ ग्रामो के मध्य द्रोणमुख नामक उपनगर निवेश, दो सौ ग्रामो के बीच खार्वटिक नगर विशेष एव दस ग्रामो को मिलाकर सग्रहण नाम का जनपद के सीमान्त एव जनपद में प्रविष्ट होने और बाहर निकलने के द्वार स्वरूप अन्तपाल का दुर्ग स्थापित करे। उन अन्तपाल दुर्गों का एक अध्यक्ष रहेगा जिस का नाम होगा अन्तपाल।[2]

जनपद की रक्षा के सम्बन्ध में भी कौटिल्य ने उपयोगी विचार प्रस्तुत किये है। उन के अनुसार प्रत्येक ग्राम को अपनी रक्षा करने में समर्थ तथा साथ ही अन्य ग्रामो की रक्षा मे सहायक होना चाहिए। जनपद की सीमाओ पर अन्तपाल दुर्ग स्थापित करने चाहिए। विविध दुर्गों के मध्य के सीमा प्रदेशो मे वागुरिक (बहेलिये), शबर, (भील), पुलिन्द (म्लेच्छ), चण्डाल तथा अन्यान्य वनचर जाति के लोग उन अन्तपाल-दुर्ग समूहो की मध्यवर्तिनी भूमि की रक्षा करें। तात्पर्य यह है कि राजा और उस का प्रतिनिधि अन्तपाल में दोनो उस प्रदेश की निवासिनी उपर्युक्त जाति के लोगो द्वारा ही उस प्रदेश की रक्षा करेंगे। जनपद बसाते समय राजा ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रिय (वेदपाठी) ब्राह्मणो को सब प्रकार के करो से मुक्त कर के उन के पुत्र, पौत्रादि उत्तराधिकारी तक को उस सुविधा का अधिकारी बनाकर ब्रह्मदेव नामक भूदान करे। अन्तपाल दुर्ग के अध्यक्ष, सख्यायक (गणनाकार्य तथा हिसाब-किताब रखने वाले), दशग्रामी आदि के अधिकारी गोप, जनपद तथा नगर के चतुर्थांश के अधिकारी स्थानिक, हाथियो को शिक्षा देने मे निपुण पुरुष, अनीकस्थ, चिकित्सक, घोडो को प्रशिक्षण देने वाले और जंघालक (पैदल दौडकर दूर देश में सन्देश पहुँचाने वाले) इन सभी लोगो को दण्ड तथा कर से मुक्त कर के माफ़ी भूमि दी जाये। किन्तु यह भूदान प्राप्त करने वाले व्यक्ति उस भूमि को न बेच सकेंगे और न बन्धक रख सकेंगे। वे केवल उस का उपभोग करने के अधिकारी होंगे। जो लोग भूमि का राज कर देते हों, उन्हे राजाकृत क्षेत्र माने। अर्थात् जिस क्षेत्र को फ़सल उत्पादन के योग्य बनाया जा चुका है, उसे केवल एक पीढ़ी के लिए पट्टे पर दे। किन्तु जो क्षेत्र अकृत हैं, उसे किसान अपने पौरुष से उत्पादक बनायेगा। उस को राजा

---

१ कौ० अर्थ०, २, १।
भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्।
शूद्रकर्षकप्रायं कुशलतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्।

२ वही, २, १।

बेदखल न करेगा और पीढी दर पीढ़ी उस पर किसान का ही अधिकार रहेगा।[1]

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने जनपद की स्थापना तथा उस की रक्षा के सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्म सृष्टि से प्रकाश डाला है। उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त इस विषय पर आचार्य ने और भी बहुत कुछ लिखा है जो राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

महाभारत में भी राष्ट्र की रक्षा तथा वृद्धि के उपायो के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए भीष्म ने जनपद के अन्तर्गत ग्रामो के विविध समूहो तथा उन की व्यवस्था पर पूर्ण प्रकाश डाला है। भीष्म का कथन है कि एक ग्राम का, दस ग्रामो का, बीस ग्रामो का, सौ ग्रामो का तथा हजार ग्रामों का पृथक्-पृथक् एक-एक अधिपति बनाना चाहिए। ग्राम के स्वामी का यह कर्तव्य है कि वह ग्रामवासियो के विषयों का तथा ग्राम में जो-जो अपराध होते हो, उन सब का वही रहकर पता लगावे और उन का पूर्ण विवरण दस ग्रामो के अधिपति के पास भेजे। इसी प्रकार दस ग्रामो वाला बीस ग्रामों वाले के पास और बीस ग्रामो वाला अधिपति अपने अधीनस्थ जनपद के लोगो का सम्पूर्ण विवरण सौ ग्रामो के अधिकारी को भेजे। फिर सौ ग्रामो का अधिकारी हजार ग्रामो के अधिपति को अपने अधिकृत क्षेत्रो की सूचना भेजे। इस के पश्चात् हजार ग्रामो का अधिपति स्वय राजा के पास जाकर अपने यहाँ आये हुए सभी विवरणो का उस के सम्मुख प्रस्तुत करे।[2]

ग्रामो मे जो आय अथवा उपज हो वह सब ग्राम का अधिपति अपने पास ही रखे तथा उस में से नियत अश का वेतन के रूप मे उपभोग करे। उसी में से नियत वेतन देकर उसे दस ग्रामो के अधिपति का भी भरण-पोषण करना चाहिए। इसी प्रकार दस ग्रामो के अधिपति का भी बीस ग्रामो के अधिकारी का भरण-पोषण करना चाहिए। जो सत्कार प्राप्त व्यक्ति सौ ग्रामो का अध्यक्ष हो, वह एक ग्राम की आय को उपभोग मे ला सकता है। भरतश्रेष्ठ वह ग्राम बहुत विशाल बस्ती वाला, मनुष्यो से परिपूर्ण और धनधान्य से सम्पन्न हो। उस का प्रबन्ध राजा के अधीनस्थ अनेक अधिपतियो के अधिकार मे रहना चाहिए। हजार ग्राम का श्रेष्ठ अधिपति एक शाखा-नगर (कस्बे) की आय पाने का अधिकारी है। उस कस्बे मे जो अन्न और सुवर्ण की आय हो, उस के द्वारा वह इच्छानुसार उपभोग कर सकता है। उसे राष्ट्रवासियो के साथ मिलकर रहना चाहिए।[3]

---

१ कौ० अर्थ० २, १।

तेषामन्तराणि वागुरिकशबरपुलिन्दचाण्डालारण्यवरा रक्षेयु। ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकारण्याभिरूपकानि प्रयच्छेत्। अध्यक्षसंख्यायकादिभ्यो गोपस्थानीकानीकस्थचिकित्साश्वदमकजंघालकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्जम् करदेभ्य कृतक्षेत्राण्यैकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्तृभ्या नादेयात।

२ महा० शान्ति० ८७, ३–५।

३ वही ८७, ६–८।

इन अधिपतियों के अधिकार में जो युद्ध-सम्बन्धी तथा ग्रामो के प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य सौंपे गये हो, उन की देखभाल कोई आलस्यरहित धर्मज्ञ मन्त्री करे। अथवा प्रत्येक नगर में एक ऐसा अधिकारी होना चाहिए जो सभी कार्यों का चिन्तन और निरीक्षण कर सके। जैसे कोई भयकर ग्रह आकाश मे नक्षत्रो के ऊपर स्थित होकर परिभ्रमण करता है, उसी प्रकार वह अधिकारी उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित होकर उन सभी सभासद आदि के निकट परिभ्रमण करे और उन के कार्यों की परीक्षा करे। उस निरीक्षक का कोई गुप्तचर राष्ट्र में घूमता रहे और सभासद आदि के कार्य एव मनोभाव को जानकर उन के पास समस्त समाचार पहुँचाता रहे। रक्षा के कार्य में नियुक्त हुए अधिकारी लोग प्राय हिंसक स्वभाव के हो जाते हैं। दूसरो की बुराई चाहने लगते हैं और शठतापूर्वक पराये धन का अपहरण कर लेते हैं। ऐसे लोगों से वह सर्वार्थचिन्तक अधिकारी इस सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करे।[1]

इस प्रकार महाभारत मे बहुत सुसगठित शासन प्रणाली एव राष्ट्र की रक्षा के उपायो पर बहुत सुन्दर रूप से प्रकाश डाला गया है। इस रीति से कोई भी सरकारी कर्मचारी स्वच्छन्द आचरण न कर सकेगा तथा वह जन-कल्याण में निरत रहेगा। राजा भी इस अधिकारी वर्ग पर पूर्ण नियन्त्रण रख सकेगा और राष्ट्र-रक्षा के अपने पुनीत कर्तव्य का पालन करने मे सर्वथा सफल होगा।

मनु ने भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि राजा राज्य की रक्षा के लिए दो-दो, तीन-तीन या पाँच-पाँच ग्रामो के समूह का एक-एक रक्षक नियुक्त करे। राजा एक-एक, दस-दस, सौ-सौ तथा हज़ार-हज़ार ग्रामो का एक-एक रक्षक नियुक्त करे।

उपर्युक्त दो, तीन या पाँच ग्रामो के रक्षक की नियुक्ति वर्तमान थाने का, सौ ग्रामो के प्रधान रक्षक की नियुक्ति तहसील या ज़िला का स्वरूप है और हज़ार ग्रामो के रक्षक की नियुक्ति कमिश्नरी का द्योतक है।

मनु ने इस विषय पर भी प्रकाश डाला है कि राजा अपनी राजधानी किस स्थान पर बनाये। इस सम्बन्ध मे वे लिखते है कि राजा जागल (जहाँ अधिक पानी न बरसता हो और बाढ आदि न आती हो, खुली हवा हो, सूर्य का प्रकाश पर्याप्त रहता हो तथा धान्य आदि अधिक मात्रा मे उत्पन्न होता हो), धान्य और अधिक धर्मात्माओ से युक्त, आकुलतारहित, फल-फूलता वृक्षादि से रमणीय, जहाँ आस-पास के निवासी नम्र हो ऐसे, अपनी आजीविका सुलभव्यापार, कृषि आदि वाले देश में निवास करे।[3]

---

१ महा० शान्ति० ८७, ६-१३।

२ मनु० ७, ११५-१६।

३ वही, ७, ६९।

जाङ्गल सस्यसपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्त स्वाजीव्य देशमावसेत॥

उक्त गुणो से युक्त देश में यदि राजा निवास करेगा तो उसे समस्त विभूतियाँ प्राप्त होंगी और वह निष्कण्टक रहेगा। यदि उस पर कोई बाह्य या आन्तरिक सकट आता है तो वह उस का सामना करने में सर्वथा समर्थ होगा।

कामन्दक ने भी इस विषय में कुछ प्रकाश डाला है। उन का कथन है कि राष्ट्र की समृद्धि उस की भूमि के गुणों पर आधारित है। राष्ट्र की समृद्धि में ही राजा की समृद्धि निहित है, अत राजा को अपनी समृद्धि के लिए उत्तम गुणो से युक्त भूमि का चयन करना चाहिए। वह भूमि विविध फसलो एव खनिज पदार्थों से विभूषित होनी चाहिए। जहाँ व्यापारिक वस्तुओं की बहुलता हो, खानें हो, द्रव्य हो, जो स्थान चरागाहो के लिए उपयुक्त हों, जहाँ पानी की अधिकता हो, जहाँ आदर्श चरित्र वाले व्यक्ति निवास करते हो, जो स्थान आकर्षक हों, जहाँ सुन्दर वन हों, हाथी हो, जल-थल के आवागमन के साधनो की सुविधा हो और जो वर्षा के जल पर निर्भर न हो।

जो भूमि ककरीली एव पथरीली हो, जगलो से युक्त तथा चोरो से भरपूर हो, जहाँ जल का अभाव हो, जो स्थान काँटेदार झाडियो तथा सर्पों से युक्त हो वह स्थान राष्ट्र के लिए उपयुक्त नही है।[1]

जनपद के गुण

आचार्य सोमदेवसूरि ने जनपद के गुणो का विस्तृत विवेचन किया है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं कि वही जनपद उत्तम है जो परस्पर रक्षा करने वाला हो अर्थात् जहाँ राजा देश की तथा देश राजा की रक्षा करता हो। जो स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह आदि धातुओ एव गन्धक, नमक आदि खनिज द्रव्यो की खानो से तथा जो द्रव्य एव हाथियो से युक्त हो, जिस के ग्रामो की जनसख्या न बहुत अधिक हो और न बहुत कम, जहाँ पर बहुत से उत्तम पदार्थ, विविध भाँति के अन्न, स्वर्ण और व्यापारियो के क्रय-विक्रय योग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हो, जो मेघजल की अपेक्षा से रहित हो तथा जो मनुष्य एव पशुओ को सुख देनेवाला हो (१९, ८)।

जिस जनपद में व्यक्तियो की विविध आवश्यकताओ की पूर्ति आसानी से हो सके, जहाँ लोगो का जीवन और सम्पत्ति हर प्रकार से सुरक्षित हो वही जनता निवास करती है। किन्तु जिस जनपद मे उपर्युक्त गुण नही होते वह राजा और प्रजा दोनो के लिए कष्टदायक होता है। जिस देश मे जनता के जीविकोपार्जन के सरल साधन उपलब्ध नही होते उस देश को त्यागकर जनता अन्यत्र चली जाती है। आचार्य सोमदेव का कथन है कि वह देश निन्द्य है जहाँ पर मनुष्य के लिए जीवन-निर्वाह के साधन (कृषि तथा व्यापार आदि) नही है, अत विवेकी पुरुष को जीविका योग्य देश में निवास करना चाहिए (२७, ८)।

---

१ कामन्दक ४, ५०-५६।

सोमदेव द्वारा वर्णित गुणों से विभूषित जनपद ही प्रगति कर सकता है और वहीं पर जनता को समस्त सुखों की उपलब्धि हो सकती है।

आचार्य कौटिल्य ने भी उत्तम जनपद के गुणों का विशद विवेचन अर्थशास्त्र में किया है। वे लिखते हैं कि जनपद के मध्य मे अथवा किनारे पर दुर्ग हो और स्वदेश-वासियो तथा विदेश से आये हुए लोगो के खान-पान के लिए जहाँ अन्नादि का भरपूर भण्डार हो। जनपद ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ कोई विपत्ति आने पर पर्वत, वन या दुर्ग में जाकर बचा जा सके। जहाँ थोडे हो परिश्रम से अन्न आदि उत्पन्न होने के कारण जीविका सुलभ हो। जहाँ अपने राजा के शत्रुओं के द्वेष को बचाने के लिए योग्य पुरुष रहते हो। जहाँ सामन्तो का दमन करने के साधन उपलब्ध हो जहाँ पक (दलदल), पाषाण, ऊसर, विषम स्थान, चोर आदि कण्टक, राजा के विरोधियो का समुदाय, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु एव वन्यप्रदेश न हो। जहाँ नदी, तडाग आदि के कारण भरपूर सौन्दर्य हो, जहाँ गाय, भैंस आदि पशुओं के चरने की सुविधा हो। जो मानव जाति के लिए हितकर स्थान हो। जहाँ चोर डाकुओ को अपना काम करने की सुविधा न हो। जहाँ गायो-भैसो आदि की अधिकता हो। जहाँ अन्नोत्पादन के लिए केवल वर्षा का सहारा न होकर नदी, बाँध आदि का प्रबन्ध हो। जहाँ जल-पथ और स्थल-पथ दोनो की सुविधा हो। जहाँ बहुत प्रकार के मूल्यवान् और विविध व्यापारिक सामान मिलते हो। जो स्थान राजदण्ड (जुर्माना) तथा राजकर सहन कर सकता हो। जहाँ के कृषक कर्मठ हो, जहाँ के स्वामी मूर्ख न हों। जहाँ निम्न वर्ग के लोग अधिक सख्या मे निवास करते हो।[1] कौटिल्य ने जनपद के इन गुणो को जनपद सम्पदा के नाम से सम्बोधित किया है।

देश के दोष

आचार्य सोमदेव ने जनपद के गुणो के साथ ही देश के दोषो का भी वर्णन किया है। उन के अनुसार देश के दोष इस प्रकार हैं—जिस के घास-जल रोगजनक होने से विष के समान हानिकारक हो, जहाँ की भूमि ऊसर हो, जहाँ की भूमि विशेष पथरीली, अधिक कटकाकीर्ण तथा बहुत पर्वत, गर्त एव गुफाओं से युक्त हों, जहाँ पर अधिक जलवृष्टि पर जनता का जीवन आधारित हो, जहाँ पर बहुलता से सर्प, भील और म्लेच्छो का निवास हो, जिस में थोडी सी धान्य उत्पन्न होती हो, जहाँ के लोग धान्य की उपज कम होने के कारण वृक्षों के फल खा कर अपना जीवन निर्वाह करते हो (१९, ९)। जिस देश में मेघो के जल द्वारा धान्य उत्पन्न होता है और कृषि कर्षण-क्रिया के बिना होती है अर्थात् जहाँ कछवारी की पथरीली भूमि में बिना हल चलाये ही बीज बिखेर दिये जाते हैं वहाँ सर्वत्र अकाल रहता है क्योंकि मेघो द्वारा जल-वृष्टि का यथासमय व उचित परिमाण में होना अनिश्चित हो रहता है (१९, १७)।

१ कौ० अर्थ० ६, १।

कर्षणक्रिया की अपेक्षा शून्य पथरीली भूमि भी ऊसर भूमि के समान उपज-शून्य अथवा बहुत कम उपजाऊ होती है। अत. ऐसे देश में सर्वदा दुर्भिक्ष निश्चित रूप से रहता है।

देश की जनसंख्या के विषय मे विचार

देश की जनसख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद है। मतभेद वर्णों के सम्बन्ध में है। मनु का कथन है कि राजधानी में अधिकाश जनसख्या आर्यों की होनी चाहिए।[1] अन्य स्थान पर मनु लिखते हैं कि जिस राज्य में शूद्रो एवं नास्तिको की सख्या अधिक होगी तथा ब्राह्मणो की कम। वह राष्ट्र दुर्भिक्ष एव व्याधियो से पीडित होकर नष्ट हो जायेगा।[2] इस के विपरीत विष्णुधर्मसूत्र में लिखा है कि राष्ट्र मे अधिक जनसख्या वैश्य एव शूद्रो की होनी चाहिए।[3] आचार्य कौटिल्य ने जनपद के सगठन के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि राजा नये ग्रामो को इस ढग से बसाये कि उन मे अधिकाश जनसख्या शूद्रो की ही हो।[4]

जनपद का संगठन

जनपद के बसाने के विषय मे भी आचार्य सोमदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत मे कुछ उल्लेख किया है। आचार्य लिखते है कि राजा का यह कर्तव्य है कि परदेश मे चले जाने वाले अपने देशवासियो को, जिन से कर ग्रहण किया हो उन्हे दान-सम्मान द्वारा वश मे कर के और उन्हें अपने देश के प्रति अनुयायी बनाकर उन्हे वहाँ से बुलाकर अपने देश मे बसाये (१९, ३)। साराश यह है कि अपने देशवासी शिष्ट व उद्योगशील व्यक्तियो को परदेश से लाकर अपने देग मे बसाने से राष्ट्र की जनसख्या मे वृद्धि होती है तथा व्यापारिक उन्नति, राजकोश की वृद्धि होती है एव गुप्त रहस्य सरक्षण आदि अनेक लाभ होते है। जिस के परिणामस्वरूप राष्ट्र की अभिवृद्धि होती है।

ग्राम संगठन

प्रत्येक राष्ट्र मे ग्राम ही शासन की सब से छोटी इकाई होता है। अत ग्रामो के बसाने में भी बडी कुशलता से समस्त जातियो के अनुपात को दृष्टि में रखकर आवास व्यवस्था करनी चाहिए। जो राष्ट्र इस सन्तुलन को खो देते है तथा एक जाति की प्रधानता वाले ग्रामो को बसाते है, वहाँ सर्वदा आपसी मतभेद बना रहता है और उपद्रव होते रहते है। यह बात अनुभवसिद्ध है कि जिस ग्राम में क्षत्रिय शूरवीर अधिक सख्या मे निवास करते हैं वहाँ वे लोग थोडे से कष्टों (आपसी तिरस्कार आदि से होने वाले कष्टो) के होने पर आपस मे ही लड मरते हैं (१९ ११)।

---

१ मनु० ७, ६९।
२ वही, ८, २२।
३. वि० धर्मसूत्र ३, ५।
४ कौ० अर्थ० २, १।

राष्ट्र को सभी जातियों से धन का आदान करना होता है। धन को देने के विषय में सभी जातियों में कुछ स्वभावगत विभेद होता है। ब्राह्मण जाति के स्वभाव की विशेषता का परिचय देते हुए सोमदेव ने लिखा है कि ब्राह्मण लोग अधिक कृपण होने के कारण राजा के लिए देने योग्य कर आदि का धन प्राण जाने पर भी बिना दण्ड के शान्ति से नही देते (१९, १२)।

आचार्य सोमदेव का यह भी कथन है कि राजा को ऐसे ग्राम किसी को भी नही देने चाहिए जिन में धान्य की उपज बहुत होती हो। ऐसे ग्राम राजा की चतुरंगिणी सेना का पोषण करते हैं (१४, २२)। यदि राजा अन्न की उपज वाले ग्राम किसी को दान आदि में दे देगा तो उस की सेना को रसद न मिल सकेगा और रसद के अभाव में राजा एक विशाल स्थायी सेना न रख सकेगा। सेना के अभाव में वह अपने राष्ट्र की रक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ होगा। राज्य की आर्थिक-समृद्धि की आधारशिला के सम्बन्ध में भी सोमदेव ने प्रकाश डाला है। उन का कथन है कि बहुत सा ग मण्डल, स्वर्ण और शुल्क एव भूमिकर आदि राज्य की आर्थिक सुदृढ़ता की आधारशिला है (१९, ३)।

आचार्य सोमदेव का यह भी कथन है कि राजा को ब्राह्मणो एव विद्वानो को अधिक भूमि दान मे नही देनी चाहिए। थोडी भूमि दान में देने से दाता तथा भूदान प्राप्त करने वाला दोनो ही सुखी रहते हैं (१९, २४)। इस का कारण यह है कि थोड़ी भूमि दान में देने से दाता भी दरिद्र नही होने पाता तथा दान लेने वाले को भी यह भय नही रहता है कि कोई सरकारी कर्मचारी मेरी भूमि पर अधिकार कर लेगा। इस के अतिरिक्त थोडी भूमि में अधिक परिश्रम भी नहीं करना पडता।

●

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

भारत में ऐसा समय कम ही रहा है जब कि सम्पूर्ण देश का शासन एक ही राजा के अधीन दीर्घकाल तक रहा हो। यद्यपि अशोक, कनिष्क तथा समुद्रगुप्त जैसे महान् पराक्रमी शासक हुए, परन्तु उन का साम्राज्य स्थायी रूप धारण नही कर सका। इस का कारण प्रधानत यातायात की असुविधाएँ ही थी। उन असुविधाओ के कारण सुदूर प्रान्तो पर वे यथोचित नियन्त्रण नही रख सकते थे। अत ज्यो ही केन्द्रीय शक्ति का ह्रास होता था, वे सुदूरवर्ती प्रान्त केन्द्रीय नियन्त्रण से स्वतन्त्र हो जाते थे और एक स्वतन्त्र राज्य का रूप धारण कर लेते थे। केन्द्रीय सत्ता की शिथिलता का दूसरा कारण विजेताओ की परम्परागत नीति भी थी।

प्राचीन काल से ही शक्तिशाली एव महत्त्वाकाक्षी राजाओ का आदर्श चक्रवर्ती राजा बनने का रहा है। चक्रवर्ती अथवा सार्वभौम शासक वह होता है जो समस्त देश पर शासन करता है। आचार्य कौटिल्य ने चक्रवर्ती राजा की परिभाषा देते हुए लिखा है कि चक्रवर्ती वह है जिस की सीमा का विस्तार उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त हो।[1] इस आदर्श का परिणाम यह होता था कि देश में निरन्तर युद्ध होता रहता था, क्योकि प्रत्येक शासक इस आदर्श (चक्रवर्ती बनने) तक पहुँचने का प्रयास करता रहता था।

सोमदेव ने तीन प्रकार के विजेताओ का वर्णन किया है—१ धर्म विजयी २ लोभ विजयी, ३ असुर विजयी। उन के अनुसार धर्म विजयी शासक वह है जो किसी राजा पर विजय प्राप्त कर के उस के अस्तित्व को नष्ट नही करता है। अपितु अपने आधिपत्य में उस की स्वायत सत्ता स्थापित रहने देता है। और उस पर नियत किये हुए करो से ही सन्तुष्ट रहता है (३०, ७०)। लोभ विजयी वह होता है जिस को धन और भूमि का लोभ होता है। उस को प्राप्त करने के उपरान्त वह उस को पराधीन नही बनाता अपितु उसे अपने आन्तरिक विषयों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है (३०, ७१)। असुर विजयी शासक वह होता है जो केवल धन और पृथ्वी से ही सन्तुष्ट नही होता, अपितु वह विजित शासक का बध कर देता है और उस की स्त्री तथा शिशुओ का भी अपहरण कर लेता है (३०, ७२)। प्रथम दो प्रकार की विजयो

१ कौ० अर्थ० ६, १।

में विजित राज्य की संस्थाएँ एवं शासन ज्यो का त्यों बना रहता है किन्तु तृतीय प्रकार की विजय में उन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और विजयी शासक के राज्य के वे अंग बन जाते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार अन्तिम प्रकार की विजय निकृष्ट समझी जाती थी और प्रथम प्रकार की सर्वोत्तम। अत जिन राजाओ को पराजित कर के उन के द्वारा पराधीनता स्वीकार कर लेने पर उन्हें स्वतन्त्र छोड दिया जाता था बहुधा वे केन्द्रीय शक्ति के शिथिल होते ही अवसर पाकर स्वतन्त्र हो जाते थे और स्वयं अपने राज्य का विस्तार करने लगते थे।

विभिन्न राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार विनियमित होते थे इस सम्बन्ध मे भारतीय विचारको ने विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। नीतिवाक्यामृत मे भी हम को इस विषय पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. शान्ति-काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

२ युद्ध-काल मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

सर्व-प्रथम हम शान्ति-काल मे स्वतन्त्र राज्यों के मध्य सम्बन्धो पर विचार करेगे।

स्वतन्त्र राज्यो के बीच सम्बन्धो के सचालन मे राजनय महत्त्वपूर्ण साधन था। परन्तु वर्तमान काल मे राजनय का जो हम अर्थ समझते हैं वह प्राचीन काल में नही था। राज्यो मे स्थायी रूप से राजनैतिक प्रतिनिधियो अथवा राजदूतों की नियुक्ति करने की पद्धति अत्यन्त आधुनिक है। मध्य युग में युरॅप मे भी राजदूतो की स्थायी रूप से राजधानियो में नियुक्त करने की प्रणाली नही थी। इसी प्रकार भारत मे भी दूत स्थायी रूप से नियुक्त नही किये जाते थे। दूत शब्द का संस्कृत में अर्थ सन्देश वाहक है। इस से यह स्पष्ट है कि किसी विशेष कार्य के सम्पादन के लिए ही दूत भेजे जाते थे। परन्तु उन के कार्य वही थे जो आधुनिक काल के राजदूतो के होते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अधिकरण १, अध्याय १६ से स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यों के मध्य दूतो का नियमित रूप से आवागमन था। नीतिवाक्यामृत के दूत समुद्देश में हमें सभी दूतो का उल्लेख मिलता है जिन का वर्णन अर्थशास्त्र मे हुआ है (दूत समुद्देश, पृ० १७०-१७१)।

दूत की परिभाषा

आचार्य सोमदेव ने दूत की परिभाषा इस प्रकार की है, "जो अधिकारी दूरवर्ती राजकीय कार्यों—सन्धि-विग्रह आदि का साधक होता है उसे दूत कहते हैं (१३, १)।

दूत के गुण

आचार्य सोमदेव ने दूत के गुणो का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—स्वामी भक्त, द्यूतक्रीडा, मद्यपान आदि व्यसनो से अनासक्त, चतुर, पवित्र, निर्लोभी, विद्वान्, उदार, बुद्धिमान्, सहिष्णु, शत्रु का ज्ञाता तथा कुलीन होना चाहिए (१३,२)।

जो राजा इन गुणो से युक्त दूतों को अन्य राज्यो मे नियुक्त करते थे उन के समस्त कार्य सिद्ध होते थे।

दूतो के भेद

आचार्य सोमदेवसूरि ने तीन प्रकार के दूतो का उल्लेख किया है—१ नि सृष्टार्थ दूत, २ परिमितार्थ दूत, ३ शासनहर दूत (१३, ३)।

१ निःसृष्टार्थ दूत—वह दूत था जिस के द्वारा निश्चित किये हुए सन्धि-विग्रह को उस का स्वामी प्रमाण मानता था जिस को अपने राज्य के कार्य-सिद्धि के हित मे बातचीत करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था (१३, ४)।

२ परिमितार्थ दूत—राजा द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर दूसरे राजा से वार्तालाप करने का इसे अधिकार होता था। इस दूत को राजा द्वारा भेजे हुए सन्देश को ही शत्रु राजा के सामने कहने का अधिकार था।

३. शासनहर दूत—यह दूत अपने राजा के शासन (लेख) को दूसरे राजा के पास ले जाने का अधिकार रखता था। इस के अधिकार इस कार्य तक ही सीमित थे।

दूत के कार्य

आचार्य सोमदेव ने दूत के कार्यो पर भी प्रकाश डाला है। उन के अनुसार दूत के निम्नलिखित काय हैं—

१ नैतिक उपाय द्वारा शत्रु के सैनिक सगठन को नष्ट करना।

२. राजनीतिक उपायो द्वारा शत्रु को दुर्बल बनाना तथा शत्रु विरोधी पुरुषों को साम-दामादि उपायो द्वारा वश मे करना।

३. शत्रु के पुत्र, कुटुम्बी व कारागार में बन्दी मनुष्यो मे द्रव्य-दान द्वारा भेद उत्पन्न करना।

४ शत्रु द्वारा अपने देश में भेजे हुए गुप्त पुरुषो का ज्ञान प्राप्त करना।

५ सीमाधिपति, आटविक, कोश, देश, सैन्य और मित्रो की परीक्षा करना।

६ शत्रु राजा के यहाँ विद्यमान कन्या रत्न तथा हाथी, घोडे आदि वाहनो को अपने स्वामी को प्राप्त कराना।

७. शत्रु के मन्त्री तथा सेनाध्यक्ष आदि में गुप्तचरो के प्रयोग द्वारा क्षोभ उत्पन्न करना ये दूत के कार्य हैं (१३, ८)।

इस के अतिरिक्त दूत का यह भी कर्तव्य था कि वह शत्रु के मन्त्री, पुरोहित और सेनापति के समीपवर्ती पुरुषो को धन आदि देकर अपने पक्ष मे कर के उन से शत्रु हृदय की गुप्त बात (युद्धादि) एवं उस के कोश, सैन्य के प्रमाण का निश्चय कर के उस की सूचना अपने स्वामी को दे (१३, ९)।

वर्तमान काल की भाँति प्राचीन काल में भी दूतो का बध करना वर्जित था।[1] सोमदेव ने लिखा है कि दूत द्वारा महान् अपराध किये जाने पर भी उस का बध नही करना चाहिए (१३, १७)।[2] यदि चाण्डाल भी दूत बनकर आया हो तो भी राजा को अपना कार्य सिद्ध करने के लिए उस का बध नही करना चाहिए (१३, २०–२१)। दूत सत्य, असत्य, प्रिय, अप्रिय सभी प्रकार के वचन बोलता है। अत राजा को उस के कठोर वचन सुनने चाहिए। कोई भी बुद्धिमान् राजा दूत के वचनों से क्रोधित अथवा उत्तेजित नही होता अपितु उस का कर्तव्य है कि वह ईर्ष्या का त्याग कर के उस के द्वारा कहे हुए प्रिय अथवा अप्रिय सभी प्रकार के वचनो को सुने। जब दूत शत्रु के मुख से अपने स्वामी की निन्दा सुने तो उसे शान्त नही रहना चाहिए अपितु उस का यथायोग्य प्रतिकार करना चाहिए (१३, ११)।

सैनिको द्वारा शस्त्र सचालित किये जाने पर भी दूत को अपना कार्य सम्पादित करना चाहिए और शत्रु राजा को अपना सन्देश सुना देना चाहिए। आचार्य सोमदेव का कथन है कि सभी राजा अपने दूत के मुख से बोलते है (१३, १८)। अतः उसे भयकर युद्ध के समय भी दूत का बध नही करना चाहिए (१३, १९)। क्योकि उन के द्वारा ही वे अपनी कार्य-सिद्धि (सन्धि-विग्रहादि) सम्पन्न कराते हैं।

चर

पडोसी राज्यो मे समय-समय पर दूतो का आदान-प्रदान होने पर भी चर सदैव कार्य करते रहते थे और उपर्युक्त सूचना को प्राप्त कर के राजा के पास भेजते रहते थे। नीतिवाक्यामृत मे एक पृथक् समुद्देश (चार समुद्देश) चरो के सम्बन्ध मे है। इस मे चरो के प्रकार तथा कर्तव्यो का उल्लेख है।

चरो की नियुक्ति

किसी भी राजा के लिए चरो की नियुक्ति तथा प्रयोग आवश्यक था। सोमदेव ने कहा कि जिस राजा के यहाँ गुप्तचर नही होते उस पर आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओ द्वारा आक्रमण किया जाता है (१४, ६)। इसलिए विजिगीषु को अपने देश में तथा पडोसी देशो मे गुप्तचर भेजने चाहिए। वास्तव में गुप्तचर अपने देश व परदेश के सम्बन्ध मे ज्ञान कराने के लिए राजाओ के नेत्र होते हैं (१४, १)। अपने देश और

---

१ महा० सभा०८५, २६।
२ नीतिवाक्यामृत १३, १७।

पड़ोसी राज्यो की गति-विधियो का ज्ञान गुप्तचरो द्वारा ही होता है। अतः राजाओं की सुरक्षा तथा कल्याण के लिए उन का उपयोग आवश्यक माना जाता था। गुप्तचरो के गुणो के सम्बन्ध में आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि सन्तोष, आलस्य का न होना, उत्साह, निरोगता, सत्यभाषण और विचारशक्ति का होना ये गुप्तचरो के गुण हैं (१४, २)। विभिन्न प्रकार के गुप्तचरो से पृथक् पृथक् प्रकार का कार्य लिया जाता था।

चरो के भेद

आचार्य सोमदेव ने निम्न प्रकार के गुप्तचरो का वर्णन किया है—कापाटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, किरात, यमपट्टिक, अहितुण्डिक, शौण्डिक, शौचिक, पाटच्चर, विट, विदूषक, पीठमर्दक, भिषग्, ऐन्द्रजालिक, वैभित्तक, सूद, आरालिक, जवाहक, तीक्ष्ण, क्रूर, रसद, जद, मूक, बधिर, अन्ध (१४, ८)। इस प्रकार राज्य मे विभिन्न प्रकार के चरो का जाल-सा बिछा रहता था। इन चरो मे कुछ ऐसे होते थे जो शत्रु राजा के निकट से निकट पहुँचने का प्रयास करते थे। वहाँ पर किसी प्रकार की नौकरी पर नियुक्त हो जाते थे जिस से कि शासन के आन्तरिक क्षेत्र मे जो कुछ भी हो रहा हो उस की सूचना वे अपने राजा के पास भेज सकें।

सामन्त शासकों के साथ सम्बन्ध

प्राचीन काल मे भारत में अनेक सामन्त राजा थे। दिग्विजय की नीति के कारण एक विजेता विजित राजा के राज्य को अपने राज्य मे नही मिलाता था, अपितु उस के द्वारा अधीनता स्वीकार कर लेने पर उसे उस के राज्य मे आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान कर देता था। वह पूर्ववत् दिग्विजयी शासक के अन्तर्गत अपने प्रदेश पर शासन करता रहता था। इस प्रकार उस काल मे अनेक सामन्त शासक थे। इन सामन्त शासको के अधीन भी अन्य सामन्त शासक होते थे। सार्वभौम शासक को अपने सामन्त शासको के साथ सम्बन्ध उन की शक्ति तथा स्थिति के अनुसार भिन्न प्रकार का होता था। परन्तु सम्भवत सम्राट् के आदेशो का पालन करना, वार्षिक कर देना, युद्ध काल मे सैन्य सहायता प्रदान करना, राज दरबार मे औपचारिक अवसरो पर ही नही, अपितु समय-समय पर उपस्थित होना उन के लिए आवश्यक समझा जाता था। अपने दान-पत्रो और शासनो में सम्राट् का नाम सर्वत्र रखना उन के लिए आवश्यक था। सामन्तो के दरबार मे सम्राट् के हितो की रक्षा के लिए तथा सामन्तो के नियन्त्रण के लिए सम्राट् की ओर से प्रतिनिधि भी रहा करते थे। ये प्रतिनिधि गुप्तचरों के द्वारा सम्राट् को उन की गतिविधियों के सम्बन्धो मे सूचना देते रहते थे। नीतिवाक्यामृत में सामन्तो के विषय में कोई विस्तृत वर्णन तो नही मिलता किन्तु सामन्तो के होने का प्रमाण अवश्य मिलता है। उस मे विजिगीषु राजा का वर्णन आया है

(२९, २०)। विजिगीषु वही होता था जिस की अधीनता में अनेक माण्डलिक अथवा सामन्त राजा होते थे।

युद्धकाल मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

सभी भारतीय विचारक इस बात पर सहमत हैं कि अन्य उपाय विफल हो जाने पर ही किसी राजा से युद्ध प्रारम्भ करना चाहिए। अन्य उपाय हैं—साम, दाम और भेद। इन उपायो के प्रयोग द्वारा यदि कोई उत्तम परिणाम नही निकलता है तो राजा को दण्ड का प्रयोग करना चाहिए। मनु ने कहा है कि प्रथम तीन उपायो द्वारा यदि शत्रु नही रोका जा सकता है तो फिर उसे दण्ड द्वारा ही परास्त करना चाहिए। लगभग सभी विचारको ने महत्त्वाकाक्षी राजाओ को यथासम्भव युद्ध से दूर रहने और शान्तिमय उपायो (सामादि से) से ही अभीष्ट सिद्ध करने के प्रयास का उपदेश दिया है। सोमदेव ने भी इस बात की पुष्टि की है। उन्होने कहा है कि जब विजिगीषु बुद्धियुद्ध (साम आदि उपायो) के प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने मे असमर्थ हो जाये तभी उसे शस्त्र-युद्ध करना चाहिए (३०, ४)। अन्यत्र उन्होने कहा है कि बुद्धिमान् सचिव का यह कर्तव्य है कि वह अपने स्वामी को पहले सन्धि के लिए प्रेरित करे। उस मे असफल होने पर ही वह युद्ध के लिए उसे प्रेरित करे। उन का कथन है कि वह मन्त्री एव मित्र दोनो निन्द्य शत्रु के समान हैं जो शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने स्वामी को भविष्य मे कल्याणकारक अन्य सन्धि आदि उपाय न बताकर पहले ही युद्ध करने में प्रयत्नशील होने का या भूमि परित्याग कर दूसरे स्थान पर भाग जाने का परामर्श देकर उस को महा अनर्थमें डाल देते हैं (३०, १)। युद्ध के परिणामों को ध्यान में रखकर इस उपाय का प्रयोग अन्तिम रूप से ही करने का आदेश था।

परन्तु भारतीय विचारक यह भी जानते थे कि सदैव के लिए युद्ध को नही रोका जा सकता है। अत उस की सम्भावना को यथासम्भव कम करने के लिए उन्होने विविध राज्यो के मण्डल बनाकर उन मे शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने की व्यवस्था की थी। विविध राज्यो को अपने चारो ओर स्थित राज्यो से इस प्रकार मित्रता तथा सन्धि कर के शक्ति-सन्तुलन स्थापित करना चाहिए कि उन की शान्ति और सुरक्षा बनी रहे और किसी भी शक्तिशाली राज्य का उस पर आक्रमण करने का साहस न हो सके।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक साहित्य मे मण्डल सिद्धान्त पर अत्यन्त बल दिया गया है। लगभग सभी राजनीतिप्रधान ग्रन्थो में इस विषय की विस्तृत व्याख्या की गयी है। मनु, कामन्दक, तथा कौटिल्य आदि विचारको ने इस विषय को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है और राजा के लिए यह निर्देश दिया है कि उस को अपनी नीति का

संचालन इस प्रकार करना चाहिए कि राजमण्डल में, जिस से वह घिरा हुआ है, शक्ति-सन्तुलन बना रहे।[1]

मण्डल सिद्धान्त

आचार्य सोमदेव ने भी नीतिवाक्यामृत के षाड्गुण्य समुद्देश मे इस सिद्धान्त की विशद विवेचना की है। इस सिद्धान्त का उल्लेख विजिगीषु राजा के सम्बन्ध मे किया गया है। इस मण्डल मे सामान्यत १२ राजा होते थे। प्रथम विजिगीषु होता है जिस का तात्पर्य है एक महत्त्वाकाक्षी तथा विजेता शासक हमारे सभी ग्रन्थ राजा के समक्ष दिग्विजय तथा साम्राज्य विस्तार का आदर्श उपस्थित करते है। अत उन राजाओ को अपनी शासन-नीति मण्डल सिद्धान्त के अनुसार सचालित करनी चाहिए।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा सोमदेवसूरि के नीतिवाक्यामृत मे मण्डल के राजाओ की गणना में कुछ अन्तर है। परन्तु सिद्धान्त मूलत एक ही है। सोमदेवसूरि ने मण्डल का निर्माण निम्नलिखित तत्त्वो (राज्यो) से बताया है—

१ उदासीन—आचार्य सोमदेव ने उदासीन राज्य की व्याख्या इस प्रकार की है। जो राजा विजिगीषु, उस के शत्रु तथा मध्यम के आगे-पीछे या पार्श्व भाग मे स्थित हो और जो युद्ध करने वालो को विग्रह करने मे और उन्हे युद्ध मे रोकने में सामर्थ्यवान् होने पर भी किसी कारण से दूसरे विजिगीषु राजा के विषय मे जो उपेक्षा करता है, उस से युद्ध नही करता, उसे उदासीन कहते है (२९, २१)। आचार्य कौटिल्य ने भी उदासीन राजा का उल्लेख अपने अर्थशास्त्र में किया है और उस की परिभाषा इस प्रकार दी है—विजयाभिलाषी और मध्यम राजाओ से परे अपनी बलिष्ठ सप्त प्रकृतियो से सम्पन्न बलवान् राजा शत्रु, विजयाभिलाषी और मध्यम राजाओ को पृथक्-पृथक् अथवा सब को एक साथ सहायता देने अथवा उन का विग्रह करने मे समर्थ हो ऐसा राजा उदासीन राजा कहलाता है।

२ मध्यस्थ—जो प्रबल सैन्य से शक्तिशाली होने पर भी किसी कारणवश विजय कामना करने वाले दोनो राजाओ के विषय में मध्यस्थ बना रहता है। उन से युद्ध नही करता वह मध्यस्थ कहा गया है (२९, २२)। इस मध्यस्थ राजा की एक विशेषता यह भी होती है कि विजयाभिलाषी राज्य और उस के शत्रु राज्य दोनो के राज्यो की सीमा पर यह स्थित होता है (२९, २३)।

३ विजिगीषु—जो राज्याभिषेक से अभिषिक्त हो चुका हो और भाग्यशाली, कोश, अमात्य आदि प्रकृति युक्त हो एव राजनीति मे निपुण शूरवीर हो उसे विजिगीषु कहते है। आचार्य कौटिल्य ने भी विजिगीषु की परिभाषा दी है जो इस प्रकार है—(आत्मगुण सम्पन्न अमात्यादि पचद्रव्य प्रकृति गुणसम्पन्न एव सन्धि-विग्रह आदि के भली-भाँति प्रयोग जनित नय के आश्रय में रहने वाले राजा को विजिगीषु कहते हैं।[2]

---

१ मनु० ७, १५४-५६, कामन्दक सर्ग ६, कौटिल्य ६, २।
२ वही, ६, २।

इस का अभिप्राय यही है कि ऐसा होने पर ही राजा वास्तविक रीति से साम, दाम आदि चारों नीतियों का प्रयोग कर के शत्रु को पराजित करने के लिए सम्यक् इच्छुक होने के योग्य होता है।

४. शत्रु—जो अपने निकट सम्बन्धियो का अपराध करता हुआ कभी भी दुष्टता करने से बाज नही आता उसे शत्रु अथवा अरि कहते हैं (२९,२४)। शत्रु राजा का लक्षण बताते हुए आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि दूरवर्ती (सीमाधिपति आदि) शत्रु व निकटवर्ती मित्र होता है 'यह शत्रु-मित्र का सर्वथा लक्षण नही माना जा सकता क्योंकि शत्रुता और मित्रता के अन्य ही कारण हुआ करते हैं। दूरवर्ती अथवा निकटवर्ती नही, क्योकि दूरवर्ती सीमाधिपति भी कार्यवश निकटवर्ती के समान शत्रु व मित्र हो सकता है (२९, ३५)।

सोमदेव ने तीन प्रकार के शत्रु राजाओ का उल्लेख किया है–१ सहज शत्रु, २ कृत्रिम शत्रु तथा ३ अन्तर शत्रु (सीमा पर स्थित राज्य का स्वामी)। आचार्य ने इन शत्रु राजाओ की व्याख्या भी की है। वे लिखते हैं कि अपने ही कुल का व्यक्ति राजा सहज शत्रु होता है (२९, ३३)। क्योकि वह ईर्ष्यावश उस की समृद्धि सहन नही करता और सर्वदा उस के विनाश का चिन्तन करता है। जिस के साथ पूर्व में विजिगीषु द्वारा वैर-विरोध उत्पन्न किया गया है तथा जो स्वय आकर उस से वैर-विरोध करता है, ये दोनो उस के कृत्रिम शत्रु है (२९, ३४)। जो राजा विजिगीषु की सीमा पर शासन करता है वह अन्तर शत्रु है (२९, ३५)। आचार्य कौटिल्य ने भी तीन प्रकार के शत्रु राजाओ का उल्लेख किया है। वे सीमावर्ती राज्य को प्रकृति, अरिराज्य तथा उस के राजा को प्रकृति शत्रु कहते है।[1]

५ मित्र—आचार्य सोमदेव ने मित्र का लक्षण बताते हुए लिखा है कि जो पुरुष सम्पत्तिकाल की तरह विपत्ति में भी स्नेह करता है, उसे मित्र कहते हैं (२३,१)। शत्रु राज्य की दूसरी ओर उस की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले राज्य को मनु एवं कौटिल्य मित्र राज्य कहते हैं।[2] आचार्य सोमदेव ने मित्र के भी तीन भेद बताये हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) नित्य मित्र—वे दोनो व्यक्ति नित्य मित्र हो सकते है जो शत्रुकृत पीडा आदि आपत्तिकाल मे परस्पर एक-दूसरे के द्वारा बचाये जाते हैं (२३, २)।

(२) सहजमित्र—वश परम्परा के सम्बन्ध से युक्त भाई आदि सहज मित्र होते है (२३, ३)।

(३) कृत्रिम मित्र—जो व्यक्ति अपना उदर पूर्ति और प्राण रक्षा के लिए अपने स्वामी से वेतनादि लेकर स्नेह करता है वह कृत्रिम मित्र है (२३, ४)। आचार्य

१ कौ० अर्थ० ६, २।
२ मनु० ७, १५८, कौटिल्य २, २७।

कौटिल्य ने भी मित्र के यही भेद बतलाये हैं।[1]

६ पार्ष्णिग्राह—विजिगीषु के शत्रु के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर बाद में जो क्रुद्ध होकर उस के देश को नष्ट भ्रष्ट कर डालता है उसे सोमदेव ने पार्ष्णिग्राह कहा है (२९, २६)।

७. आक्रन्द—जो पार्ष्णिग्राह से बिल्कुल विपरीत आचरण करता है अर्थात् विजिगीषु की विजय यात्रा में जो हर प्रकार से सहायता पहुँचाता है उसे आक्रन्द कहते हैं (२९, २७)।

८. आसार—जो पार्ष्णिग्राह का विरोधी और आक्रन्द से मित्रता रखता है वह आसार है (२९, २८)। कौटिल्य ने इसे आक्रन्दासार कहा है।[2]

९. अन्तर्धि—शत्रु राजा तथा विजिगीषु राजा इन दोनों के देश में जिस की जीविका है तथा जो पर्वत एवं अटवी में रहता है उसे सोमदेव ने अन्तर्धि बताया है (२९, २९)। शत्रु राज्य, मध्यम राज्य एवं उदासीन राज्य को राज्य मण्डल का घटक कहा जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि आचार्य सोमदेव ने ९ राज्यों का मण्डल बताया है। कौटिल्य के मण्डल में १२ राज्यों का उल्लेख मिलता है—१ विजिगीषु, २ अरि, ३ मित्र, ४ अरिमित्र, ५ मित्र-मित्र, ६ अरिमित्र-मित्र, ७ पार्ष्णिग्राह, ८ आक्रन्द, ९ पार्ष्णिग्राह सार, १० आक्रन्दासार, ११ मध्यम तथा १२ उदासीन। मनु के अनुसार विजिगीषु शत्रु, मध्यम, अरि, उदासीन, ये मण्डल सिद्धान्त के मूल अथवा आधार है।[4]

यद्यपि सोमदेव ने मण्डल के ९ राज्यों के नामों का ही उल्लेख किया है जो कि कौटिल्य के द्वारा वर्णित मण्डल के राज्यों से साम्य रखते हैं। किन्तु जिस प्रकार कौटिल्य ने अरि-मित्र, मित्र-मित्र, एवं अरि मित्र-मित्र को इस राज्य मण्डल में सम्मिलित कर लिया है। उसी प्रकार सोमदेव द्वारा प्रतिपादित मण्डल के ९ राज्यों में इन तीन राज्यों को सम्मिलित कर लेने पर उन के राज्य मण्डल में भी १२ राज्य हो जाते हैं। आचार्य सोमदेव इन का पृथक् नामोल्लेख करना उचित नहीं समझा। इसी कारण उन्होंने राज्य मण्डल में प्रमुख ९ राज्यों का ही वर्णन किया है।

कुछ विद्वानों ने मण्डल के तत्त्वों के साथ राज्य की प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का भी उल्लेख किया है। जिस के आधार पर मण्डल में १२, ३६, ५४, ७२, १०८ प्रकृतियों का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में कामन्दक का कथन सर्वथा उचित ही है कि मण्डल के तत्त्वों के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं किन्तु १२ राज्यों का मण्डल

१. कौ० अर्थ० ९, २७-२८।
२ वही, ६, २।
३ वही।
४. मनु० ७, १५५-५६।

स्पष्ट एव सर्वविदित है।[1] मण्डल का मुख्य उद्देश्य यही है कि विजिगीषु उन मित्र तथा शत्रु राज्यों के बीच जिन से कि वह परिवेष्टित है, शक्ति-सन्तुलन बनाये रखे। उसे अपनी नीति तथा साधनो में इस प्रकार व्यवस्था करनी चाहिए जिस से उदासीन तथा शत्रु राजा उस को हानि न पहुँचा सके। और न उस से अधिक शक्तिशाली हो सके।[2]

तीन शक्तियो का सिद्धान्त

प्रत्येक राजा को अपनी प्रजा पर नियन्त्रण रखने के लिए, देश की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए तथा अपने राज्य के प्रसार के लिए तीन शक्तियों से युक्त होना आवश्यक है। ये शक्तियाँ हैं—उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति एवं मन्त्रशक्ति। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इन तीन शक्तियो का उल्लेख मिलता है।[3] कामन्दक ने भी इन शक्तियों का वर्णन नीतिसार में किया है।[4] नीतिवाक्यामृत मे भी यह वर्णन मिलता है कि विजिगीषु मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति एव उत्साहशक्ति से सम्पन्न होकर शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है, इन के अभाव मे नही। सोमदेव ने इन शक्तियो की व्याख्या भी की है। जिस विजिगीषु के पास विशाल कोश एव चतुरगिणी सेना है वह उस की प्रभुशक्ति है (२९, ३८)। विजिगीषु के पराक्रम तथा रण-कौशल को उत्साह शक्ति कहते हैं (२९, ४०)। उस के ज्ञान बल को मन्त्रशक्ति कहते हैं (२९, ३६)। कौटिल्य ने भी इन शक्तियो की व्याख्या इसी प्रकार की है।[5] उन का कथन है कि—उत्साहशक्ति से प्रभुशक्ति श्रेष्ठ है, और प्रभुशक्ति से मन्त्रशक्ति।[6] आचार्य सोमदेव का भी यही विचार है। सोमदेव का कथन है कि जो राजा शत्रु की अपेक्षा उक्त तीन प्रकार की शक्तियो से युक्त होता है उस की विजय होती है और जो इन शक्तियो से शून्य है, जघन्य है (२९, ४१)।

चार उपाय

उपर्युक्त शक्तियो से सुसज्जित राजा को सर्वप्रथम युद्ध का आश्रय नही लेना चाहिए, जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए युद्ध तो अन्तिम साधन बताया गया है। राजशास्त्र प्रणेताओ ने इस सम्बन्ध मे अन्य तीन उपायो का वर्णन किया है, जिन का प्रयोग युद्ध से पहले अवश्य करना चाहिए। नीतिवाक्यामृत मे भी चार उपायो का वर्णन मिलता है (२९, ७०)।

---

१ कामन्दक—८, २०—४१।
२ वही, १५, ३२।
३ कौ० अर्थ० ६, २।
४ कामन्दक—१५, ३२।
५ कौ० अर्थ० ६, २।
६ वही, ६, २।

शत्रु राजा व प्रतिकूल व्यक्ति को वश में करने के चार उपाय साम, दाम, भेद व दण्ड हैं। इन के प्रयोग से शत्रु व प्रतिकूल व्यक्ति को वश में किया जा सकता है। आचार्य सोमदेव ने इन चार उपायों की व्याख्या भी की है जो इस प्रकार है—

सामनीति

यह प्रथम उपाय बताया गया है। यदि किसी राज्य मे कोई भयानक शत्रुता न होकर किसी साधारण बात पर आपस में वैमनस्य उत्पन्न हो गया हो तो उसे समझा-बुझाकर आपसी वैमनस्य दूर कर लेना चाहिए। यह नही कि उस पर सीधा आक्रमण ही कर दिया जाये। आचार्य सोमदेव ने सामनीति के पाँच भेद बतलाये हैं—

१. **गुण संकीर्तन**—प्रतिकूल व्यक्ति को अपने अनुकूल करने के लिए उस के गुणो की उस के सामने प्रशंसा करना।

२. **सम्बन्धोपाख्यान**—जिस उपाय से प्रतिकूल व्यक्ति की मित्रता दृढ़ होती है उसे उस के प्रति कहना।

३. **परोपकार दर्शन**—विरुद्ध व्यक्ति की भलाई करना।

४. **आयति प्रदर्शन**—हम लोगो की मैत्री का परिणाम भविष्य के जीवन को सुखी बनाना है, इस प्रकार की बात को प्रतिकूल व्यक्ति से प्रकट करना।

५ **आत्मोपसन्धान**—मेरा धन आप अपने कार्य मे प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार दूसरे को अपने अनुकूल बनाने के लिए व्यक्त करना (२९, ७०)। व्यास का कथन है कि जिस प्रकार वचनो द्वारा सज्जनो के चित्त विकृत नही होते उसी प्रकार सामनीति से प्रयोजनार्थी का कार्य विकृत न होकर सिद्ध ही होता है और जिस प्रकार शक्कर द्वारा शान्त होने वाले पित्त में पटोल (औषधि-विशेष) का प्रयोग व्यर्थ है उसी प्रकार सामनीति मे सिद्ध होने वाले कार्य मे दण्डनीति का प्रयोग भी व्यर्थ है।[१]

दामनीति

जहाँ पर विजिगीषु शत्रु से अपनी प्रचुर सम्पत्ति के सरक्षणार्थ उसे थोड़ा-सा धन देकर प्रसन्न कर लेता है उसे दामनीति कहते है (२९,७३)। शुक्र ने भी शत्रु से प्रचुर धन के रक्षार्थ उसे थोडा धन देकर प्रसन्न करने को उपप्रदान (दाम) कहा है। इस नीति का प्रयोग ऐसी परिस्थिति मे करना चाहिए, जब प्रथम नीति से काम न बने और यह निश्चय हो कि युद्ध से दोनो राज्यों को ही हानि होगी तथा दूसरा राज्य अपने से अधिक शक्तिशाली है जिस को आक्रमण कर के नही दबाया जा सकता। ऐसी स्थिति में शत्रु राज्य को थोड़ा धन आदि भट स्वरूप देकर उसे अपने पक्ष कर लेना ही हितकारक है।

---

१ व्यास—नीतिवा० पृ० ३३२।

भेदनीति

तीसरा उपाय भेद है। सोमदेव ने इस की परिभाषा करते हुए लिखा है कि विजिगीषु अपने सेनानायक, तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचर तथा दोनों ओर से वेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु की सेना में परस्पर एक-दूसरे के प्रति सन्देह या तिरस्कार उत्पन्न करा के भेद डालने को भेदनीति कहते हैं (२९, ७४)।

दण्डनीति

शत्रु का बध करना, उसे पीड़ित करना, उस के धन का अपहरण करना आदि दण्डनीति के अन्तर्गत आता है (२९, ७५)। विजिगीषु को अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए अन्य चारों उपायों का प्रयोग यथा-अवसर करना चाहिए। जिस समय जैसी नीति की आवश्यकता हो वैसी ही नीति का प्रयोग करना चाहिए। इन नीतियों के उचित प्रयोग से विजय निश्चित हो जाती है।

किस शत्रु से युद्ध किया जाये इस सम्बन्ध में भी आचार्य सोमदेव ने उपयोगी विचार व्यक्त किये है—जो इस प्रकार है—"जो जार से उत्पन्न हो अथवा जिस को देश का कोई भी ज्ञान ही न हो, लोभी, दुष्ट-हृदय, भुक्त, जिस से प्रजा ऊब गयी हो, अन्यायी, कुमार्गगामी, द्यूत एव मदिरापान आदि व्यसनों मे फँसा हुआ मित्र, अमात्य, सामन्त व सेनापति आदि राजकीय कर्मचारी जिस के विरुद्ध हो" इस प्रकार के शत्रु-भूत राजा पर विजिगीषु को आक्रमण करना चाहिए (२९, ३०)।

विजिगीषु को आश्रयहीन व दुर्बल आश्रय वाले शत्रु से युद्ध कर के उसे नष्ट कर देना चाहिए। यदि कारणवश शत्रु से सन्धि हो जाये तो भी विजिगीषु भविष्य के लिए अपना मार्ग निष्कण्टक बनाने के लिए उस का समस्त धन छीन ले या उसे इस प्रकार दलित व दुर्बल बना दे जिस से वह भविष्य मे उस का विरोध करने का साहस ही न कर सके (२९, ३१-३२)। जिस के साथ पहले धनी विजिगीषु द्वारा वैर-विरोध उत्पन्न किया गया है तथा जो स्वय आकर विजिगीषु से वैर-विरोध करता है। ये दोनों उस के कृत्रिम शत्रु है। यदि वे शक्तिहीन है तो इन के साथ विजिगीषु को युद्ध करना चाहिए अन्यथा शक्तिशाली होने की स्थिति मे उन्हे सामनीति से ही अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए (२९, ३४)।

षाड्गुण्य मन्त्र

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को विनियमित करने वाला यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मण्डल के अन्तर्गत विजिगीषु को अपने सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार इन छह गुणों अथवा नीतियों का प्रयोग करना चाहिए। इन के प्रयोग से राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित होते है। सोमदेव के अनुसार ये छह गुण इस प्रकार हैं—१. सन्धि, २. विग्रह, ३ यान, ४. आसन, ५ सश्रय तथा ६ द्वैधीभाव (२९, ४३)। कौटिल्य

तथा अन्य प्राचीन आचार्यों ने भी षाड्गुण्य मन्त्र के यही छह गुण बतलाये हैं।[1] सोमदेव ने इन छह गुणो का विस्तृत विवेचन नीतिवाक्यामृत मे किया है। आचार्य ने इस के लिए एक पृथक् समुद्देश (षाड्गुण्य समुद्देश) की रचना की है। सोमदेव के अनुसार इन छह गुणो का विवेचन निम्नलिखित है—

१. सन्धि—जब विजिगीषु अपनी दुर्बलता के कारण शक्तिशाली राज्य से धनादि देकर उस से मैत्री करता है, उसे सन्धि कहते है (२९, ४४)। आचार्य कौटिल्य ने सन्धि की परिभाषा करते हुए लिखा है कि दो राजाओ के बीच भूमि, कोश तथा दण्ड (सेना आदि) प्रदान करने की शर्त पर किये गये प्रणबन्धन को सन्धि कहते हैं।[2]

आचार्य सोमदेव ने उन परिस्थितियो का भी उल्लेख किया है जिन में सन्धि गुण का आश्रय लेना चाहिए। जब विजिगीषु शक्तिशाली हो तो उसे शत्रु राजा से आर्थिक दण्ड देकर सन्धि कर लेनी चाहिए (२९, ५१)। यदि विजिगीषु शत्रु द्वारा भविष्य में अपनी कुशलता का निश्चय करे कि न वह विजिगीषु को नष्ट करेगा और न विजिगीषु शत्रु को, तब उस के साथ विग्रह न कर मित्रता ही करनी चाहिए (२९,५३)। जब कोई सीमाधिपति शक्तिशाली हो और वह विजिगीषु की भूमि पर अधिकार करना चाहता हो तो उसे भूमि से उत्पन्न होने वाली धान्य देकर सन्धि कर लेनी चाहिए। उसे भूमि कदापि नही देनी चाहिए (२९,६५)। इस का कारण यह है कि भूमि से उत्पन्न होने वाली धान्य विनश्वर होने के कारण शत्रु के पुत्र-पौत्रादि द्वारा भोगी नही जा सकती, किन्तु भूमि एक बार हाथ से निकल जाने पर पुन प्राप्त नही होती (२९,६६)। इस के अतिरिक्त विजिगीषु द्वारा दी गयी भूमि को प्राप्त करने वाला सीमाधिपति शक्तिशाली होकर फिर उसे नही छोडता। शक्तिशाली सीमाधिपति को दुर्बल राजा पहले ही धन आदि देकर अपना मित्र बना ले, अन्यथा उस के द्वारा विजिगीषु का सम्पूर्ण धन नष्ट कर दिया जाता है और उस के राष्ट्र का विनाश हो जाता है। जब विजिगीषु स्वय दुर्बल हो और शत्रु विशेष पराक्रमी एव महान् शक्तिशाली हो तो उस से सन्धि कर लेनी चाहिए। प्रबल सैनिको वाले शत्रु के साथ युद्ध न कर सन्धि ही करना उचित है। समान शक्ति वाले राष्ट्रो को भी आपस मे कभी युद्ध नही करना चाहिए। यदि दो समान शक्ति वाले राज्यो में युद्ध छिड जाता है तो वे दोनो ही नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार हीन शक्ति वाला विजिगीषु भी प्रबल शक्ति वाले शत्रु से युद्ध कर के विनाश को प्राप्त होता है (३०, ६८-६९)। कौटिल्य का भी यही विचार है कि उपर्युक्त परिस्थितियो मे सन्धि के अतिरिक्त और कोई उपाय है ही नही।[3] कौटिल्य ने अनेक प्रकार की सन्धियों का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है।[4]

१ कौ० अर्थ० ७, १।
२ वही, ७, १।
तत्र पणबन्धसन्धि ।
३ वही, ७, १।
४ वही, ७, ३।

२. विग्रह्—युद्ध करने को विग्रह् कहते हैं। कौटिल्य के अनुसार शत्रु के प्रति किये गये द्रोह तथा अपकार को विग्रह् कहा जाता है।[1] उन के अनुसार इस गुण का प्रयोग तभी करना चाहिए जब विजिगीषु शक्तिशाली हो।[2] सोमदेव ने उन परिस्थितियों का भी वर्णन किया है जिन में विग्रहगण विजिगीषु के लिए हितकारक हो सकता है। यदि उन परिस्थितियों के विरुद्ध इस गुण का प्रयोग किया जाता है तो विजिगीषु का विनाश निश्चय रूप से होता है। इन परिस्थितियों का वर्णन सोमदेव ने इस प्रकार किया है—यदि विजिगीषु शत्रु राजा से सैनिक व कोश शक्ति में अधिक है और उस की सेना मे क्षोभ नही है तब उसे शत्रु राजा से युद्ध छेड देना चाहिए (२९,५२)। विजिगीषु यदि सर्वगुण सम्पन्न (प्रचुर सैन्य व कोश युक्त) है और उस का राज्य निष्कण्टक है, तो उसे शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए (२९,५४)। इस का अभिप्राय यही कि विजिगीषु को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि युद्ध करने से उस के राज्य मे तो किसी प्रकार की हानि नही होगी। शक्तिशाली को हीन शक्ति वाले के साथ युद्ध करना चाहिए। सोमदेव का यह भी कथन है कि एक बार जिस शत्रु को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया जाये उस पर आक्रमण नही करना चाहिए, अन्यथा पीडित किया गया शत्रु अपने विनाश की शका से पुन पराक्रम शक्ति का प्रयोग करता है (३०,६६)। शत्रु के मधुर वचनो पर कभी ध्यान नही देना चाहिए, क्योंकि वह कपटपूर्ण व्यवहार द्वारा विजिगीषु से मुक्ति प्राप्त कर के फिर अवसर पाकर उसे नष्ट कर देता है (१०, १४१)।

३. यान—सोमदेव के अनुसार विजिगीषु द्वारा शत्रु पर आक्रमण किये जाने को यान कहते हैं। अथवा शत्रु को अपने से अधिक शक्तिशाली समझकर अन्यत्र प्रस्थान को भी यान कहते है (२९, ४६)। जब विजयाभिलाषी राजा ऐसा समझ लेता है कि शत्रु के कार्यों का विध्वंश उस पर आक्रमण कर के ही सम्भव है और उस ने स्वय अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध कर लिया है तो ऐसी परिस्थिति मे उस राजा को यानगुण का आश्रय लेना होगा। सोमदेव ने यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि विजिगीषु को शत्रु देश पर अभियान तभी करना चाहिए जब कि अपना देश पूर्णरूपेण सुरक्षित हो। यदि अपने देश में सुरक्षा एव व्यवस्था का अभाव है तो उसे शत्रु पर कदापि आक्रमण करने के लिए प्रस्थान नही करना चाहिए। अन्यथा उस के गमन करते ही उस के देश मे अव्यवस्था फैल जायेगी, अथवा उस के राज्य पर अन्य कोई शत्रु आक्रमण कर देगा। जिस का सामना करना बहुत कठिन हो जायेगा।

४. आसन—सोमदेव ने आसन गुण का अर्थ इस प्रकार किया है—"सबल शत्रु को आक्रमण करने के लिए तत्पर देखकर उस की उपेक्षा करना (उस स्थान

---

१ कौ० अर्थ० ७, १।
  अपकारो विग्रह ।
२ वही, ७, ३।

को छोडकर अन्यत्र चले जाना) आसन है।" कौटिल्य के अनुसार सन्धि आदि गुणो की उपेक्षा का नाम आसन है।[1]

५ संश्रय—बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर किसी दूसरे शक्तिशाली राजा के यहाँ आश्रय प्राप्त करने को संश्रय कहते हैं (२९, ४८)। कौटिल्य के अनुसार किसी अन्य शक्तिशाली राजा के पास स्वय को, अपनी स्त्री तथा पुत्र एवं धन-धान्य आदि के समर्पण कर देने को सश्रय कहते है।[2] शुक्र ने इस को आश्रय कहा है।[3] इस का अभिप्राय यह है कि जब राजा अपनी हीन दशा देखे और शत्रु शक्तिशाली हो तथा पराजय की अधिक सम्भावना हो तो उस स्थिति में राजा को अन्य शक्तिशाली राजा का आश्रय प्राप्त कर अपनी रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। शुक्र के अनुसार जिन राजाओ का आश्रय प्राप्त कर के दुर्बल राजा भी शक्तिशाली बन जायें, उन का प्रश्रय प्राप्त करना आश्रय कहलाता है।

निर्बल राजा को कौन से राजा का आश्रय प्राप्त करना चाहिए इस सम्बन्ध मे आचार्य सोमदेव लिखते हैं कि शक्तिहीन विजिगीषु शक्तिशाली का ही आश्रय प्राप्त करे। दुर्बल का नही, क्योकि जो विजिगीषु शक्तिशाली शत्रु के आक्रमण के भय से हीन राजा का आश्रय प्राप्त करता है उस की हानि उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि हाथी द्वारा होने वाले उपद्रव के भय से अरण्ड पर चढ़ने वाले व्यक्ति को तत्काल हानि होती है (२९,५७)।

६. द्वैधीभाव—सोमदेव के अनुसार बलिष्ठ राजा के साथ सन्धि तथा दुर्बल के साथ युद्ध को द्वैधीभाव कहते हैं (२९, ४९)। जब विजिगीषु को यह ज्ञात हो जाये कि आक्रान्ता शत्रु उस के साथ युद्ध करने को तत्पर है तो उसे द्वैधीभाव का आश्रय लेना चाहिए। सोमदेव ने बुद्धि-आश्रित द्वैधीभाव का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—जब विजिगीषु अपने से बलिष्ठ शत्रु के साथ पहले मैत्री कर लेता है और फिर कुछ समय उपरान्त शत्रु का पराभव हो जाने पर उसी से युद्ध छेड देता है तो उसे बुद्धि आश्रित द्वैधीभाव कहते हैं (२९,५०)। क्योकि इस से विजिगीषु की विजय निश्चित होती है।

कुछ ग्रन्थो में द्वैधीभाव का अर्थ अन्य प्रकार से ही व्यक्त किया गया है। विष्णुपुराण में सेना को दो भागों में विभाजित करने को द्वैधीभाव कहा गया है।[4] शुक्र के अनुसार अपनी सेना को पृथक्-पृथक् गुल्मों मे विभाजित करना द्वैधीभाव है।[5]

---

१ कौ० अर्थ० ७, १।
उपेक्षणमासनम्।
२ वही, ७, १।
३ शुक्र० ४, १०६६।
४ विष्णु० २, १५०, ३-५।
५ शुक्र० ४, १०७०।
द्वैधीभाव स्वसैन्यानां स्थापयं गुल्मगुल्मत।

इस प्रकार साम-दामादि चार उपाय एवं सन्धि-विग्रहादि षाड्गुण्य राजशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। इन के समुचित प्रयोग से राज्य की स्थिति सुदृढ बनी रह सकती है। जिस प्रकार प्रजा में सन्तोष के लिए एव राज्य में सुख और समृद्धि के लिए सुशासन आवश्यक है, उसी प्रकार वैदेशिक सम्बन्धों को अनुकूल बनाने के लिए, अपने राज्य की सुरक्षा के लिए इन नीतियों का प्रयोग बहुत आवश्यक समझा गया है। इस में भूल होने का परिणाम राज्य के लिए घातक होता है। अत इस सम्बन्ध मे पूर्णरूपेण सतर्क रहने का आदेश धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र दोनों में ही दिया गया है।

युद्ध

आचार्य सोमदेवसूरि का मत है कि जहाँतक सम्भव हो बुद्धि से शान्तिपूर्ण उपायो द्वारा राजा को अपने पारस्परिक झगडो का निबटारा करना चाहिए (३०,२)। बुद्धिबल सर्वश्रेष्ठ होता है। जो कार्य शस्त्रबल से सिद्ध नहीं होते वे बुद्धिबल से सिद्ध हो जाते हैं (३०, ५-६)। साम, दाम, भेद आदि उपायो में बुद्धि का ही प्रयोग होता है। अत जहाँ तक सम्भव हो इन उपायों द्वारा राजा को अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिए। परन्तु जब वह इन उपायो द्वारा असफल हो जाये तभी शस्त्र-युद्ध करने का विचार करना चाहिए (३०, ४)।

कभी-कभी युद्ध अनिवार्य भी हो जाता है। अत ऐसे अवसर पर पूर्ण तैयारी के साथ युद्ध करना तथा दुष्टो का दलन करना राजा का परम धर्म है। उस के लिए रणक्षेत्र में मृत्यु प्राप्त करना प्राचीन आचार्यों की दृष्टि मे परम आदर्श है। मनु का निर्देश है कि प्रजा की रक्षा करते हुए राजा को युद्ध-क्षेत्र से भागना नही चाहिए और जो इस पुनीत कार्य को करते हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं उन्हे स्वर्ग मिलता है।[1] महाभारत में भीष्म कहते हैं कि क्षत्रिय के लिए घर में मृत्यु प्राप्त करना पाप है। उस के लिए तो प्राचीन परम्परा यही है कि युद्ध करते-करते युद्ध क्षेत्र में उस की मृत्यु होनी चाहिए।[2] आचार्य सोमदेव ने भी इन्ही भावो को नीतिवाक्यामृत में व्यक्त किया है। उन का कथन है कि शत्रु के आक्रमण से भयभीत होकर अपनी मातृभूमि को छोडकर विजिगीषु को कही भागना नही चाहिए, अपितु राष्ट्र की रक्षा करते हुए अपने प्राणो का बलिदान कर देना चाहिए (३०, १२)।

युद्ध के सम्बन्ध मे विजिगीषु के लिए कुछ निर्देश

आचार्य सोमदेव का कथन है कि युद्ध का निर्णय बहुत सोच-विचार कर करना चाहिए। क्रोध के आवेश में नही। कभी-कभी वह क्रोध के आवेश मे आकर बलिष्ठ

---

१ मनु० ७, ८७-८६।
२ महा० भीष्म० १७, ११।

शत्रु से भी युद्ध को तत्पर हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस का विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है (३०, ११)। अपने विनाश के निश्चित हो जाने पर भी राजा को युद्ध-क्षेत्र से भागना नही चाहिए, अपितु युद्ध मे संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि भागने वाले की मृत्यु निश्चित ही रहती है (३०, १२)। परन्तु युद्ध में यह बात निश्चय पूर्वक नही कही जा सकती कि युद्ध करने वाले की अवश्य ही मृत्यु हो जायेगी। यदि वह दीर्घ आयु है तो उस की सफलता अवश्य ही होती है। विजय और पराजय तथा जीवन और मृत्यु विधि के अधीन है (३०, १५)। सोमदेव का मत है कि यदि शत्रु अपने से अधिक शक्तिशाली हो तो उस से युद्ध कभी नही करना चाहिए, अपितु सन्धि ही कर लेनी चाहिए। जिस प्रकार पदाति सैनिक हस्ति आरूढ़ सैनिक से युद्ध करने पर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार हीन शक्ति वाला राजा भी अपने से अधिक शक्तिशाली राजा के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाता है (३०, ६९)। युद्ध के समय विपक्ष से आये हुए किसी भी अपरीक्षित व्यक्ति को अपने पक्ष मे नही मिलाना चाहिए। यदि उसे अपने पक्ष मे मिलाना आवश्यक हो तो भली-भाँति परीक्षा करने के उपरान्त ही उसे अपने पक्ष में मिलाना चाहिए। उसे वहाँ ठहरने नही देना चाहिए (३०, ५०)। शत्रु के कुटुम्बी, जो कि उस से अप्रसन्न होकर वहाँ से चले आये हो उन्हे परीक्षोपरान्त अपने पक्ष में मिलाना चाहिए, क्योंकि शत्रु सेना को नष्ट करने का प्रमुख मन्त्र यही है (३०, ५० तथा ५१)।

इस के साथ ही विजिगीषु जिस शत्रु पर आक्रमण करे उस के कुटुम्बियो को साम, दाम आदि उपायों द्वारा अपने पक्ष में मिलाकर उन्हे शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रेरित करना चाहिए (३०, ५४-५६)। विजिगीषु का कर्तव्य है कि शत्रु ने उस की जितनी हानि की है उस की उस से अधिक हानि कर के उस के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए। दोनो शत्रु कुपित होने पर ही सन्धि के सूत्र मे बँध सकते है, उस से पूर्व नही (३०, ५७)। समान शक्ति वालो का परस्पर युद्ध होने से दोनो का मरण निश्चित होता है और विजय प्राप्ति सन्दिग्ध रहती है। जिस प्रकार कच्चे घडे परस्पर एक दूसरे से ताड़ित किये जायें तो दोनो नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार समान शक्ति वाले शत्रुओ का युद्ध होने से दोनो ही नष्ट हो जाते हैं (३०, ६८)।

सैन्य-संगठन

किसी भी राजा की विजय सुशिक्षित सेना पर ही निर्भर है। अत राजा का यह कर्तव्य है कि वह एक सुशिक्षित तथा शक्तिशाली सेना का सगठन करे। आचार्य सोमदेव का कथन है कि शक्तिहीन तथा कर्तव्य विमुख अधिक सेना की अपेक्षा शक्तिशाली एवं कर्तव्यपरायण अल्प सेना उत्तम है (३०, १६)। जब शत्रु द्वारा उपद्रव किये जाने पर विजिगीषु की सारहीन सेना नष्ट हो जाती है, तो उस की शक्तिशाली सेना भी अधीर हो जाती है (३०, १७)। अत विजिगीषु को दुर्बल सेना कभी

नही रखनी चाहिए। सैन्य-शक्ति ही विजिगीषु का बल है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह उस को सक्षम तथा सशक्त बनाये रखे। इस की शक्ति को क्षीण न होने दे। सेना की शक्ति क्षीण होने से राजा की शक्ति भी क्षीण हो जाती है। सोमदेव ने ऐसे राजा की उपमा जगल से निकले हुए उस शेर से दी है जो गीदड के समान शक्तिहीन हो जाता है (३०, ३६)।

युद्ध के भेद

प्राय सभी आचार्यों ने युद्ध के दो भेद बतलाये हैं—(१) धर्मयुद्ध तथा (२) कूटयुद्ध। आचार्य कौटिल्य ने तीन प्रकार के युद्धो का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—(१) प्रकाशयुद्ध, कूटयुद्ध और (३) तूष्णीयुद्ध।[1] आचार्य सोमदेव-सूरि ने केवल दो प्रकार के युद्धो का वर्णन किया है (३०, ९१)। उन्होंने कूटयुद्ध की व्याख्या करते हुए लिखा है कि एक शत्रु पर आक्रमण प्रकट कर के वहाँ से अपनी सेना लौटाकर युद्ध द्वारा जा अन्य शत्रु का घात किया जाता है उसे कूटयुद्ध कहते हैं (३०, ९०)। तूष्णीयुद्ध वह युद्ध है जिस में विष देने वाला घातक पुरुषो को भेजा जाता है अथवा एकान्त मे चुपचाप स्वय शत्रु के पास जाकर एव भेदनीति के उपायो द्वारा शत्रु का घात किया जाता है (३०, ९१)।

धर्मयुद्ध

प्राचीन काल में धर्मयुद्ध को बहुत महत्त्व दिया जाता था। इस युद्ध के निर्धारित नियम थे और इन्ही के अनुसार युद्ध किया जाता था। धर्मयुद्ध के नियम मानवोचित दयादि गुण से युक्त होते थे। इस का उद्देश्य शत्रु का विनाश नही होता, अपितु उस को पराजित कर के अपनी अधीनता स्वीकार कराना ही इस का उद्देश्य था। इस में विषैले बाणो आदि का प्रयोग तथा अग्निबाणो का प्रयोग वर्जित था। इस के साथ ही यह युद्ध समान शक्ति वालो के साथ होता था, जिस में पैदल सेना पैदल से तथा हस्ति सेना हस्ति सेना से और रथारूढ़ रथारूढ़ो से युद्ध करते थे। यदि युद्ध मे किसी का रथ टूट जाता था अथवा कोई घायल हो जाता था तो उस पर आक्रमण करना धर्मयुद्ध के नियमो के विरुद्ध माना जाता था। धर्मयुद्ध का उद्देश्य तो धर्म की स्थापना करना एव अधर्म का नाश करना था। परन्तु सार्वभौम बनने की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण अश्वमेधादि यज्ञो द्वारा पराक्रम प्रकट करने के लिए भी युद्ध किया जाता था। जब शत्रु पर धर्मयुद्ध द्वारा विजय प्राप्त करना असम्भव दिखाई देता था तो ऐसी स्थिति में कूटयुद्ध का भी आश्रय लिया जाता था।

---

१ कौ० अर्थ० ७, ६।
विक्रमस्य प्रकाशयुद्धं कूटयुद्धं तूष्णीयुद्धमिति सन्धिविक्रमौ।

युद्ध के लिए प्रस्थान

जब विजिगीषु शत्रुयुद्ध करने के लिए प्रस्थान करे तो उस के सेनाध्यक्ष का यह कर्तव्य है कि वह आधी सेना को शस्त्रादि से सुसज्जित कर के रक्षित रखे, तदुपरान्त विजिगीषु को शत्रु पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करना चाहिए। जब वह शत्रु सैन्य की ओर प्रस्थान करने में प्रयत्नशील हो, तब उस के समीप चारो ओर सेना का पहरा रहना चाहिए तथा उस के पीछे शिविर में भी सेना विद्यमान रहनी चाहिए (३०, ९६)। इस का कारण यह है कि विजिगीषु कितना ही शक्तिशाली क्यो न हो, परन्तु वह यान के समय व्याकुल हो आता है और शूरवीर लोग उस पर प्रहार कर देते हैं। जब विजिगीषु दूरवर्ती हो और शत्रु की सेना उस की ओर आ रही हो तो ऐसे अवसर पर वन में रहने वाले उस के गुप्तचरो को चाहिए कि वे धुआँ करने, आग जलाने, धूल उडाने अथवा भैसे का सीग फूँकने का शब्द करने का बहाना कर के उसे शत्रु की सेना के आने का समाचार दे, ताकि उन का स्वामी सावधान हो जाये (३०, ९६)। विजिगीषु शत्रु के देश मे पहुँचकर अपनी सेना का पडाव ऐसे स्थान पर स्थापित करे जो मनुष्य की ऊँचाई के बराबर ऊँचा हो, जिस में थोडे व्यक्तियों का प्रवेश, भ्रमण तथा निकास हो, जिस के आगे विशाल सभा मण्डल के लिए पर्याप्त स्थान हो, उस के मध्य मे स्वयं ठहर कर उस मे अपनी सेना को ठहरावे। सर्व-साधारण के आने-जाने योग्य स्थान में सैन्य का पडाव डालने एव स्वय ठहरने से विजिगीषु अपनी प्राण रक्षा नही कर सकता है (३०, ९८-९९)। विजिगीषु पैदल, पालकी अथवा घोडे पर चढ़ा हुआ शत्रु भूमि मे प्रविष्ट न होवे, क्योकि ऐसा करने से अचानक शत्रु द्वारा उपद्रव किये जाने पर वह उन से अपनी रक्षा नही कर सकेगा (३०, १००)। जब विजिगीषु हाथी अथवा वाहन विशेष पर आरूढ हुआ शत्रु-भूमि में प्रविष्ट होता है तो उसे शत्रु के उपद्रवों का भय नही रहता (३०, १०१)।

नगर का घेरा किस अवसर पर डालना उचित होगा, इस सम्बन्ध में आचार्य सोमदेव लिखते है कि जब शत्रु मद्यपान आदि व्यसनो व आलस्य में ग्रसित हो तथा विजिगीषु को उत्तम सैन्य उस के नगर मे भेजकर शत्रु-नगर का घेरा डालना चाहिए (३०, ८९)।

व्यूह और उस का महत्त्व

युद्धक्षेत्र मे सग्राम करने के लिए सेना की जो व्यवस्था की जाती है उसे व्यूह कहते हैं। व्यूह-रचना भी युद्ध की दृष्टि से महान् कौशल है। कभी-कभी इसी व्यूह-रचना-कौशल के कारण अल्पसंख्यक सेना बहुसख्यक सेना पर विजय प्राप्त कर लेती है। कुरुक्षेत्र में पाण्डवो की व्यूह-रचना इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है। पाण्डव नित्य नये ढग का व्यूह बनाया करते थे, इसी कारण उन की अपेक्षाकृत अल्प सेना कौरवो की विशाल सेना पर विजयी हुई। व्यूह-रचना दो प्रकार से की जाती है, एक तो वह

जिस समय सेना युद्ध मे प्रविष्ट होती है और दूसरी वह जब प्रमुख सेना शत्रु की दृष्टि से परे रखी जाती है और छोटी-सी सेना सजाकर उस के समक्ष उपस्थित कर दी जाती है।

शुक्र तथा कौटिल्य ने व्यूह-रचना के सम्बन्ध में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया है।[1] कौटिल्य के अनुसार मकर व्यूह, शकटव्यूह, वज्रव्यूह, भद्रव्यूह, शूचि-व्यूह, दण्डव्यूह, भोगव्यूह, मण्डलव्यूह, सहृतव्यूह आदि व्यूहो के प्रकार हैं।[2] आचार्य सोमदेव का कथन है कि अच्छी प्रकार से रचा हुआ सैन्य-व्यूह उस समय तक ठीक व स्थिर रहता है, जबतक कि उस के द्वारा शत्रु सैन्य दृष्टिगोचर नही होता (३०, ८७)। इस का अभिप्राय यह है कि शत्रु सेना दिखाई पड़ने पर विजिगीषु के वीर सैनिक अपना व्यूह छोड़कर शत्रु सैन्य में प्रविष्ट होकर उस से भयकर युद्ध करने लगते हैं। इस प्रकार रचा हुआ व्यूह अस्थिर हो जाता है। आचार्य सोमदेव का यह भी निर्देश है कि विजिगीषु के वीर सैनिको को युद्धकला की शिक्षानुसार युद्ध करना चाहिए, अपितु उन्हे शत्रु द्वारा किये जाने वाले प्रहारो को ध्यान में रखकर ही युद्ध करना चाहिए। (३०, ८८)।

युद्ध के नियम

प्राचीन काल में युद्ध के भी कतिपय नियम थे। इन्हीं नियमो के अनुसार युद्ध किया जाता था और उन का अतिक्रमण करना बहुत बुरा समझा जाता था। शुक्रनीति की भाँति नीतिवाक्यामृत मे इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन नही हुआ है किन्तु फिर भी उस मे कतिपय नियमो का उल्लेख मिलता है। सम्भवत सोमदेव भी युद्ध के परम्परागत नियमो को ही मानते थे। इसी कारण उन्होने इस विषय का विशद विवेचन अपने ग्रन्थ मे नही किया है। वे लिखते है कि सग्राम-भूमि मे पैरो पर पड़े हुए भयभीत, शस्त्रहीन शत्रु की हत्या करने में ब्रह्महत्या का पाप लगता है (३०, ७५)। युद्ध मे जो शत्रु बन्दी बना लिये गये हो उन्हे वस्त्रादि देकर मुक्त कर देना चाहिए (३०, ७६)।

विजय के उपरान्त विजिगीषु का कर्तव्य

विजेता का विजित देश के शत्रु के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए, आचार्य सोमदेव ने इस सम्बन्ध मे कोई प्रकाश नही डाला है। परन्तु रामायण, महाभारत, अग्निपुराण, कौटिलीय-अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों मे इस विषय की चर्चा की गयी है। सम्भवत सोमदेव भी इस से सहमत थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि विजेता का यह कर्तव्य है कि वह अपने देश की भाँति ही विजित प्रदेश को भी रक्षा करे और वहाँ की प्रथाओ, परम्पराओ एवं पद्धतियों को मान्यता प्रदान करे।[3] इसी प्रकार

---

१ शुक्र० ४, ११०४ तथा कौ० अर्थ० १०, ४।
२ कौ० अर्थ० १०, २।
३. याज्ञ० १, ३४२-४३।

कौटिल्य ने भी कहा है कि विजेता को विजित राजा की भूमि, धन, पुत्र तथा पत्नी आदि पर अधिकार नहीं करना चाहिए। अन्यथा उस से मण्डल के राजा अप्रसन्न हो जायेंगे और मृतक राजा के पुत्र या उस के वंशज को राजसिंहासन पर आसीन कर देंगे।[1] राजनीतिप्रकाश का कथन है कि विजित राजा भले ही दोषी हो किन्तु विजेता को उस के दोष के कारण उस के देश को नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस ने कभी जनता से परामर्श लेकर तो दोषपूर्ण व्यवहार प्रारम्भ नहीं किया था।[2] शुक्र के मत मे इस सम्बन्ध मे थोडा अन्तर है। वे लिखते है कि शत्रुओं को जीतकर राजा को उन से कर ग्रहण करना चाहिए अथवा राज्य का अंश अथवा समस्त राज्य को हस्तगत कर लेना चाहिए और प्रजा को आनन्दित करना चाहिए। मृतराजा के योग्य पुत्र अथवा वंशज को उस के राजसिंहासन पर आसीन कर देना चाहिए तथा उस के विजित प्रदेश का बत्तीसवाँ भाग उस के निर्वाह के लिए देने की व्यवस्था कर देनी चाहिए।[3]

भारतीय इतिहास के अवलोकन से विदित होता है कि प्राचीन सम्राट् तथा विजेता प्राय इन नियमो के अनुसार ही व्यवहार करते थे।

युद्ध मे मारे गये सैनिको की सन्तति के प्रति राजा का कर्तव्य

आचार्य सोमदेव ने युद्ध मे मारे गये सैनिको की सन्तति का पालन-पोषण करना राजा का पुनीत कर्तव्य बताया है। यदि वह ऐसा नही करता है तो वह सदैव उन का ऋणी रहता है। आचार्य ने इसे अनर्थ कहा है और इस का परिणाम राजा के लिए हानिकारक बतलाया है (३०, ९३)। वास्तव में युद्धस्थल में मृत्यु को प्राप्त हुए सैनिको की सन्तति का उचित ढग से पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व विजिगीषु का होना सर्वथा उचित ही है।

●

१ कौ० अर्थ० ७, १६।
कर्मणि मृतस्य पुत्र राज्ये स्थापयेत। एवमस्य दण्डोपनता पुत्रपौत्राननुवर्तन्ते।
यस्तूपनतान्हत्वा बध्वा वा भूमिद्रव्यपुत्रदारानभिमन्येत तस्योद्विग्नं मण्डलमभावायोपतिष्ठते।

२ राजनीतिप्रकाश-पृष्ठ ४११।

३ शुक्र० ४, ११६१-११६२ तथा १२१७-१२१८।

न्याय-व्यवस्था

निष्पक्ष न्याय करना तथा दुष्टों का दमन करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था।[1] वह न्याय का स्रोत था।[2] मनु का कथन है कि जो राजा अदण्डनीय को दण्ड देता है और दण्डनीय को दण्ड नही देता वह नरकगामी होता है।[3] आचार्य शुक्र ने राजा के आठ कर्तव्यो मे दुष्टनिग्रह को भी प्रधान कर्तव्य माना है।[4] महाभारत के अनुसार न्याय व्यवस्था का यदि उचित प्रबन्ध न हो तो राजा को स्वर्ग तथा यश की प्राप्ति नहीं हो सकती।[5] याज्ञवल्क्य का कथन है कि न्याय के निष्पक्ष प्रशासन से राजा को वही फल प्राप्त होता है जो यज्ञ आदि के करने से प्राप्त होता है।[6] अत निष्पक्ष न्याय राजा को यश एव स्वर्ग को प्रदान करने वाला तथा प्रजा को सुख एव शान्ति प्रदान करने वाला होता है। आचार्य सोमदेव भी इसी प्राचीन परम्परा के अनुयायी थे। उन का कथन है कि जब राजा यम के समान कठोर होकर अपराधियों को दण्ड देता है तो प्रजा अपनी मर्यादा मे स्थिर रहती है तथा राजा को धर्म, अर्थ और काम आदि पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है (५, ६०)। अन्यत्र आचार्य ने लिखा है कि जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है तब सम्पूर्ण दिशाएँ प्रजा को अभिलषित फल प्रदान करने वाली होती हैं (१७, ४५)।

प्रशासन में न्याय के महत्त्व का वर्णन करने के साथ ही आचार्य सोमदेव का यह भी कथन है कि जो राजा न्यायपूर्वक शासन नही करता वह प्रजापीडन तथा असन्तोष का दोषी होता है और इस के परिणामस्वरूप वह नष्ट हो जाता है (८, २०)। अत न्याय-व्यवस्था शासन के स्थायित्व का मूलाधार है।

न्यायालय

राज्य मे शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए न्याय-व्यवस्था आवश्यक है। निष्पक्ष न्यायालय नागरिको मे राजभक्ति एव विश्वास उत्पन्न करते हैं और उन

---

१ शुक्र० १, १४ तथा नारद० प्रकीर्णक २३।

२ कौ० अर्थ० १, १६।

३ मनु० ८, १२८।

४ शुक्र० १, १२३।
दुष्टनिग्रहणं दान प्रजाया परिपालनम्।
यजन राजसूयादे कोशानां न्यायतोऽर्जनम्॥

५ महा० शान्ति० ६६, ३२।

६ याज्ञ० १, ३५६-६०।

के अधिकारो की रक्षा करते हैं। यद्यपि सोमदेव ने निष्पक्ष न्याय की आवश्यकता एव महत्त्व पर बहुत बल दिया है, किन्तु न्यायालयों के संगठन एव न्यायाधीशो की योग्यता आदि के सम्बन्ध में नीतिवाक्यामृत में अधिक सामग्री उपलब्ध नही होती। इस के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि नगरो तथा ग्रामीण क्षेत्रो में न्यायालयो की उचित व्यवस्था थी (२८, २२)। प्रत्येक न्यायालय में कितने न्यायाधीश होते थे तथा उन का क्या क्षेत्राधिकार था इस सम्बन्ध में उन के ग्रन्थ मे कोई वर्णन नही मिलता। अर्थशास्त्र में दिवानी तथा फौजदारी के न्यायालयो का स्पष्ट उल्लेख है।[1] किन्तु नीतिवाक्यामृत में ऐसा कोई उल्लेख नही।

न्याय-प्रणाली के शिखर पर राजा का न्यायालय था जो राजधानी में स्थापित था (२८, २७)। इस न्यायालय को सोमदेव ने सभा तथा इस के सदस्यो को सभ्य कहा है (२८, ३ तथा ७)। इस सभा का सभापति स्वय राजा होता था जो इन सभ्यो की सहायता से न्याय करता था (२८, ५)। सभा में कितने सभासद होते थे इस विषय म आचार्य ने कुछ नही लिखा है। प्राचीन नीतिशास्त्र के ग्रन्थो मे भी न्यायालय के लिए सभा तथा उस के सदस्यो के लिए सभ्य शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] और सोमदेव ने भी इन्ही शब्दो को अपनाया है। इस प्रकार आचार्य सोमदेव प्राचीन न्याय-व्यवस्था के ही समर्थक प्रतीत होते हैं।

नीतिवाक्यामृत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त न्यायालय के दो प्रकार के क्षेत्राधिकार थे। प्रथम, तो राजधानी की सीमा में होने वाले समस्त विवादो का निर्णय करने का मौलिक अधिकार इसे प्राप्त था और द्वितीय, अन्य नगरो एव ग्रामीण क्षेत्रो में होने वाले निर्णयो की अपील सुनने का अधिकार भी इसे प्राप्त था (२८, २२)। निम्नस्तर के न्यायालयो के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने की उचित व्यवस्था थी। यह अपील राजा के न्यायालय मे की जाती थी। राजा का न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय था और उस के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नही हो सकती थी। इस का निर्णय अन्तिम था। सोमदेव लिखते है कि राजा द्वारा दिया गया निर्णय निर्दोष होता है। अत जो वादी अथवा प्रतिवादी राजकीय आज्ञा अथवा मर्यादा का उल्लघन करे उसे मृत्यु दण्ड दिया जाये (२८, २३)। आचाय ने राजकीय आज्ञा को बहुत महत्त्व दिया है। उन का कथन है कि राजकोय आज्ञा किसी के द्वारा भी उल्लघन नही की जा सकती (१७, २५)। आगे वे लिखते हैं कि जिस की आज्ञा प्रजाजनो द्वारा उल्लघन की जाती है, उस मे और चित्र के राजा मे क्या अन्तर है (१७, २४)।

---

१ कौ० अर्थ० ३, १ तथा ३, ६ एव ४, १।

२ मनु०, ८, १२।
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासद ॥

सभ्यों की योग्यता एवं नियुक्ति

नीतिवाक्यामृत में सभा के सदस्यों (सभ्यो) की योग्यता के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला गया है । सभा के सदस्य सूर्य के समान प्रकाश करने वाली प्रतिभा से युक्त होने चाहिए (२८, ३) । जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को दूर कर के प्रकाश का संचार करता है, उसी प्रकार सभ्यो को निष्पक्ष भाव से अपराधी के दोषो पर विचार कर के उसे राजा के समक्ष प्रकाशित करना चाहिए । इस के अतिरिक्त सभ्यो को धर्मज्ञ (कानून का ज्ञाता), शास्त्रज्ञ, व्यवहार का ज्ञाता तथा अपने उत्तरदायित्वो का पालन करने वाला होना चाहिए । आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि जिन सभ्यों ने स्मृति प्रतिपादित व्यवहार का न तो अध्ययन द्वारा ज्ञान ही प्राप्त किया है और न धर्मज्ञ (कानून के ज्ञाता) पुरुषो के सत्सग से उन व्यवहारो का श्रवण ही किया है और जो राजा से ईर्ष्या एव वाद-विवाद करते हैं वे राजा के शत्रु हैं, सभ्य नही (२८, ४) । आगे आचार्य यह भी लिखते हैं कि जिस राजा की सभा में लोभ और पक्षपात के कारण अयथार्थ कहने वाले सभासद (सभ्य) होंगे, वे निश्चय ही सभापति (राजा) की तत्काल मान व अर्थ की हानि करेंगे (२८, ५) । अत. सभ्यों को कानून का पूर्ण ज्ञाता, निष्पक्ष एव निर्लोभ होना चाहिए । आचार्य का कथन है कि ऐसी सभा में विवाद को प्रस्तुत नही करना चाहिए जहाँ स्वय सभापति प्रतिवादी हो । सभ्य और सभापति के असामजस्य से विजय नही हो सकती । जिस प्रकार बलिष्ठ कुत्ता भी अनेक बकरो द्वारा परास्त कर दिया जाता है उसी प्रकार प्रभावशाली वादी विरोधी राजादि द्वारा परास्त कर दिया जाता है (२८, ६) ।

न्यायकार्य अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण होता है । अत. राजा इस कार्य को तथा अन्य प्रजा कार्यों को स्वय ही देखे, उन्हें किसी मन्त्री अथवा अमात्य पर न छोडे ।

प्रजाकार्यं स्वमेव पश्येत् ।

—नीतिवा० १७, ३६

इस के अतिरिक्त आचार्य का यह भी कथन है कि राजा को अपनी प्रजा के साथ निष्पक्ष रूप से तथा समदृष्टि से व्यवहार करना चाहिए । उस के गुण-दोषों का निर्णय तुला की भाँति तौलकर ही करना चाहिए (२८, १) ।

अपराध की परीक्षा किये बिना दण्ड देने का निषेध

न्यायालय द्वारा उचित परीक्षा के बिना किसी भी व्यक्ति को दण्ड नहीं देना चाहिए । न्याय के हित में यह आवश्यक है कि पहले अभियुक्त का अपराध सिद्ध हो, तब उसे दण्डित किया जाये । अपने क्रोध को शान्त करने अथवा बदला लेने की भावना से किसी भी व्यक्ति को दण्ड देना राजा के लिए सर्वथा अनुचित है (९, ४) ।

कार्य-विधि—कौटिल्य अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अन्य नीतिशास्त्र के ग्रन्थो में कानून के चार प्रमुख आधार बताये गये हैं—१. धर्म, २. व्यवहार, ३. चरित्र तथा ४. राजशासन ।[1] इन्ही आधारो के अनुसार न्याय किया जाता था । राजसस्था के और अधिक विकसित हो जाने पर न्याय (न्यायाधीशो के विचार) और मीमांसा (कानूनो की व्याख्या) को भी कानून का आधार माना जाने लगा । इसी लिए याज्ञवल्क्य ने श्रुति, स्मृति, शिष्टाचरण, व्यवहार, न्याय, मीमासा और राजकीय आज्ञाओ को कानून का आधार माना है ।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति भारतीय राज्य सस्थाओ के उस स्वरूप को प्रकट करती है जबकि कानून का रूप भली-भाँति विकसित हो चुका था । शुक्र ने देश, जाति, जनपद, कुल व श्रेणी के कानूनों के अनुसार न्याय करने का आदेश दिया है ।[3] इस के विरुद्ध आचरण करने से प्रजा में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । मनु तथा अन्य धर्मशास्त्रों के रचयिताओ ने इस सिद्धान्त को आवश्यक बतलाया है कि विवादो का निर्णय जनपद, जाति, श्रेणी तथा कुल के परम्परागत धर्मों के अनुसार होना चाहिए ।[4] सोमदेव ने इस सम्बन्ध में कुछ नही लिखा है । सम्भवत वे प्राचीन परम्परा को ही मानते थे, इसी कारण उन्होने इस सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करना आवश्यक नही समझा । इसी प्रकार न्यायालयो की कार्य-विधि के सम्बन्ध में भी उन के ग्रन्थ में कोई स्पष्ट निर्देश नही मिलता । इस का कारण यही है कि न्यायालयो की कार्य-प्रणाली इतनी सरल व सुनिश्चित थी कि प्रत्येक व्यक्ति इस से भली-भाँति परिचित था । अत' उन साधारण बातो का वर्णन करना सोमदेव ने आवश्यक नही समझा ।

न्यायालय मे वादो (मुकदमो) पर विचार खुले रूप से किया जाता था । कोई भी व्यक्ति वहाँ की कार्यवाही को देख-सुन सकता था । भारत मे गुप्त रूप से न्याय करने की प्रणाली को दोषयुक्त समझा जाता था । यद्यपि नीतिवाक्यामृत में न्यायालयो की कार्यविधि के सम्बन्ध में कोई विशेष वर्णन नही मिलता, किन्तु फिर भी उस में जो न्याय-व्यवस्था के सम्बन्व मे प्रकाश डाला गया है उस के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारत में उस समय भी वही प्रणाली प्रचलित थी जिस का उल्लेख धर्मशास्त्रो तथा नीतिशास्त्रो में हुआ है ।

वाद के चरण—किसी भी वाद के चार चरण होते थे । १ प्रतिज्ञा, २. उत्तर, ३ क्रिया और ४ निर्णय ।

---

१ कौ० अर्थ० ३, १ ।
२ याज्ञ० २, २ ।
३ शुक्र० ४, ५५२ ।
४ मनु० ८ ४१ ।
जातिजान्यमदान्धर्मान्श्रेणीधर्माश्च धर्मवित ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ।

प्रतिज्ञा—न्याय प्रक्रिया में प्रथम महत्त्वपूर्ण चरण प्रतिज्ञा होती है। इस में अभियुक्त अथवा वादी अपने अभियोग को न्यायालय के समक्ष या तो स्वयं अथवा किसी अन्य के द्वारा प्रस्तुत करता था। तत्पश्चात् प्रतिवादी को न्यायालय के समक्ष बुलाया जाता था। प्रतिवादी का यह कर्तव्य था कि न्यायालय द्वारा बुलाये जाने पर वह उपस्थित हो और वादी की प्रतिज्ञा का उत्तर दे। तत्पश्चात् वादी को एक बार और प्रतिवादी के उत्तर का प्रत्युत्तर देने का अवसर मिलता था। यदि अभियोग सरल होता था तो उसी समय उस का निर्णय सुना दिया जाता था और यदि उस मे तथ्य अथवा कानून की कोई जटिलता होती थी तो दोनो को अपने-अपने वादों मे तैयारी करने का समय दे दिया जाता था। यदि प्रतिवादी ने वादी के दावे अथवा उस पर लगाये गये अभियोग को अस्वीकार कर दिया तो वादी को उस दावे अथवा अपराध को सिद्ध करना पड़ता था।[1]

प्रमाण—सोमदेव ने लिखा है कि यथार्थ अनुभव, सच्चे साक्षियो एव सच्चे लेख इन प्रमाणो से विवाद में सत्य का निर्णय होता है (२८, ९)। किसी भी वाद (मुकदमे) की सत्यता का निर्णय करने के लिए प्रमाणो की आवश्यकता होती है। साक्षी अथवा साक्ष्य वचनो और लेख मे सोमदेव लेख को ही अधिक प्रामाणिकता प्रदान करते है (२७, ६३)। सोमदेव के अनुसार प्रत्येक लिखित प्रमाण को उस समय तक स्वीकार करना उचित नही है जबतक कि वह साक्ष्य अथवा अन्य प्रकार से सत्य प्रमाणित न हो जायें। लेख पर भी विश्वास उसी समय किया जाता था जब अन्य प्रमाणो से भी वह सच्चा सिद्ध हो जाता था। आचार्य ने अप्रत्यक्ष प्रमाण से प्रत्यक्ष प्रमाण को अधिक महत्त्व दिया है। वे साक्षी के उस साक्ष्य (गवाही) को प्रमाण नही मानते जो राजकीय शक्ति के प्रभाव से साक्ष्य देने के लिए बुलाये गये हो (२७, ६४)। इसी के साथ वे वेश्याओ एव जुआरियो की साक्ष्य को तभी ठीक मानते हैं जब कि वह अनुभव व अन्य साक्ष्य द्वारा प्रमाणित हो गयी हो (२८, १२)।

आचार्य सोमदेव यह भी अनुभव करते थे कि कभी-कभी वादी झूठे दावे दायर कर देते है, अत उन्होने सभ्यो को ऐसे व्यक्तियो तथा उन के प्रमाणो से सतर्क रहने का आदेश दिया है और विचारपूर्वक निर्णय देने का निर्देश दिया है (२८, २०)।

शपथ—साक्षियो को न्यायालय के समक्ष सत्य बोलने की शपथ भी लेनी पड़ती थी। यदि वे असत्य बोलते थे तो उन को दण्डित किया जाता था। सोमदेव ने सत्य का पता लगाने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने के अतिरिक्त अन्य उपायों की ओर भी संकेत किया है। इस के लिए उन्होने शपथ और दिव्य का उल्लेख किया है (२८, १४ तथा १६)। आचार्य का विचार है कि साक्ष्य द्वारा विवाद सम्बन्धी सत्यता का निर्णय हो जाने के उपरान्त शपथ क्रिया निरर्थक हो जाती है अर्थात् उस के पश्चात् शपथ क्रिया की आवश्यकता नही रहती है।

१ बृहस्पति स्मृति-व्यवहारकाण्ड ३, ३४।

विभिन्न वर्णों से भिन्न-भिन्न प्रकार की शपथ का विधान—धर्मशास्त्रों एव अर्थशास्त्रों में सभी वर्णों के व्यक्तियों से एक-सा व्यवहार, समान दण्ड तथा समान शपथ क्रिया का निषेध किया है। आचार्य सोमदेव भी विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों से पृथक्-पृथक् शपथ लेने का विधान निश्चित करते हैं। उन का कथन है कि विवाद के निर्णयार्थ ब्राह्मणो से स्वर्ण व यज्ञोपवीत स्पर्श करने की, क्षत्रियों से शस्त्र, रत्न, पृथ्वी, हाथो, घोडे आदि वाहन और पालकी का स्पर्श करने की, वैश्यो से कर्ण, शिशु, कौडी, रुपया तथा स्वर्ण स्पर्श करने की, शूद्रो से दूध, बीज, सर्प की बमई स्पर्श करने की तथा धोबी एवं चर्मकार आदि से उन के जीवनोपयोगी उपकरणो के स्पर्श करने की शपथ करानी चाहिए। इसी प्रकार व्रती एव अन्य पुरुषो की शुद्धि उन के इष्ट देवता के चरणस्पर्श से तथा प्रदक्षिणा करने से होती है। व्याध से धनुष लाँघने की तथा चर्मकार व चाण्डाल आदि से गीले चमडे पर चलने की शपथ लेनी चाहिए (२८, ३०-३७)।

जीविकोपयोगी उपकरणो की शपथ की प्रक्रिया आचार्य सोमदेव की बुद्धिमता एव मनोवैज्ञानिकता का प्रमाण है (२८, ३४)। यह स्पष्ट है कि जीविकोपयोगी उपकरणो की शपथ सामान्यत झूठी नही हो सकती, क्योंकि लोगो को अपनी जीविका से बहुत स्नेह होता है। कुछ व्यक्तियो के सम्बन्ध में सोमदेव ने शपथ क्रिया को व्यर्थ बतलाया है। उन का कथन है कि सन्यासी के वेष में रहने वाले नास्तिक, चरित्रभ्रष्ट तथा जाति से बहिष्कृत व्यक्ति शपथ के अयोग्य हैं (२८, १८)।

सत्य का पता लगाने के लिए सोमदेव ने दूसरा उपाय दिव्य बतलाया है। दिव्य का अर्थ उन साधनो से है जिन के द्वारा विवाद का निणय शोघ्र हो जाता है और जो निणय अन्य मानवी साधनो द्वारा सम्भव नही है। अग्नि, जल, विष, कोश आदि को कठिन परीक्षाओ को दिव्य कहते ह।[1] आचार्य सामदेव का कथन है कि यदि साक्षी का अभाव हो और शपथ क्रिया निरर्थक हो गयी हो तो दिव्य क्रिया का प्रयोग करना चाहिए (२८, १६)।

क्रिया—वाद का तीसरा पाद वादी-प्रतिवादी द्वारा तर्क उपस्थित करना था। यदि वादी अथवा प्रतिवादी अपनी बात प्रस्तुत करने मे असमर्थ होते थे तो वे अन्य कानून के ज्ञाताओ के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन करा सकते थे। जब न्यायाधीश दोनो पक्षो द्वारा उपस्थित तर्कों को सुन रहा हो तो यथार्थ निर्णय पर पहुँचने के लिए पाँच हेतु बतलाये गये हैं—(१) दृष्टदोष, जिस के अपराध को देख लिया गया हो। ऐसी स्थिति मे न्यायाधीश के लिए उस व्यक्ति को अपराधी सिद्ध करना कठिन नही होगा। (२) स्वय वाद, जो व्यक्ति स्वय अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है। ऐसी दशा मे भी न्यायाधीश के लिए किसी व्यक्ति को अपराधी घोषित कर देना कठिन नही होता।

१ दिव्यतत्त्व-पृ० ५७४।

(३) सरलतापूर्वक न्यायोचित तर्क उपस्थित करना, (४) कारणों को उपस्थित कर देना तथा (५) शपथ।

उपर्युक्त पाँच हेतु अपराधी के अपराध का निर्णय करने के लिए आवश्यक साधन बतलाये गये हैं। यदि इन पाँच हेतुओ द्वारा निर्णय सम्भव न हो सके तो गुप्तचरो का प्रयोग करना चाहिए और उन की सहायता से अपराधी के अपराध का पता लगाना चाहिए।[१]

निर्णय—बहस अथवा क्रिया के पश्चात् निर्णय दिया जाता था। निर्णय निष्पक्ष तथा अभियोग से सम्बन्धित समस्त परिस्थितियो पर विचार कर के दिया जाता था। न्यायालय द्वारा परीक्षण किये बिना किसी को भी दण्ड देना अनुचित समझा जाता था। आचार्य सोमदेव भी इसी विचार के पोषक हैं। स्मृति ग्रन्थो के अनुसार निर्णय लिखित रूप में दिया जाता था। जिस लेख मे यह निर्णय लिखा जाता था उसे जयपत्र कहते थे। उस की एक प्रति विजेता पक्ष को दी जाती थी।[२] नीतिवाक्यामृत में इस का कोई उल्लेख नही मिलता।

दण्ड विधान—न्यायालय द्वारा दण्ड की क्या व्यवस्था थी इस सम्बन्ध में नीतिवाक्यामृत मे अल्प सामग्री ही उपलब्ध होती है। परन्तु उस के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि दण्ड अपराधानुकूल ही दिया जाता था। अन्यायपूर्ण दण्ड से प्रजा में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।

सम्पत्ति विषयक वादो मे अर्थदण्ड की व्यवस्था थी, और सम्पत्ति उस के उचित अधिकारी को ही प्राप्त होती थी। अनुबन्धो को रद्द करने का अधिकार न्यायालयो को था अथवा नही, इस का कोई उल्लेख नीतिवाक्यामृत मे नही मिलता। हाँ, फौजदारी के मुकदमो मे अर्थदण्ड, कारावास का दण्ड तथा मृत्युदण्ड का विधान उस मे अवश्य है (१६, ३२, २८, १७)। उस मे क्लेशदण्ड एव निष्कासनदण्ड का वर्णन नही मिलता। अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्त्रियो को पुरुषों की अपेक्षा उसी अपराध के लिए आधा दण्ड दिया जाता था।[३] सोमदेव ने इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नही दिया है। उन का सामान्य सिद्धान्त यह था कि अपराध के अनुकूल ही दण्ड देना चाहिए। जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया है उस को उसी के अनुकूल दण्ड देना दण्डनीति है—

यथादोष दण्डप्रणयन दण्डनीति

—नीतिवा० ९, २

---

१ कौ० अर्थ० ३, १।
२ बृहस्पति स्मृति-व्यवहारकाण्ड ६, २६-२८।
३ कौ० अर्थ० ४, ८।
स्त्रियास्त्वर्धकर्म वाक्यानुयोगो वा।

आचार्य ने यहाँ तक लिखा है कि यदि राजपुत्र ने भी अपराध किया हो तो उसे भी अपराधानुकूल दण्ड मिलना चाहिए—

अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्य ।

—नीतिवा० २६, ४१

दण्ड का प्रयोजन

स्मृतियो में दण्ड के चार उद्देश्यो अथवा सिद्धान्तो का वर्णन मिलता है। दण्ड का प्रथम सिद्धान्त अथवा उद्देश्य प्रतिशोधात्मक भावना से दण्ड देना था। जिस व्यक्ति को हानि पहुँचती है उस के मन में स्वभावत बदले की भावना जागृत होती है। वह भी अपराधी को उसी प्रकार की हानि अथवा चोट पहुँचाने की चेष्टा करता है। जिस प्रकार की हानि उसे पहुँचायी गयी है उसी प्रकार की हानि वह भी उसे पहुँचाने का प्रयत्न करता है। किन्तु सभ्य समाज में प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार का अधिकार नही दिया जा सकता। इस से समाज को शान्ति भग होने की आशका होती है। अत. राजा का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह अपराधी को उचित दण्ड देकर जिस की हानि हुई है, उस की प्रतिशोध की भावना को शान्त करे।

भय अथवा आतंक स्थापित करने का सिद्धान्त—दण्ड का द्वितीय उद्देश्य अपराधी के हृदय मे भय उत्पन्न करना है। अपराधी को ऐसा दण्ड दिया जाये जो दूसरो के लिए उदाहरणस्वरूप हो, जिस से कि वह अपराधी तथा समाज के अन्य व्यक्ति फिर अपराध करने का साहस न कर सकें। कठोर दण्ड के भय से व्यक्ति अपराध करने का साहस नही कर सकते। क्लेश दण्ड, अग-भग का दण्ड, मृत्यु दण्ड आदि का उद्देश्य यही होता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का प्रयोजन समाज को दुष्टो से सुरक्षित रखना और उस को सुख एव समृद्ध बनाना ही है।

निरोधक सिद्धान्त—दण्ड का तृतीय सिद्धान्त अथवा उद्देश्य अपराधी को अपराध करने से रोकना है। उदाहरणार्थ यदि अपराधी को किसी अपराध के कारण कारागार में बन्द कर दिया जाये तो उस को कुछ समय के लिए अपराध करने से रोक दिया जाता है अथवा उस अपराध की पुनरावृत्ति को समाप्त कर दिया जाता है। यदि वह निष्कासित कर दिया जाता है या उस को मृत्यु दण्ड दे दिया जाता है तो वह सदैव के लिए अपराध करने से रोक दिया जाता है।

सुधारवादी सिद्धान्त—दण्ड का चतुर्थ सिद्धान्त अपराधी में सुधार करना है। दण्ड एक प्रकार का प्रायश्चित्त समझा जाता है जो कि अभियुक्त को विशुद्ध कर के उस के चरित्र में सुधार करता है। इस प्रकार सुधार हो जाने पर वह फिर कभी अपराध करने की ओर अग्रसर नही होता।

नीतिवाक्यामृत मे उपर्युक्त सिद्धान्तो का कोई स्पष्ट उल्लेख तो नही मिलता, किन्तु उस की विकीर्ण सामग्री के आधार पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकता

है कि सोमदेव दण्ड के उपर्युक्त सिद्धान्तो में विश्वास रखते थे। इन्ही सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने नीतिवाक्यामृत में दण्ड का विधान किया है। वे लिखते हैं कि अपराधी दुष्टो को वश में करने के लिए दण्डनीति के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नही, जिस प्रकार टेढ़ा बाँस अग्नि पर सेकने से ही सीधा होता है उसी प्रकार दुष्ट लोग दण्ड से ही सीधे होते हैं—

न हि दण्डादन्यास्ति विनियोगापायो संयोग एव वक्र काष्ठ सरलयति ।

—नीतिवा० २८, २५

इस प्रकार सोमदेव दण्ड के प्रथम सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते हैं। अन्यत्र वे लिखते हैं कि राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा करने के लिए अपराधियो को दण्ड दिया जाता है, धन प्राप्ति के लिए नहीं (९, ३)। इस का अभिप्राय यही है कि राजा धन प्राप्ति के लोभ से व्यक्तियो को दण्ड न दे, अपितु अपराधो का उन्मूलन करने की भावना से दण्ड का प्रयोग करे। दण्ड की उचित व्यवस्था से ही राष्ट्र सुरक्षित रहता है। यही दण्ड का निरोधक सिद्धान्त है जिस का उद्देश्य अपराधी को अपराध करने से रोकना है। सोमदेव ने राज्याज्ञा का उल्लघन भीषण अपराध बताया है। इस सम्बन्ध मे वे लिखते हैं कि राजा आज्ञा भग करने वाले पुत्र को भी क्षमा न करे—

आज्ञाभगकारिण सुतमपि न सहेत।—नीतिवा० १७, २३

राजाज्ञा का उल्लघन करने वालो के लिए उन्होने मृत्यु दण्ड का विधान किया है (२८, २३)। ऐसे कठोर दण्ड का विधान आचार्य ने इस कारण किया है जिस से कि व्यक्ति राजाज्ञा का उल्लघन न कर सकें। प्रजा दण्ड के भय से ही अपने-अपने कर्तव्यो मे प्रवृत्त रहती है तथा अकृत्यो को नही करती (२८, २५)। इस प्रकार आचार्य ने भयावह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

आचार्य सोमदेव दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त में भी विश्वास रखते हैं। दण्ड का प्रधान हेतु बतलाते हुए उन्होने लिखा है कि जिस प्रकार चिकित्सा से व्यक्ति रोग-मुक्त हो जाता है उसी प्रकार अपराधियो को दण्ड देने से उन के समस्त अपराध विशुद्ध हो जाते हैं।

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्ड।—नीतिवा० ९, १

यहाँ पर आचार्य स्पष्ट रूप से दण्ड के बदला लेने तथा सुधारवादी दृष्टिकोण मे भेद बतलाते हैं। प्रायश्चित्त तथा दण्ड दोनो ही अपराधो को विशुद्ध करने के उपाय बताये गये हैं। अत. अपराधो को विशुद्ध करने के उद्देश्य से दण्ड दिया जाता है। ऐसा करने से अपराधी का नैतिक स्तर उच्च होता है तथा वह अपराध से विमुख हो जाता है।

उचित दण्ड पर बल

आचार्य सोमदेव ने जहाँ राजाज्ञा का उल्लंघन करने वालों के लिए मृत्यु दण्ड की व्यवस्था की है, वहाँ उन्होंने राजा के न्याय कर्तव्य पर भी विशेष बल दिया

है। पुनरुक्ति के दोष की उपेक्षा कर के अनेक स्थलो पर उन्होने राजा को अनुचित दण्ड देने से सावधान किया है। दण्ड देने से जो हानि होती है उस की ओर भी आचार्य ने संकेत किया है। वे लिखते हैं कि जो राजा अज्ञानता के कारण तथा क्रोध के वशीभूत होकर दण्डनीति की मर्यादा का उल्लघन कर के अनुचित ढग से दंड देता है उस से समस्त प्रजा के लोग द्वेष करने लगते हैं—

दुष्प्रणीतो हि दण्ड' कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेष करोति।

—नीतिवा॰ ९, ६

इस लिए विवेकी राजा को काम, क्रोध और अज्ञान के वशीभूत होकर कभी दण्ड नही देना चाहिए। राजा के लिए दण्ड का त्याग भी उचित नही ह। यदि अपराधियो को दण्ड न दिया जायेगा तो समाज मे अव्यवस्था फैल जायेगी। अत न्यायी राजा को अपराध के अनुकूल दण्ड देकर प्रजा की श्रीवृद्धि करनी चाहिए। गुरु का कथन है कि जो राजा पापयुक्त दण्ड देता है, परन्तु दण्डनीय दुष्टो को दण्ड नही देता उस के राज्य की प्रजा में मात्स्यन्याय का प्रचार हो जाता है। इस से सर्वत्र अराजकता का सृजन होता है।[1] अत इस अराजकता को रोकने तथा समाज मे शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना के लिए राजा के लिए उचित दण्ड का प्रयोग परम आवश्यक है।

पुर्नविचार तथा पुनरावेदन

धर्मशास्त्रो मे पुर्नविचार का भी उल्लेख मिलता है। यदि वादी को किसी न्यायालय के निर्णय से सन्तोष नही होता था अथवा वह यह समझता था कि उस का निर्णय उचित रूप से नही हुआ है अथवा उचित अधिकारियो द्वारा नही दिया गया है तो वह अर्थ दण्ड देकर न्यायालय द्वारा उस निर्णय पर पुर्नविचार कराने का अधिकारी था। नीतिवाक्यामृत मे इस प्रकार की व्यवस्था का कोई उल्लेख नही मिलता। किन्तु उस मे यह वर्णन अवश्य प्राप्त होता है कि ग्राम अथवा नगर के न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध राजा के न्यायालय मे अपील हो सकती थी (२८, २२)। इस प्रकार नीतिवाक्यामृत मे पुनरावेदन अथवा अपील की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। इस के साथ ही उस में यह बात भी स्पष्ट रूप से लिखी है कि राजा का निर्णय अन्तिम होता था और उस निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नही हो सकती थी, क्योकि राजा का न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय था। उस निर्णय के विरुद्ध यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार का असतोष प्रकट करता था अथवा उस की अवज्ञा करने का साहस करता था तो उसके लिए मृत्युदण्ड का विधान था (२८, २३)।

---

१ गुरु॰ नीतिवा॰, पृ॰ १०६।
दण्ड्य दण्डयति नो य पापदण्डसमन्वित।
तस्य राष्ट्रे न सदेहो मात्स्यो न्याय प्रकीर्तित॥

निष्कर्ष

आचार्य सोमदेवसूरि का प्रादुर्भाव ऐसे काल में हुआ जब हिन्दू राज्य का सूर्य अस्तोन्मुख था। हर्षवर्धन के अनन्तर कोई भी ऐसा हिन्दू राजा नही हुआ जो समस्त देश अथवा उस के अधिकाश भाग को एक केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत कर सके। इसी कारण हर्ष को भारत का अन्तिम साम्राज्य निर्माता कहा जाता है। उस के पश्चात् भारत के राजनीतिक गगन मण्डल पर एक बार पुन अन्धकार छा गया। हर्ष के बाद हिन्दू राज्य की सत्ता तो रही, किन्तु सुदृढ़ केन्द्रीय शक्ति का नितान्त अभाव हो गया। देश सैकडो छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त हो गया। वे भारतीय नरेश सीमा-विस्तार के लिए अपनी शक्ति का दुरुपयाग करने लगे। इस राजनीतिक अव्यवस्था से लाभ उठाकर यवनो ने भारत की पावन भूमि पर अधिकार कर लिया।

इसी राजनीतिक अव्यवस्था के युग में सोमदेवसूरि का आविर्भाव हुआ। उस काल मे भारतीय नरेशो का पथप्रदर्शन करने वाला कोई राजनीति का उद्भट विद्वान् नही था। इस अभाव की पूर्ति आचार्य सोमदेव ने की। उन्होने विभ्रान्त भारतीय नरेशो के पथप्रदर्शनार्थ राजशास्त्र के अमर ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत की रचना की। आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रवाहित राजदर्शन की पुनीत धारा कामन्दक के पश्चात् अवरुद्ध हो गयी थी। आचार्य सोमदेव ने राजदर्शन की इस अवरुद्ध धारा को पुन प्रवाहित किया। उन्होने समस्त नोतिशास्त्रो एव अर्थशास्त्रो का गहन अध्ययन कर के अपनी विलक्षण प्रतिभा से उस नीतिसागर का मथन कर अनर्घ्य तत्त्व रत्नो के सहित नीति-वचनामृत को उपलब्ध किया। यह अमृत की पावन धारा नीतिवाक्यामृत के रूप में प्रवाहित हुई। इस धारा में अवगाहन कर तत्कालीन राजाओ ने अपने कर्तव्यो एव आदर्शों का ज्ञान प्राप्त किया तथा राष्ट्रोत्थान का पुनीत सकल्प ग्रहण किया।

आचार्य सोमदेव ने प्राचीन शास्त्रोक्त राजनीतिक सिद्धान्तो को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया। उन्होने राजनीति के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया तथा राज्य और समाज दोनो की उन्नति में सहायक सिद्धान्तो का निरूपण किया। आचार्य ने क्रम और विक्रम को राज्य का मूल बताया है तथा इन मे भी विक्रम पर अधिक बल दिया है (५, २७)। उन का कथन है कि क्रमागत राज्य भी विक्रम (शौर्य) के अभाव में नष्ट हो जाता है। अत राजा को पराक्रमी होना चाहिए। उन की स्पष्ट घोषणा है कि भूमि पर कुलागत अधिकार किसी का नही है, किन्तु

वसुन्धरा वीरों की है (२९, ६८) अर्थात् पृथ्वी पर वीर पुरुषों का ही अधिकार होता है। वीरता के साथ राजा को विविध शास्त्रो तथा राजदर्शन का ज्ञाता होना भी परम आवश्यक है (५, ३१)। इस प्रकार सोमदेव ने राजनीति के व्यावहारिक सिद्धान्तो पर विशेष बल दिया है।

राजतन्त्र के प्रबल पोषक होते हुए भी आचार्य ने राजा को निरकुश नही बनाया है। उन के राजतन्त्र में प्रजातन्त्र की आत्मा पूर्णरूपेण परिलक्षित होती है। उन का आदेश है कि राजा प्रत्येक कार्य मन्त्रियो के परामर्श से ही करे और कभी दुराग्रह न करे (१०, ५८)। वे राजा को सुयोग्य मन्त्रियो, सेनापति, पुरोहित एव अन्य राजकर्मचारियो को नियुक्त करने का परामर्श देते हैं। आचार्य सोमदेव स्वदेशवासियो को ही उच्चपदो पर नियुक्त करने के पक्ष मे हैं (१०, ६)। मन्त्रियो के परामर्श से राजकार्य करने से लाभ तथा उन की अवहेलना करने से होने वाली हानियो की ओर भी उन्होने सकेत किया है। उन का विचार है कि सुयोग्य मन्त्रियो के सम्पर्क से गुणरहित राजा भी सफलता प्राप्त कर सकता है (१०, २-३)। आचार्य ने मन्त्री और पुरोहित को राजा के माता-पिता के समान बतलाया है (११, २)। जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्र के हितचिन्तन मे सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं, उसी प्रकार मन्त्री और पुरोहित भी राजा का सर्वदा हितचिन्तन करने में तत्पर रहते हैं। इसी कारण सोमदेव ने उन्हे राजा के माता-पिता के समान बतलाया है। इस प्रकार सोमदेव वैधानिक राजतन्त्र के समर्थक हैं।

आचार्य ने लोकहितकारी राज्य के सिद्धान्त का पर्णरूप से समर्थन किया है। उन्होने राज्य को धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग फल का दाता बतलाया है (पृ० ७)। आचार्य की दृष्टि में प्रजा का सर्वाङ्गीण विकास करना राजा का परम कर्तव्य है। इस के साथ ही वे राजा को मर्यादा का पालन करने का भी आदेश देते हैं। मर्यादा का अतिक्रमण करने से फलदायक भूमि भी अरण्य के समान हो जाती है (१९, १९) तथा मर्यादा का पालन करने से प्रजा को अभिलषित फलो की प्राप्ति होती है (१७, ४५)। वे कहते हैं कि राजा को प्रजा के समक्ष उच्च आदर्श उपस्थित करने चाहिए, क्योकि प्रजा राजा का अनुकरण करती है। राजा के अधार्मिक हो जाने पर प्रजा भी अधार्मिक हो जाती है (१७, २९)।

राजा को अपनी प्रजा का पालन पुत्रवत् करना चाहिए। न्याय के पथ का अनुसरण करने का भी आचार्य ने आदेश दिया है। उन का कथन है कि राजा को प्रजा के साथ कभी अन्याय नही करना चाहिए और उस के अपराधानुकूल ही दण्ड देना चाहिए (९, २)। अपराध के अनुकूल दण्ड अप ने पुत्र को भी देना चाहिए ऐसा आचार्य का विचार है (२६, ४१)। वे राजा के देवत्व के सिद्धान्त में भी विश्वास रखते हैं (२९, १६-१९)। इस के साथ ही सोमदेव प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा को निकृष्ट बतलाते हैं तथा उसे नरक का अधिकारी समझते हैं (७, २१ तथा

६, ४२)। पापियों का निवारण करने में राजा पाप का भागी नही होता, अपितु इसे राष्ट्र संकटों के विनाश से महान् धर्म की प्राप्ति होती है (६, ४१)। आचार्य ने राजधर्म की दिशा में राजा के लिए बहुत उच्च आदर्श निर्धारित किये हैं। राजधर्म में धर्मपद से सोमदेवसूरि का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि राजा के जिस आचरण से अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि होती है वह धर्म है (१, १)। आचार्य के सामने मोक्ष साधना का सर्वाधिक महत्त्व है। उन्होंने इस धर्म साधना के लिए शक्ति के अनुसार तप और त्याग के आचरण को धर्म के अधिगमन का उपाय बतलाया है (१, ३)। सोमदेव ने समस्त प्राणियो में समता (निर्वैरता) के आचरण को परम आचरण बतलाया है (१, ४)। वे भूतद्रोह को सर्वोपरि दोष मानते हैं (१, ५)। आचार्य के मत में प्रतिदिन कुछ न कुछ तप और दान का आचरण करते रहना चाहिए, क्योकि दान और तप करने वाले पुरुष को उत्तम लोको की प्राप्ति होती है (१, २७)।

इस प्रकार आचार्य सोमदेव ने जीवन में अधर्म का त्याग कर धर्म की साधना से शुभगति प्राप्त कर लेना राजधर्म मे राजा के लिए निर्धारित किया है। परन्तु वे राजा को एकागी मुमुक्षु भी नही बना देते। जिस धर्मसाधना में काम और अर्थ का परित्याग हो ऐसी सन्यास प्रधान धर्मसाधना को वे त्याज्य मानते हैं (३, ४)। इस प्रकार उन्होने राज धर्म को मोक्ष का भी अमोघ साधन बना दिया है। जिस प्रकार गीता का कर्मयोग केवल कर्म न रहकर लोक्ष साधक योग बन जाता है, वहाँ क्षत्रिय का युद्धाचरण भी जिस प्रकार नि श्रेयस साधक है, उसी प्रकार आचार्य सोमदेव ने भी राजधर्म को मोक्ष साधक मान कर उस का निरूपण किया है।

आचार्य सोमदेव द्वारा वर्णित राज्य की परिभाषा में भी उच्च आदर्शों का समावेश है। राजा के पृथ्वी पालनोचित कर्म को वे राज्य कहते हैं (५, ४)। वह पृथ्वी वर्णाश्रम से युक्त तथा धान्य, स्वर्णादि से विभूषित होनी चाहिए तभी वह राज्य कही जा सकती है (५, ५)। यदि उस में यह विशेषताएँ नही हैं तो वह राज्य का अग नही बन सकती। इस प्रकार राज्य की यह परिभाषा राजशास्त्र के क्षेत्र में अद्वितीय है। इस मे प्राचीन एव आधुनिक विद्वानो द्वारा बताये गये राज्य के तत्त्वों का पूर्ण समावेश है। सोमदेव से पूर्व किसी भी राजशास्त्र प्रणेता ने राज्य को इस प्रकार वैज्ञानिक रूप से परिभाषित नही किया। अत यह परिभाषा राज्य शास्त्र के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान रखती है और इसे आचार्य सोमदेव की महान् देन कही जा सकती है।

आचार्य सोमदेव ने धर्म और राजनीति का अपूर्व समन्वय किया है। सम्पूर्ण नीतिवाक्यामृत मे धर्म साधना एव नैतिक तत्त्वो को प्रमुखता देकर राजनीति को धर्मनीति से पृथक् नही किया है। नीतिवाक्यामृत राजनीति का आदर्श ग्रन्थ है। आचार्य सोमदेव प्रत्येक क्षेत्र में आध्यात्मिक दृष्टिकोण आवश्यक समझते हैं। राजा के लिए भी अध्यात्म विद्या के ज्ञान का आदेश देते हैं (६, २)। राजनीति जैसे ऐहिक

कलुषित विषय को सौम्य एवं सात्त्विक रूप देकर आचार्य सोमदेव ने राजदर्शन के क्षेत्र में अपूर्व योगदान दिया है।

सोमदेव ने युद्ध क्षेत्र में भी धार्मिक नियमों की उपेक्षा नहीं की है। वे कूट-युद्ध की अपेक्षा धर्मयुद्ध को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं और धर्मविजयी राजा की प्रशंसा करते हैं (३०, ७०)। उन्होंने षाड्गुण्य नीति तथा साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों का भी सारगर्भित वर्णन किया है (षाड्गुण्य समु०)। वे युद्ध को तभी आवश्यक समझते हैं जब अन्य उपायों से कोई परिणाम न निकले (३०, ४ तथा २५)। आचार्य शक्तिशाली राष्ट्र से युद्ध न कर सन्धि करने का ही आदेश देते हैं और दुर्बल का शक्तिशाली के साथ युद्ध करना मनुष्य का पर्वत से टकराने के समान बतलाते हैं (३०,२४)। युद्ध में मारे गये सैनिकों के परिवार का हर प्रकार से पालन-पोषण करना राजा का धर्म बतलाते हैं (३०, ९३)। युद्ध एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में आचार्य सोमदेव के विचार बहुत ही उपयोगी एव राजनीतिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार्य सोमदेव ने एक समृद्ध राष्ट्र की कल्पना को अपनी दृष्टि का आदर्श बनाया है। 'राष्ट्र' शब्द की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि जो पशु, धान्य, हिरण्य सम्पत्ति से सुशोभित हो वह राष्ट्र है (१९, १)। राष्ट्र की सम्पन्नता के विविध उपायो एव साधनो पर उन्होंने पूर्ण प्रकाश डाला है। वार्ता की उन्नति में ही राजा की समस्त उन्नति निहित है ऐसा उन का विचार है (८, २)। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन एव व्यापार तथा वाणिज्य आते हैं। इन क्षेत्रो में किस प्रकार विकास हो सकता है इस विषय पर उन्होंने उपयोगी विचार व्यक्त किये है (८, ११-१५, १७, २०)। जैनाचार्य होते हुए भी उन्होंने अर्थ के महत्त्व को अपनी दृष्टि से ओझल नही होने दिया है। उन्होंने धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों का ही समरूप से सेवन करने का आदेश दिया है (३, ३)। आचार्य तीनों पुरुषार्थों में अर्थ को सब से अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि यही अन्य पुरुषार्थों का आधार है (३, १६)। उन्होंने काम पुरुषार्थ को भी धर्म से कम महत्त्व नही दिया है। इस प्रकार के विचार व्यक्त कर के सोमदेव ने महान् दूरदर्शिता एव व्यावहारिक राज-नीतिज्ञता का परिचय दिया है। उन के द्वारा वर्णित अर्थ की परिभाषा बडी महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित है। वे लिखते हैं कि जिस से सब प्रयोजनो की सिद्धि हो सके वह अर्थ है (२, १)। वास्तव में उन का कथन सत्य ही है, क्योंकि विश्व में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो धन से पूर्ण न हो सके। अर्थ व्यक्ति की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। सोमदेव का कथन है कि बुद्धिमान् व्यक्ति एव राजा का यह कर्तव्य है कि वह अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा तथा रक्षित की वृद्धि करे (२, ३)। उस को अपनी आय के अनुकूल ही व्यय करना चाहिए (२६, ४४)। जो इस नियम का पालन नही करता वह धन कुबेर भी दरिद्र हो जाता है (१६, १८)। आचार्य कोश को ही राज्य का प्राण कहते हैं (२१, ७)। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने भी कहा है।

आचार्य ने कोश वृद्धि के विविध उपायों का भी वर्णन किया है और श्रेष्ठ कोश के गुणों की भी व्याख्या की है (कोश समु०) ।

यद्यपि सोमदेव कोश को बहुत महत्त्व देते हैं, किन्तु उस की वृद्धि में वे न्यायोचित साधनों का ही प्रयोग करने का आदेश देते हैं। उन का स्पष्ट विचार है कि जो राजा अथवा वैद्य अर्थ के लोभ से प्रजावर्ग में दोष खोजता है वह कुत्सित है (९, ४)। अन्यत्र वे लिखते है कि अन्याय से तृणशलाका का ग्रहण करना भी प्रजा को भेदित करता है (१६, २५)। प्रजा की पीड़ा से कोश पीडित होता है, क्योंकि पीडित प्रजा राजा के देश का त्याग कर के अन्यत्र बस जाती है। इस के परिणाम-स्वरूप राजकोश में अर्थ का प्रवेश नही होता (१९, १७)। अत राजा को देश और काल के अनुरूप ही प्रजा से कर ग्रहण करना चाहिए (२६, ४२)। आचार्य सोमदेव ने अर्थशुचिता पर विशेष बल दिया है।

सोमदेव ने राजनीति और लोकनीति का भी समन्वय किया है। वे समाज की उन्नति में ही राष्ट्र की उन्नति मानते हैं जो कि वास्तव मे सत्य है। मानव-जीवन को सफल एव समुन्नत बनाने के लिए जिन बातो की अपेक्षा होती है वे सभी इस लघु ग्रन्थ में उपलब्ध होती हैं। यह ग्रन्थ केवल राजनीति की दृष्टि से ही उपयोगी नही है, अपितु लोक-व्यवहार की दृष्टि से भी इस का विशेष महत्त्व है। इस राजनीति प्रधान ग्रन्थ में सोमदेव ने समाजव्यवस्था के अंगो पर भी प्रकाश डाला है। आचार्य कौटिल्य की भाँति वे भी वर्णाश्रम व्यवस्था मे पूर्ण आस्था रखते हैं, किन्तु इस क्षेत्र में प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा वे उदार एव प्रगतिशील हैं। उन्होंने इस व्यवस्था के उपयोगी अंगों को ही स्वीकार किया है और रूढिवादिता का सर्वत्र खण्डन किया है। सोमदेव शूद्र को भी समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं तथा ज्ञान का मार्ग सूर्य-दर्शन के समान सब के लिए खुला रखने का आदेश देते हैं (७, १४)।

नीतिवाक्यामृत में लोकोपयोगी व्यवहार पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है। ससार के लौकिक व्यवहार में भ्रान्त, आर्त प्राणियो के लिए इस ग्रन्थ में सत्परामर्श प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के लोकोपयोगी सूत्र मानव के लिए उत्तम पथ-प्रदर्शन करने वाले हैं। आचार्य सोमदेव ने लोकजीवन में सहायक होने वाले महोपयोगी सूत्रों की रचना की है। उन के कुछ सूत्र उदाहरणस्वरूप यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

१ सर्वदा याचना करने वाले से कौन नही घबराता (१, १९)।
२. समय से संचय किया गया परमाणु भी सुमेरु बन जाता है (१, २८)।
३ उद्यमहीन के मनोरथ स्वप्न में प्राप्त हुए राज्य के समान होते है (१, ३२)।
४. अग्नि के समान दुर्जन अपने आश्रय को ही नष्ट कर देता है (१, ४०)।
५ जिस की स्त्रियों में अधिक आसक्ति है उस को धन, धर्म और शरीर कुछ भी नही (३, १२)।
६. जिस ने शास्त्र न पढ़े वह व्यक्ति नेत्रो के होते हुए भी अन्धा है (५, ३५)।

७. जो उत्पन्न हुआ वश को पवित्र करता है वह पुत्र है (५, ११)।

८. अपराधियों के प्रति क्षमा धारण करना साधुओं का भूषण है, राजाओं का का नही (६, ३७)।

९ सुगन्धिरहित भी धागा क्या सुमनो के सयोग से देवता के शीश पर नही चढ़ता (१०, २)।

१०. महापुरुषो से प्रतिष्ठित पत्थर भी देवता बन जाता है, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या (१०, ३)।

११. विष भक्षण के समान दुराचरण समस्त गुणो को नष्ट कर देता है (१०, ७)।

१२. वह महान् है जो विपत्ति में धैर्य धारण करता है (१०, १३३)।

१३. किसी भी अपने अनुकूल को प्रतिकूल न बनाये (१०, १४६)।

१४ वाणी की कटुता शस्त्रपात से भी बढ़ कर है (१६, २७)।

१५ बिना विचारे कोई भी कार्य नही करना चाहिए (१५, १)।

१६ कौन धनहीन लघु नही हो जाता (१७, ५५)।

१७ शत्रु के भी घर आने पर आदर करना चाहिए, महापुरुष के आने पर तो कहना ही क्या (२७, २६)।

१८ वही तीर्थ हैं जिन मे अधर्म का आचरण नही होता है (२७, ५२)।

१९. उस पुरुष को धिक्कार है जिस में आत्मशक्ति के अनुसार कोप और प्रसन्नता नही (६, ३८)।

२० खल की मैत्री अन्त में विपत्तिदायक होती है (६, ४४)।

२१. अप्रिय औषधि भी पी ली जाती है (८, २५)।

२२ सर्प से काटी हुई अपनी अगुली भी काट दी जाती है (८, २६)।

२३ वह पुत्र क्या कुलीन है जो माता-पिता पर शूरता प्रकट करता है (११, २१)।

२४ पिता के समान गुरु की सेवा करनी चाहिए (११, २४)।

२५ मनुष्यो का वैभव वह है जो दूसरो का उपभोग्य होता है (११, ५२)।

२६, उपकार कर के प्रकट करना वैर करने के समान है (११, ४७)।

२७ वह मनुष्य विचारज्ञ है जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध को भी अच्छी तरह परीक्षा कर के अनुष्ठान करता है (१५, ६)।

२८. कुशल बुद्धिवाले पुरुषों को प्राणो के कठगत आ जाने पर भी अशुभ कर्म नही करना चाहिए (१८, ३७)।

२९ माता-पिता का मन से भी अपमान करने से अभिमुख लक्ष्मी भी विमुख हो जाती है (२४, ७६)।

३० बल के अतिक्रम से व्यायाम किस आपत्ति को उत्पन्न नही करता (२५, १८)।

३१. अव्यायामशीलों में अग्निदीपन, उत्साह और शरीर गठन कहाँ से आ सकता है (२५, १९)।

३२ बिना भूख के खाया हुआ अमृत भी विष हो जाता है (२५, ३०)।

३३. आर्त सभी धर्म बुद्धि वाले हो जाते हैं (२६, ५)।

३४ वह मनुष्य नीरोग है जो स्वय धर्म के लिए चेष्टा करता है (२६, ६)।

३५ भय स्थानों पर विषाद करना उचित नही अपितु धैर्य का अवलम्बन अपेक्षित है (२६, १०)।

३६ उस को लक्ष्मी अभिमुखी नही होती जो प्राप्त हुए धन से सन्तुष्ट हो जाता है (२६, १५)।

३७ वह सर्वदा दु खी रहता है जो मूलधन की वृद्धि न कर के व्यय करता है (२६, २०)।

३८ सर्वत्र सन्देह करने वाले को कार्य सिद्धि नही होती (२६, ५१)।

३९ वह जाति से अन्धा है जो परलोक की चिन्ता नहीं करता (२६, ५६)।

४० स्वय गुणरहित वस्तु पक्षपात से गुण वाली नही हो जाती (२८, ४७)।

४१ नायकहीन अथवा बहुत नायको वाली सभा में कभी प्रवेश न करे (२९, ९०)।

४२ विश्वासघात से बढकर कोई पाप नही है (३०, ८३)।

४३ गृहणी को घर कहते है, दीवार और चटाइयो के समूह को नही (३९, ३१)।

४४ तृण से भी व्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध होता है, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या (३२, २८)।

४५ अतिपरिचय किसी की अवज्ञा नही करता (३२, ४३)।

४६ अप्राप्त अर्थ में सभी त्यागी हो जाते है (३२, ७१)।

४७ पुण्यशील पुरुष को कहो भी आपत्ति नही (३२, ३८)।

४८ देव के अनुकूल होने पर भी उद्यमरहित व्यक्ति का भद्र नही (२९,९)।

४९ वही तीर्थयात्रा है जिस में अकृत्य से निवृत्ति हो (२७, ५३)।

५० दरिद्रता से बढकर मनुष्य के लिए कोई अन्य लाछन नही है जिस के साथ समस्त गुण निष्फल हो जाते हैं (२७, ४५)।

५१ वह बुरा देश है जहाँ अपनी वृत्ति नही (२७, ८)।

५२ वह कुत्सित बन्धु है जो सकट में सहायता नहीं करता (२७, ९)।

५३ तीन पाप तत्काल फल देते हैं—स्वामी द्रोह, स्त्रीवध और बालवध (२७, ६५)।

५४. अपात्रों में धन का व्यय राख मे हवन के समान है (१, ११)।

५५. नित्य धन के व्यय से सुमेरु भी क्षीण हो जाता है (८, ५)।
५६. अविवेक से बढ़कर प्राणियों का अन्य शत्रु नही (१०, ४५)।
५७. वह विद्या विद्वानों के लिए कामधेनु के समान है जिस से सम्पूर्ण जगत् की स्थिति का ज्ञान होता है (१७, ५९)।
५८. धातुओं का सम रहना विष को भी पथ्य बना देता है (२५, ५१)।
५९. आत्म-रक्षा में कभी भी प्रमाद न करे (२५, ७२)।
६०. आशा किस पुरुष को क्लेश में नही डालती (२६, ६१)।

इस प्रकार के अनेक उपयोगी सूत्रों से नीतिवाक्यामृत का प्रत्येक समुद्देश परिपूर्ण है। उस के ये उपयोगी सूत्र मानव जीवन को सफल एव समुन्नत बनाने के लिए बहुत उपयोगी हैं।

नीतिवाक्यामृत में केवल राजनीति का ही वर्णन नही मिलता, अपितु, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान एव दर्शनशास्त्र का भी उपयोगी वर्णन इस में उपलब्ध होता है। एक ही ग्रन्थ में विविध शास्त्रो के उपयोगी अशो की व्याख्या आचार्य सोमदेव की महान् विद्वत्ता एव व्यावहारिक राजनीतिज्ञता की द्योतक है। आज के युग में राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान में भी इस ग्रन्थ से बडी सहायता मिल सकती है। ससार में वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर भौतिक जड़वाद की प्रधानता है। अत अर्थ-लोलुप भोगप्रधान समाज की रचना इस वैज्ञानिक युग का अभिशाप है। समाज को इस भौतिक जडवाद से मुक्ति दिलाने के लिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण को विकसित करना आज के युग की प्रमुख आवश्यकता है। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत वर्तमान युग की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपूर्व ग्रन्थ है। व्यक्ति और समाज मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण का उन्मेष कर के ही देश मे स्थायी शान्ति स्थापित की जा सकती है। हमारे राष्ट्र के प्रयत्न हमारी भौतिक समृद्धि के लिए उत्तरोत्तर वृद्धि पर रहें, किन्तु हमारा आध्यात्मिक लक्ष्य विलुप्त नही होना चाहिए। आध्यामिकता ही भारतीय सस्कृति का प्राण है। समाज के आध्यात्मिक पक्ष को ग्रहण कर लोक साधना प्रतिपादक ग्रन्थ अमर साहित्य में समादृत होते हैं। नीतिवाक्यामृत भी राजनीति के क्षेत्र में आध्यात्मिक लक्ष्य की जागृति के कारण भारतीय राजनीति प्रधान साहित्य की अमर कृति है।

●

आचार्य सोमदेव सूरि कृत
नीतिवाक्यामृत का मूल सूत्र-पाठ

१ धर्मसमुद्देशः

मंगलाचरणम्

सोम सोमसमाकार सोमाभ सोमसंभवम् ।
सोमदेव मुनि नत्वा नीतिवाक्यामृत ब्रुवे ॥१॥

धर्मार्थकामफलाय राज्याय नम ।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म ॥१॥
अधर्म पुनरेतद्विपरीतफलः ॥२॥
आत्मवत् परत्र कुशलवृत्तिचिन्तन शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपाया ॥३॥
सर्वसत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणाना परम चरणम् ॥४॥
न खलु भूतद्रुहा कापि क्रिया प्रसूते श्रेयासि ॥५॥
परत्राजिघासुमनसा व्रतरिक्तमपि चित्त स्वर्गाय जायते ॥६॥
स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥७॥
स खल्वर्थी परिपन्थी य परस्य दौःस्थित्य जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ॥८॥
तद्व्रतमाचरितव्य यत्र न सशयतुलामारोहत. शरीरमनसी ॥९॥
ऐहिकामुत्रिकफलार्थमर्थव्ययस्त्याग ॥१०॥
भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्यय ॥११॥
पात्र च त्रिविधं धर्मपात्र कार्यपात्र कामपात्र चेति ॥१२॥
एवं कीर्तिपात्रमपीति केचित् ॥१३॥
किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न बिभर्ति प्रतिरुणद्धि वाधर्मं भागीरथी-श्री-पर्वतवद्भावानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारण न पुनस्त्याग यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ॥१४॥

स खलु कस्यापि माभूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम् ॥१५॥
अर्थिषु संविभाग. स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले, नास्त्यौचित्यमेकान्त-लुब्धस्य ॥१६॥
दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि संतोषोत्पादनमौचित्यम् ॥१७॥
स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥१८॥
अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तराय. ॥१९॥
सदैव दुःस्थिताना को नाम बन्धुः ॥२०॥
नित्यमर्थयमानात् को नाम नोद्विजते ॥२१॥
इन्द्रियमनसो नियमानुष्ठान तपः ॥२२॥
विहिताचरण निषिद्धपरिवर्जन च नियम ॥२३॥
विधिनिषेधावैतिह्यायत्तौ ॥२४॥
तत्खलु सद्भि श्रद्धेयमैतिह्य यत्र न प्रमाणबाधा पूर्वापरविरोधो वा ॥२५॥
हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम् ॥२६॥
दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञान स्वयमनाचरत ॥२७॥
सुलभ खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोक. ॥२८॥
प्रत्यह किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्य महीयासः परे लोका ॥२९॥
कालेन सचीयमान परमाणुरपि जायते मेरु ॥३०॥
धर्मश्रुतधनाना प्रतिदिन लवोऽपि सगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिक ॥३१॥
धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवञ्चन भवति ॥३२॥
कस्य नामैकदैव संपद्यते पुण्यराशिः ॥३३॥
अनाचरतो मनोरथा स्वप्नराज्यसमाः ॥३४॥
धर्मफलमनुभवतोऽप्यधर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥३५॥
क सुधी भेषजमिवात्महित धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ॥३६॥
धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं लोकस्य ॥३७॥
अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्याय पुरश्चारी वा ॥३८॥
कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभ कर्म समाचरणीय कुशलमतिभिः ॥३९॥
स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तय क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥४०॥
खलसगेन कि नाम न भवत्यनिष्टम् ॥४१॥
अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जना ॥४२॥
वनगज इव तदात्मसुखलुब्ध को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ॥४३॥
धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति स्वय तु पर पापस्य भाजन सिंह इव सिन्धुरवधात् ॥४४॥
बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्या किमपि शुभम् ॥४५॥

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृषति ॥४६॥
स खलु सुधीर्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥४७॥
इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्र चानवधिर्दुःखानुबन्धः ॥४८॥
सुखदुःखादिभि प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिङ्गम् ॥४९॥
किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठातुः ॥५०॥

२. अर्थसमुद्देशः

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थ ॥१॥
सोऽर्थस्य भाजन योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ॥२॥
अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षण रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥३॥
तीर्थमर्थेनासभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ॥४॥
धर्मसमवायिन कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ॥५॥
तादात्विक-मूलहर-कदर्येषु नासुलभ प्रत्यवाय ॥६॥
य किमप्यसचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विक ॥७॥
यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहर ॥८॥
यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं सचिनोति स कदर्य ॥९॥
तादात्विकमूलहरयोरायत्या नास्ति कल्याणम् ॥१०॥
कदर्यस्यार्थसग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधि ॥११॥

३. कामसमुद्देश

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीति स काम ॥१॥
धर्मार्थाविरोधेन काम सेवेत ततः सुखी स्यात् ॥२॥
सम वा त्रिवर्गं सेवेत ॥३॥
एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ॥४॥
परार्थभारवाहिन इवात्मसुख निरुन्धानस्य धनोपार्जनम् ॥५॥
इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः ॥६॥
नाजितेन्द्रियाणा कापि कार्यसिद्धिरस्ति ॥७॥
इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजय ॥८॥
अर्थशास्त्राध्ययन वा ॥९॥
कारणे कार्योपचारात् ॥१०॥
योऽनङ्गेनापि जीयते स कथं पुष्टाङ्गानरातीन् जयेत ॥११॥
कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥१२॥

न तस्य धनं धर्मः शरीर वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ॥१३॥
विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति ॥१४॥
धर्मार्थकामाना युगपत् समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ॥१५॥
कालासहत्वे पुनरर्थ एव ॥१६॥
धर्मकामयोरर्थमूलत्वात् ॥१७॥

४. अथ अरिषड्वर्ग-समुद्देशः

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध लोभ-मद-मान-हर्षा क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गाः ॥१॥
परपरिगृहीतास्वनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः काम ॥२॥
अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतुः क्रोधः ॥३॥
दानार्हेषु स्वधनाप्रदान परधनग्रहण वा लोभः ॥४॥
दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहण वा मान' ॥५॥
कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहकारकरण परप्रकर्षनिबन्धन वा मदः ॥६॥
निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसचयेन वा मनःप्रतिरञ्जनो हर्षं ॥७॥

५. अथ विद्यावृद्धसमुद्देशः

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रियमस्थान स राजा ॥१॥
राज्ञो हि दुष्टनिग्रह शिष्टपरिपालन च धर्मं ॥२॥
न पुन शिरोमुण्डन जटाधारणादिकम् ॥३॥
राज्ञः पृथ्वीपालनोचित कर्म राज्यम् ॥४॥
वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदामफला च पृथ्वी ॥५॥
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णा ॥६॥
ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ॥७॥
स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥८॥
स्नान विवाहदीक्षाभिषेकः ॥९॥
स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म ॥१०॥
य उत्पन्न पुनीते वश स पुत्र' ॥११॥
कृतोद्वाहः ऋतुप्रदाता क्रतुपदः ॥१२॥
अपुत्रः ब्रह्मचारी पितॄणामृणभाजनम् ॥१३॥
अनध्ययनो ब्रह्मण ॥१४॥

अयजनो देवानाम् ॥१५॥
अहन्तकरो मनुष्याणाम् ॥१६॥
आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ॥१७॥
अयमात्मानमात्मनि संदधान. परा पूतता संपद्यते ॥१८॥
नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥१९॥
ब्रह्मदेवपित्रतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥२०॥
दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥२१॥
वैवाहिक' शालीनो आयावरोऽघोरो गृहस्था. ॥२२॥
यः खलु यथाविधि जानपदमाहार ससारव्यवहार च परित्यज्य
सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थ ॥२३॥
बालखिल्य-औदम्बरी-वैश्वानराः सद्य प्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्था. ॥२४॥
यो देहमात्राराम सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते
यति ॥२५॥
कुटीचरवह्वोदकहसपरमहसा यतय ॥२६॥
राज्यस्य मूल क्रमो विक्रमश्च ॥२७॥
आचारसपत्ति क्रमसपत्ति करोति ॥२८॥
अनुत्सेक खलु विक्रमस्यालकार ॥२९॥
क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्कर' परिणाम. ॥३०॥
क्रमविक्रमयोरधिष्ठान बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ॥३१॥
'यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान् ॥३२॥
सिंहस्येव केवल पौरुषावलम्बिनो न चिर कुशलम् ॥३३॥
अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति विद्विषा वशः ॥३४॥
अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्र तृतीय लोचन पुरुषाणाम् ॥३५॥
अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥३६॥
न ह्यज्ञानादपर पशुरस्ति ॥३७॥
वरमराजक भुवन न तु मूर्खो राजा ॥३८॥
असंस्कार रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्र न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥३९॥
न दुर्विनोताद्राज्ञ प्रजाना विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः ॥४०॥
यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीत' ॥४१॥
यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा सक्रामन्ति तद्द्रव्यम् ॥४२॥
यतो द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपि कश्चित् पुरुषः सकीर्णगजवत् ॥४३॥
द्रव्य हि क्रिया विनयति नाद्रव्यम् ॥४४॥
शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारणाविज्ञानोहापोह-तत्त्वाभिनिवेशा.बुद्धिगुणाः ॥४५॥
श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ॥४६॥

श्रवणमाकर्णनम् ॥४७॥
ग्रहणं शास्त्रार्थोपादान ॥४८॥
धारणमविस्मरणम् ॥४९॥
मोहसंदेहविपर्यासव्युदासेन ज्ञान विज्ञानम् ॥५०॥
विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः ॥५१॥
उक्तियुक्तिभ्या विरुद्धादर्थात् प्रत्यवायसंभावनया व्यावर्तनमपोह. ॥५२॥
अथवा ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥५३॥
विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्त्वाभिनिवेश ॥५४॥
याः समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहित चापोहति ता विद्या. ॥५५॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्या ॥५६॥
अधीयानो ह्यान्वीक्षिकी कार्याकार्याणा बलाबल हेतुभिर्विचारयति व्यसनेषु न विषीदति नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम् ॥५७॥
त्रयी पठन् वर्णाश्रमाचारेष्वतीव प्रगल्भते जानाति च समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥५८॥
युक्तितः प्रवर्तयन् वार्ता सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वय सर्वानपि कामान् ॥५९॥
यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफला विभूतयः ॥६०॥
साख्य योगो लाकायतिक चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वम्) इति नेत्यानि मतानि ॥६१॥
प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्त्वमवलम्बते रज फल चापल च परिहरति तमोभिर्नाभिभूयते ॥६२॥
आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीति शिष्टपालनदुष्टनिग्रहः ॥६३॥
चेतयते च विद्यावृद्धसेवायाम् ॥६४॥
अजातविद्यावृद्धसयोगो हि राजा निरङ्कुशो गज इव सद्यो विनश्यति ॥६५॥
अनधीयानोऽपि विशिष्टजनससर्गात् परा व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥६६॥
अन्यैव काचित् खलु छायोपजलतरूणाम् ॥६७॥
वशावृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्याया ॥६८॥
शिष्टाना नीचैराचरन्नरपतिरिह लोके स्वर्गे च महीयते ॥६९॥
राजा हि परम दैवत नासौ कस्मैचित् प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्य. ॥७०॥
वरमज्ञान नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥७१॥
अल तेनामृतेन यत्रास्ति विषससर्गः ॥७२॥
गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्या. ॥७३॥

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ।।७४।।
अन्ध इव वरं परप्रणेयो राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः ।।७५।।
नीलीरक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरमाधत्ते ।।७६।।
यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणप्रद्वेषी ।।७७।।
वरमात्मनो मरणं नाहितोपदेश. स्वामिषु ।।७८।।

६. अथ आन्वीक्षिकीसमुद्देशः

आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोग' ।।१।।
अध्यात्मज्ञो हि राजा सहजशारीरमानसागन्तुभिर्दोषैर्न बाध्यते ।।२।।
इन्द्रियाणि मनोविषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्माराम' ।।३।।
यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्ययः स आत्मा ।।४।।
असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ।।५।।
यत: स्मृति प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालापाक्रियाग्रहणं च
भवति तन्मन. ।।६।।
आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ।।७।।
शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा हि विषया ।।८।।
समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसंनिकृष्टावबोधो ज्ञानम् ।।९।।
सुखं प्रीति ।।१०।।
तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिवृत्तिः ।।११।।
अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ।।१२।।
क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यास ।।१३।।
प्रश्रयसत्कारादिलाभेनात्मनो यदुत्कृष्टत्वसंभावनमभिमानः ।।१४।।
अतद्गुणे वस्तुनि तदगुणत्वेनाभिनिवेश' संप्रत्यय ।।१५।।
इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषय. ।।१६।।
दु'खमप्रीतिः ।।१७।।
तद्दु खमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः ।।१८।।
दु:खं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरङ्गं चेति ।।१९।।
सहजं क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति ।।२०।।
दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसंभूतम् ।।२१।।
आगन्तुकं वर्षातपादिजनितम् ।।२२।।
यच्चिन्त्यते दरिद्रैर्न्यक्कारजम् ।।२३।।
न्यक्कारावशेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ।।२४।।
न तस्यैहिकमामुष्मिकं च फलमस्ति य. क्लेशायासाभ्यां भवति

विप्लवप्रकृति ॥२५॥
स किंपुरुषो यस्य महाभियागे सुवशधनुष इव नाधिक जायते बलम् ॥२६॥
आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा ॥२७॥
आत्मनः प्रत्यवायेभ्य' प्रत्यावर्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा ॥२८॥
हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुरुत्साह' ॥२९॥
प्रयत्न परनिमित्तको भाव ॥३०॥
सातिशयलाभ. सस्कारः ॥३१॥
अनेककर्माभ्यासवासनावशात् सद्योजातादोना स्तन्यपिपासादिक
येन क्रियत इति सस्कार ॥३२॥
भोगायतन शरीरम् ॥३३॥
ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥३४॥
लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥३५॥
न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥३६॥
एकान्तेन कारुण्यपर करतलगतमप्यर्थं रक्षितु न क्षम. ॥३७॥
प्रशमैकचित्त को नाम न परिभवन्ति ॥३८॥
अपराधकारिषु प्रशमो यतीना भूषण न महीपतीनाम् ॥३९॥
धिक् त पुरुष यस्यात्मशक्त्या न स्त कोपप्रसादौ ॥४०॥
स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥४१॥
भस्मनीव निस्तेजसि को नाम निःशङ्कः पद न कुर्यात् ॥४२॥
तत् पापमपि न पाप यत्र महान् धर्मानुबन्धः ॥४३॥
अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम् ॥४४॥
बन्धनान्तो नियोगः ॥४५॥
विपदन्ता खलमैत्री ॥४६॥
मरणान्त स्त्रीषु विश्वासः ॥४७॥

७ त्रयोसमुद्देशः

चत्वारो वेदाः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गानीति-
हासपुराणमीमासान्यायधर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥१॥
त्रयीत' खलु वर्णाश्रमाणा धर्माधर्मव्यवस्था ॥२॥
स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ॥३॥
धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसग्रहाद्वेदा एव ॥४॥
अध्ययन यजन दान च विप्रक्षत्रियवैश्याना समानो धर्म ॥५॥
त्रयो वर्णाः द्विजातयः ॥६॥

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥७॥
भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरण रणेऽपलायन
चेति क्षत्रियाणाम् ॥८॥
वार्ता जीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापण
च विशाम् ॥९॥
त्रिवर्णोपजीवन कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणाम् ॥१०॥
सकृत् परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्रा ॥११॥
आचारानवद्यत्व शुचिरुपस्कार शारीरी च विशुद्धि करोति
शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥
आनृशस्यममृषाभाषित्व परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो-
निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषा समानो धर्म. ॥१३॥
आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियम ॥१४॥
निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीना स्वो धर्म. ॥१५॥
स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीना स्वागमोक्त प्रायश्चित्तम् ॥१६॥
यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देव प्रतिष्ठापयेत् ॥१७॥
अभक्त्या पूजोपचार सद्य शापाय ॥१८॥
वर्णाश्रमाणा स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धि ॥१९॥
स्वधर्मासकर प्रजाना राजानं त्रिवर्गेणोपसधत्ते ॥२०॥
स किंराजा यो न रक्षति प्रजा ॥२१॥
स्त्रधर्ममतिक्रामता सर्वेषा पार्थिवो गुरुः ॥२२॥
परिपालको हि राजा सर्वेषा धर्मषष्ठाशमवाप्नोति ॥२३॥
उञ्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजान संभावयन्ति ॥२४॥
तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति इति ॥२५॥
तदमङ्गलमपि नामङ्गल यत्रास्यात्मनो भक्ति ॥२६॥
सन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत् ॥२७॥
स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कचन स्पृशेत् ॥२८॥
देवागारे गत सर्वान् यतीनात्मसबन्धिनीर्जरती पश्येत् ॥२९॥
देवाकारोपेत पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्य. राजशासनस्य मृत्ति-
कायामिव लिङ्गिषु को नाम विचारो यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव
क्षीर धेनूना न खलु परेषामाचार स्वस्य पुण्यमारभते कि तु मनो-
विशुद्धिः ॥३०॥
दानादिप्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम् ॥३१॥
बलात्कारस्वभाव क्षत्रियाणाम् ॥३२॥
निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम् ॥३३॥

ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषीबलानाम् ।।३४।।
दानावसान. कोपो ब्राह्मणानाम् ।।३५।।
प्रणामावसान कोपो गुरूणाम् ।।३६।।
प्राणावसानः कोप क्षत्रियाणाम् ।।३७।।
प्रियवचनावसान. कोपो वणिग्जनानाम् ।।३८।।
वैश्याना समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशम ।।३९।।
निश्चलै परिचितैश्च सह व्यवहारो वणिजा निधि ।।४०।।
दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम् ।।४१।।

८ वार्तासमुद्देश.

कृषि पशुपालन वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम् ।।१।।
वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञ ।।२।।
तस्य खलु ससारसुख यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपान च ।।३।।
विसाध्यराज्ञस्तन्त्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षय ।।४।।
नित्य हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ।।५।।
तत्र सदैव दुर्भिक्ष यत्र राजा विसाधयति ।।६।।
समुद्रस्य पिपासाया कुतो जगति जलानि ।।७।।
स्वय जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासाप्रतिकारात् पाप च ।।८।।
वृद्धबाल-व्याधितक्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत् ।।९।।
अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ।।१०।।
शुल्कवृद्धिर्बलात् पण्यग्रहण च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतु ।।११।।
काष्ठपात्र्यामेकदैव पदार्थो रध्यते ।।१२।।
तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ।।१३।।
वणिग्जनकृतोऽर्थः स्थितानागन्तुकांश्च पीडयति ।।१४।।
देशकालभाण्डापेक्षया वा सर्वार्घो भवेत् ।।१ ।।
पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ।।१६।।
न वणिग्भ्य सन्ति परे पश्यतोहरा ।।१७।।
स्पर्द्धया मूलवृद्धिर्भाण्डेषु राज्ञो यथोचित मूल्य विक्रेतु ।।१८।।
अल्पद्रव्येण महाभाण्ड गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भाण्ड राज्ञः ।।१९।।
अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ।।२०।।
चोरचरटमन्नपधमनराजवल्लभाटविकतलाराक्षशालिकनियोगिग्राम-कूटवार्द्धुषिका हि राष्ट्रस्य कण्टका. ।।२१।।

प्रतापवति राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः ॥२२॥
अन्यायवृद्धितो वार्द्धुषिकास्तन्त्रं देशं च नाशयन्ति ॥२३॥
कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुषिकानाम् ॥२४॥
अप्रियमप्यौषधं पीयते ॥२५॥
अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि छिद्यते ॥२६॥

९. दण्डनीतिसमुद्देशः

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥१॥
यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः ॥२॥
प्रजापालनाय राज्ञा दण्डः प्रणीयते न धनार्थम् ॥३॥
स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ॥४॥
दण्ड द्यूत मृत विस्मृत चौर पारदारिक प्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ॥५॥
दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥६॥
अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति, बलीयानबलं ग्रसति इति मात्स्यन्यायः ॥७॥

१०. मन्त्रिसमुद्देशः

मन्त्रिपुरोहितसेनापतीनां यो युक्तमुक्तं करोति स आहार्यबुद्धिः ॥१॥
असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशिरसि ॥२॥
महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥३॥
तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्य-पदमवापेति ॥४॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभि-चारिणमधीताखिलव्यवहारतन्त्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मन्त्रिणं कुर्वीत ॥५॥
समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ॥६॥
विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ॥७॥
दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ॥८॥
सव्यसनसचिवो राजारूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः ॥९॥
किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ॥१०॥

मोच्येऽसंमतोऽपि हि सुलभो लोक' ॥११॥
किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥१२॥
किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मन्त्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्र न प्रभवति ॥१३॥
धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा ॥१४॥
अकुलीनेषु नास्त्यपवादाद्भयम् ॥१५॥
अलर्कविषवत् काल प्राप्य विकुर्वते विजातय' ॥१६॥
तदमृतस्य विषत्वं य कुलीनेषु दोषसंभव' ॥१७॥
घटप्रदीपवत्तज्ज्ञान मन्त्रिणो यत्र न परप्रतिबोध ॥१८॥
तेषा शस्त्रमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषा प्रतिपक्षदर्शनाद्भयमन्वयन्ति चेतासि ॥१९॥
तच्छस्त्र शास्त्र वात्मपरिभवाय यन्न हन्ति परेषा प्रसरम् ॥२०॥
न हि गली बलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते ॥२१॥
मन्त्रपूर्वः सर्वोऽप्यारम्भ क्षितिपतीनाम् ॥२२॥
अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानमर्थस्य द्वैधस्य सशयच्छेदनमेकदेशलब्धस्याशेषोपलब्धिरिति मन्त्रसाध्यमेतत् ॥२३॥
अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितविशेष विनियोगसपद च ये कुर्युस्ते मन्त्रिणः ॥२४॥
कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकार कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो मन्त्रः ॥२५॥
आकाशे प्रतिशब्दवति चाश्रये मन्त्रं न कुर्यात् ॥२६॥
मुखविकारकराभिनयाभ्या प्रतिध्वानेन वा मन स्थमप्यर्थमभ्यूह्यन्ति विचक्षणा ॥२७॥
आ कार्यसिद्धे रक्षितव्यो मन्त्र' ॥२८॥
दिवा नक्तं वापरीक्ष्य मन्त्रयमाणस्याभिमत प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मन्त्रम् ॥२९॥
श्रूयते किल रजन्या वटवृक्षे प्रच्छन्नो वररुचि-र-प्र-शि-खेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षराद्यै पादै' श्लोकमेकं चकारेति ॥३०॥
न तै सह मन्त्र कुर्यात् येषा पक्षीयेष्वपकुर्यात् ॥३१॥
अनायुक्तो मन्त्रकाले न तिष्ठेत् ॥३२॥
तथा च श्रूयते शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेद' कृतः ॥३३॥
मन्त्रभेदादुत्पन्न व्यसन दुष्प्रतिविधेय स्यात् ॥३४॥
इङ्गितमाकारो मद प्रमादो निद्रा च मन्त्रभेदकारणानि ॥३५॥
इङ्गितमन्यथावृत्तिः ॥३६॥
कोपप्रसादजनिता शारीरी विकृतिराकारः ॥३७॥

पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥३८॥
प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥३९॥
अन्यथा चिकीर्षतोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥४०॥
निद्रान्तरितो [निद्रितः] ॥४१॥
उद्धृतमन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥४२॥
अननुष्ठाने छात्रवत् किं मन्त्रेण ॥४३॥
न ह्योषधिपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशम ॥४४॥
नास्त्यविवेकात् पर' प्राणिना शत्रुः ॥४५॥
आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषधमूल्यादिव व्याधिं चिकित्सति ॥४६॥
यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी ॥४७॥
स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते ॥४८॥
मन्त्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्तव्यः ॥४९॥
अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मन्त्रो लघुनोपायेन महत कार्यस्य सिद्धिर्मन्त्र-फलम् ॥५०॥
न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥५१॥
स मन्त्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाकार्यमपि कार्यरूपतयानुशास्ति ॥५२॥
वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ॥५३॥
पीयूषमपिबतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननम् ॥५४॥
मन्त्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्गं कुर्यु. ॥५५॥
राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मन्त्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥५६॥
स दैवस्यापराधो न मन्त्रिणा यत् सुघटितमपि कार्यं न घटते ॥५७॥
स खलु नो राजा यो मन्त्रिणोऽतिक्रम्य वर्तेत ॥५८॥
सुविवेचितान्मन्त्राद्भवत्येव कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न दुराग्रह' स्यात् ॥५९॥
अविक्रमतो राज्यं वणिक्खड्गयष्टिरिव ॥६०॥
नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ॥६१॥
हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ॥६२॥
अकालसह कार्यमद्यश्वीनं न कुर्यात् ॥६३॥
कालातिक्रमान्नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यम् ॥६४॥
को नाम सचेतनः सुखसाध्यं कार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ॥६५॥
एको मन्त्री न कर्तव्यः ॥६६॥
एको हि मन्त्री निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु ॥६७॥
द्वावपि मन्त्रिणौ न कार्यौ ॥६८॥
द्वौ मन्त्रिणौ संहतौ राज्यं विनाशयतः ॥६९॥

निगृहीतौ तौ तं विनाशयतः ॥७०॥
त्रयः पञ्च सप्त वा मन्त्रिणस्तैः कार्याः ॥७१॥
विषमपुरुषसमूहे दुर्लभमैकमत्यम् ॥७२॥
बहवो मन्त्रिण' परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति ॥७३॥
स्वच्छन्दाश्च न विजृम्भन्ते ॥७४॥
यद् बहुगुणमनपायबहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ॥७५॥
तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥७६॥
यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मन्त्रिणि न कोऽपि दोषः ॥७७॥
न हि महानप्यन्धसमुदायो रूपमुपलभेत ॥७८॥
अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किन्न महति भारे नियुज्येते ॥७९॥
बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः ॥८०॥
एको हि पुरुषः केषु नाम कार्येष्वात्मानं विभजते ॥८१॥
किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवति छाया ॥८२॥
कार्यकाले दुर्लभ पुरुषसमुदाय ॥८३॥
दीप्ते गृहे कीदृश कूपखननम् ॥८४॥
न धन पुरुषसंग्रहाद् बहु मन्तव्यम् ॥८५॥
सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेषूप्त कार्यं शतश' फलति ॥८६॥
बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषा' ॥८७॥
खादनवारायां को नाम न सहाय ॥८८॥
श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य न मन्त्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥८९॥
किं नामान्ध पश्येत् ॥९०॥
किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्ध समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥९१॥
तदन्धवर्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमन्त्रात् कार्यसिद्धिः ॥९२॥
स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मन्त्रपरिज्ञानम् ॥९३॥
अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥९४॥
स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति पुनराभिजात्यं पाण्डित्यं वा ॥९५॥
हरकण्ठलग्नोऽपि कालकूट' काल एव ॥९६॥
स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम् ॥९७॥
अकार्यवेदिन किं बहुना शास्त्रेण ॥९८॥
गुणहीनं धनु. पिञ्जनादपि कष्टम् ॥९९॥
चक्षुष इव मन्त्रिणोऽपि यथार्थदर्शनमेवात्मगौरवहेतुः ॥१००॥
शस्त्राधिकारिणो न मन्त्राधिकारिणः स्युः ॥१०१॥
क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भण्डनम् ॥१०२॥
शस्त्रोपजीविना कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥१०३॥

मन्त्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि पुरुषमुत्सेकयति किं पुनर्न समुदायः ॥१०४॥
नालम्पटोऽधिकारी ॥१०५॥
मन्त्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥१०६॥
वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्या परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥१०७॥
स्थाल्येव भक्तं चेत् स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्ति ॥१०८॥
तावत् सर्वोऽपि शुचिर्नि:स्पृहो यावन्न परवरस्त्रीदर्शनमर्थागमो वा ॥१०९॥
अदुष्टस्य हि दूषणं सुप्तव्यालप्रबोधनमिव ॥११०॥
येन सह चित्तविनाशोऽभूत्, स सन्निहितो न कर्तव्यः ॥१११॥
सकृद्विघटितं चेत स्फटिकवलयमिव कः सधातुमीश्वरः ॥११२॥
न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥११३॥
सूचीमुखसर्पवन्नानपकृत्य विरमन्त्यपराद्धा ॥११४॥
अतिवृद्ध कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥११५॥
श्रूयते हि किल कामपरवश प्रजापतिरात्मदुहितरि हरिर्गोपवधूषु, हरः शान्तनुकलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति ॥११६॥
अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषा किं पुनर्मनुष्याः ॥११७॥
कस्य न धनलाभाल्लोभ· प्रवर्तते ॥११८॥
स खलु प्रत्यक्षं देव यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेत ॥११९॥
समायव्ययः कार्यारम्भो राभसिकानाम् ॥१२०॥
बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥१२१॥
दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम् ॥१२२॥
मृगाः सन्तीति कि कृषिर्न क्रियते ॥१२३॥
अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते ॥१२४॥
स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति ॥१२५॥
आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम् ॥१२६॥
दुर्भीरुत्वमासन्नशूरत्व रिपौ प्रति महापुरुषाणाम् ॥१२७॥
जलवन्मार्दवोपेतः पृथूनपि भूभृतो भिनत्ति ॥१२८॥
प्रियवद शिखीव सदर्पानपि द्विषत्सर्पानुत्सादयति ॥१२९॥
नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥१३०॥
क्षीरवृक्षवत् फलसंपादकमेव महतामालापः ॥१३१॥

दुरारोहपादप इव दण्डाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः १३२॥
स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ॥१३३॥
उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीना प्रथमोऽन्तरायः ॥१३४॥
शरद्घना इव न खलु वृथालापा गलगर्जितं कुर्वन्ति सत्कुलजाताः ॥१३५॥
न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दर वा किन्तु यदेव यस्य प्रकृतितो भाति तदेव तस्य सुन्दरम् ॥१३६॥
न तथा कर्पूररेणुना प्रीतिः केतकीना वाययामेध्येन ॥१३७॥
अतिक्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते ॥१३८॥
सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञ ॥१३९॥
परस्पर मर्मकथनयात्मविक्रम एव ॥१४०॥
तदजाकृपाणीय यः परेषु विश्वास ॥१४१॥
क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति ॥१४२॥
स्वतन्त्र सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥१४३॥
अलस सर्वकर्मणामनधिकारी ॥१४४॥
प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषा वशः ॥१४५॥
कमप्यात्मनोऽनुकूल प्रतिकूल न कुर्यात् ॥१४६॥
प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः ॥१४७॥
आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकाना पक्षोत्थानमिव ॥१४८॥
कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्तेत ॥१४९॥
किन्नु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ॥१५०॥
नदीरयस्तरूणामङ्घ्रीन् क्षालयन्नप्युन्मूलयति ॥१५१॥
उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥१५२॥
नाल्प महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य ॥१५३॥
नदीपूर सममेवोन्मूलयति [तीरजतृणाङ्घ्रिमान्] ॥१५४॥
युक्तमुक्त वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥१५५॥
रवेरविषये किं न दीपः प्रकाशयति ॥१५६॥
अल्पमपि वातायनविवर बहूनुपलम्भयति ॥१५७॥
पतिवरा इव परार्था खलु वाचस्ताश्च निरर्थक प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्य जनयितारम् ॥१५८॥
तत्र युक्तमप्युक्तसम यो न विशेषज्ञ ॥१५९॥
स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति ॥१६०॥
विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धि ॥१६१॥
जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव ॥१६२॥
बहुदोषेषु क्षणदु खप्रदोऽपायोऽनुग्रह एव ॥१६३॥

स्वामिदोषस्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्ध-लुब्ध-भीतावमानिताः कृत्याः ॥१६४॥
अनुवृत्तिरभयं त्यागः सत्कृतिश्च कृत्यानां वशोपायाः ॥१६५॥
क्षयलोभविरागकारणानि प्रकृतीनां न कुर्यात् ॥१६६॥
सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥१६७॥
अचिकित्स्यदोषदुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु क्लेशयेत् ॥१६८॥
अपराध्यैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात् ॥१६९॥
ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत् सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥१७०॥
न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥१७१॥
क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव रोषविषमुत्सृजति ॥१७२॥
अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ॥१७३॥

११ पुरोहितसमुद्देशः

पुरोहितमुदितोदितकुलशील षडङ्गवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ॥१॥
राज्ञो हि मन्त्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विसूरयेद् दुःखयेद् दुर्विनयेद्वा ॥२॥
अमानुष्योऽग्निरवर्षं मरको दुर्भिक्षं सस्योपघातो जन्तूत्सर्गो व्याधिः, भूतपिशाच-शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषक-क्षोभश्चेत्यापदः ॥३॥
शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिषु प्रसंख्याने पदप्रमाणप्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु रत्नपरीक्षायां संभोगप्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः ॥४॥
अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता च गुरूपासनकारणानि ॥५॥
व्रतविद्यावयोऽधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥६॥
पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥७॥
अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव यद्यस्ति तज्ज्ञेभ्यः संप्रदायः ॥८॥
गुरुवचनमनुल्लङ्घनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्यवायेभ्यः ॥९॥
युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी ॥१०॥
गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चौषधम् ॥११॥
शत्रूणामभिमुखः पुरुषः श्लाघ्यो न पुनर्गुरूणाम् ॥१२॥
आराध्यं न प्रकोपयेद्यद्यसावाश्रितेषु कल्याणशंसी ॥१३॥
गुरुभिरुक्तं नातिक्रमितव्यं यदि नैहिकामुत्रिकफलविलोपः ॥१४॥
सन्दिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ॥१५॥

गुरूणां पुरतो न यथेष्टमासितव्यम् ॥१६॥
नानभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत् ॥१७॥
अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥१८॥
सहाध्यायिषु बुद्ध्यतिशयेन नाभिभूयेत ॥१९॥
प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत् ॥२०॥
स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥२१॥
अननुज्ञातो न क्वचिद् व्रजेत् ॥२२॥
मार्गमचल जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत् ॥२३॥
पितरमिव गुरुमुपचरेत् ॥२४॥
गुरुपत्नीं जननीमिव पश्येत् ॥२५॥
गुरुमिव गुरुपुत्र पश्येत् ॥२६॥
सब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत् ॥२७॥
ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वक दारकर्म चास्य ॥२८॥
समविद्यै सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ॥२९॥
गृहदौःस्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥३०॥
परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ॥३१॥
स खलु महान् यः स्वकार्येष्विव परकार्येषूत्सहते ॥३२॥
परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥३३॥
राजासन्नः को नाम न साधुः ॥३४॥
अर्थपरेष्वनुनय केवलं दैन्याय ॥३५॥
को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ॥३६॥
आश्रितेषु कार्यतो विशेषकारणेऽपि दर्शनप्रियालापनाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तन्त्र वर्धयति अनुरञ्जयति च ॥३७॥
तनुधनादर्थग्रहण मृतमारणमिव ॥३८॥
अप्रतिविधातरि कार्ये निवेदनमरण्यरुदितमिव ॥३९॥
दुराग्रहस्य हितोपदेशो बधिरस्याग्रतो गानमिव ॥४०॥
अकार्यज्ञस्य शिक्षणमन्धस्य पुरतो नर्तनमिव ॥४१॥
अविचारकस्य युक्तिकथन तुषकण्डनमिव ॥४२॥
नीचेषूपकृतमुदके विशीर्णं लवणमिव ॥४३॥
अविशेषज्ञे प्रयास शुष्कनदीतरणमिव ॥४४॥
परोक्षे किलोपकृत सुप्तसंवाहनमिव ॥४५॥
अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ॥४६॥
उपकृत्योद्घाटन वैरकरणमिव ॥४७॥
अफलवत प्रसादः काशकुसुमस्येव ॥४८॥

गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रहनिग्रहविधानं ग्रहाभिनिवेश इव ॥४९॥
उपकारापकारासमर्थस्य तोषरोषकरणमात्मविडम्बनमिव ॥५०॥
ग्राम्यस्त्रीविद्रावणकारि गलगर्जितं ग्रामशूराणाम् ॥५१॥
स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यो न तु यः स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव ॥५२॥
स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यसूययाऽभं बहुदोषं बहुषु वा दोषं प्रकाशयति न शिक्षयति च ॥५३॥
स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ॥५४॥

१२ सेनापतिसमुद्देशः

अभिजनाचारप्राज्ञानुरागशौचशौर्यसंपन्नः प्रभाववान् बहुबान्धवपरिवारो निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तवाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरिज्ञानस्थितिः सकलतन्त्रसामन्ताभिमतः सांग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो भर्तुरादेशाभ्युदयहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थप्रतिपत्तिः राजचिह्नैः संभावितः सर्वक्लेशायाससहः इति सेनापतिगुणाः ॥१॥
स्वैः परैश्च प्रधृष्यप्रकृतिरप्रभाववान् स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिताक्षयव्ययप्रवासोपहतत्वं तन्त्राप्रतीकारः सर्वैः सह विरोधः परपरीवादः परुषभाषित्वमनुचितज्ञतासंविभागित्वं स्वातन्त्र्यात्मसंभावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षः सहकारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्यालुत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥२॥
स चिरंजीवति राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः सर्वासु प्रकृतिषु ॥३॥

१३ दूतसमुद्देशः

अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मन्त्री ॥१॥
स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः ॥२॥
स त्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ॥३॥
यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निसृष्टार्थः यथा कृष्णः पाण्डवानाम् ॥४॥
अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥५॥
मत्स्वामिनासंधातुकामो रिपुर्मां विलम्बयितुमिच्छतीत्यननुज्ञातोऽपि

दूतोऽपसरेद् गूढपुरुषान्वावसर्पयेत् ॥६॥
परेणाशु प्रेषितो दूतः कारण विमृशेत् ॥७॥
कृत्योपग्रहोऽकृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमण्डलप्रविष्टगूढपुरुष-
परिज्ञानमन्तपालाटविककोशदेशतन्त्रमित्रावबोध कन्यारत्नवाहनविनि-
श्रावणं स्वाभीष्टपुरुषप्रयोगात् प्रकृतिक्षोभकरणं दूतकर्म ॥८॥
मन्त्रिपुरोहितसेनापतिप्रतिबद्धपूजनोपचारविस्रम्भाभ्या शत्रोरिति कर्तव्यता-
मन्त.सारता च विद्यात् ॥९॥
स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्ट सहेत ॥१०॥
गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्ति' ॥११॥
स्थित्वापि यियासतोऽवस्थान केवलमुपक्षयहेतुः ॥१२॥
वीरपुरुषपरिवारितः शूरपुरुषान्तरितात् दूतान् पश्येत् ॥१३॥
श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैक नन्द जघान ॥१४॥
शत्रुप्रहितं शासनमुपायन च स्वैरपरीक्षित नोपाददीत ॥१५॥
श्रूयते हि किल स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो
वसुनामानं राजानं जघान ॥१६॥
आशीविषविषधरोपेतरत्नकरण्डकप्राभृतेन च करवाल' कराल जघानेति॥१७॥
महत्यपराधेऽपि न दूतमुपहन्यात् ॥१८॥
उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजान' ॥१९॥
तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्या. ॥२०॥
किं पुनर्ब्राह्मणः ॥२१॥
अवध्यभावो दूतः सर्वमेव जल्पति ॥२२॥
क' सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्षं स्वापकर्षं च मन्येत ॥२३॥
स्वयं रहस्यज्ञानार्थं परदूतो नयाद्यै स्त्रीभिरुभयवेतनैस्तद्गुणाचारशीलानु-
वृत्तिभिर्वा वचनीयः ॥२४॥
चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम् ॥२५॥

१४ चारसमुद्देशः

स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चारा खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥१॥
अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्व चारगुणा' ॥२॥
तुष्टिदानमेव चाराणा वेतनम् ॥३॥
ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येषु त्वरन्ते ॥४॥
असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः ॥५॥
अनवसर्पो हि राजा स्वै परैश्चातिसंधीयते ॥६॥

किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम् ॥७॥
छात्रकापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसकिरातयमपट्टिकाहितुण्डिकशौ-
ण्डिकशौभिकपाटच्चरविटविदूषकपीठमर्दनर्तकगायनवादकवाग्जीवनगणक-
शाकुनिकभिषगैन्द्रजालिकनैमित्तिकसूदाराळिकसंवादकतीक्ष्णरसदक्रूरजडमूक-
बधिरान्धछद्मावस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्ग. ॥८॥
परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्र' ॥९॥
यं कमपि समयमास्थाय प्रतिपन्नछात्रवेषकः कापटिक ॥१०॥
प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राज्ञा परिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥११॥
गृहपतिवैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥१२॥
बाह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदम्भहेतुस्तापसः ॥१३॥
अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥१४॥
यमपट्टिको गलत्रोटिकः प्रतिगृहं चित्रपटदर्शी वा ॥१५॥
अहितुण्डिक सर्पक्रीडाप्रसर ॥१६॥
शौण्डिकः कल्पपालः ॥१७॥
शौभिकः क्षपाया पटावरणेन रूपदर्शी ॥१८॥
पाटच्चरश्चौरो बन्दीकारो वा ॥१९॥
व्यसनिना प्रेषणानुजीवी विट ॥२०॥
सर्वेषां प्रहसनपात्र विदूषकः ॥२१॥
कामशास्त्राचार्यः पीठमर्दः ॥२२॥
गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटकाभिनयरङ्गनर्तको वा ॥२३॥
रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायक. ॥२४॥
गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः ॥२५॥
वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा ॥२६॥
गणक संख्याविद्दैवज्ञो वा ॥२७॥
शाकुनिकः शकुनवक्ता ॥२८॥
भिषगायुर्वेदविद्वैद्य शस्त्रकर्मविच्च ॥२९॥
ऐन्द्रजालिकतन्त्रयुक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ॥३०॥
नैमित्तिको लक्ष्यवेधी दैवज्ञो वा ॥३१॥
महानसिक. सूदः ॥३२॥
विचित्रभक्ष्यप्रणेता आरालिक ॥३३॥
अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा संवाहकः ॥३४॥
द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यो जीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसहनो वा ॥३५॥
बन्धुस्नेहरहिताः क्रूराः ॥३६॥

अलसाश्च रसदाः ॥३७॥
जडमूकबधिरान्धा. प्रसिद्धा. ॥३८॥

१५. विचारसमुद्देशः

नाविचार्यं कार्यं किमपि कुर्यात् ॥१॥
प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ॥२॥
स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् ॥३॥
न ज्ञानमात्रत्वात् प्रेक्षावता प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥४॥
स्वय दृष्टेऽपि मतिर्विमुह्यति सशेते विपर्यस्यति वा कि पुनर्न परोपदिष्टे वस्तुनि ॥५॥
स खलु विचारज्ञो य प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥६॥
अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयन्ति ॥७॥
अविचार्य कृते कर्मणि यत् पश्चात् प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥८॥
आकारः शौर्यमायतिर्विनयश्च राजपुत्राणा भाविनो राज्यस्य लिङ्गानि ॥९॥
कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानम् ॥१०॥
सभावितैकदेशो नियुक्त विद्यात् ॥११॥
प्रकृतेर्विकृतिदर्शन हि प्राणिना भविष्यत शुभाशुभस्य चापि लिङ्गम् ॥१२॥
य एकस्मिन् कर्मणि दृष्टबुद्धि. पुरुषकारः स कथ कर्मान्तरेषु न समर्थः ॥१३॥
आप्तपुरुषोपदेश आगम' ॥१४॥
यथानुभूतानुमितश्रुतार्थाविसवादिवचन. पुमानाप्तः ॥१५॥
सा वागुक्ताप्यनुक्तसमा, यत्र नास्ति सद्युक्ति' ॥१६॥
वक्तुर्गुणगौरवाद् वचनगौरवम् ॥१७॥
किं मितपचेषु धनेन चाण्डालसरसि वा जलेन यत्र सतामनुपभोगः ॥१८॥
लोको गतानुगतिको यत सदुपदेशिनीमपि कुट्टिनी तथा न प्रमाणयति यथा गोघ्नमपि ब्राह्मणम् ॥१९॥

१६. व्यसनसमुद्देशः

व्यस्यति पुरुष श्रेयस इति व्यसनम् ॥१॥
व्यसनं द्विविध सहजमाहार्यं च ॥२॥
सहज व्यसनं धर्माभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योगपुरुषैश्च प्रशम नयेत् ॥३॥
परचित्तानुकूल्येन तदभिलषितेषूपायेन विरक्तिजननहेतवो योगपुरुषाः ॥४॥

शिष्टजनसंसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुषचरितोत्थिताभिः कथाभि-
राहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥५॥
स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥६॥
सौम्यधातुक्षयेण सर्वधातुक्षय· ॥७॥
पानशौण्डश्चित्तविभ्रमात् मातरमपि गच्छति ॥८॥
मृगयासक्तिः स्तेनव्यालद्विषद्दायादानामामिष पुरुष करोति ॥९॥
द्यूतासक्तस्य किमप्यकृत्यं नास्ति ॥१०॥
मातर्यपि हि मृताया दीव्यत्येव हि कितवः ॥११॥
पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥१२॥
दिवास्वापः गुप्तव्याधिव्यालानामुत्थापनदण्ड. सकलकार्यान्तरायश्च ॥१३॥
व परपरीवादात् परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥१४॥
तौर्यत्रयासक्तिः प्राणार्थमानैर्वियोजयति ॥१५॥
वृथाट्या नाविधाय कमप्यनर्थं विरमति ॥१६॥
अतीवेर्ष्यालु स्त्रियो घ्नन्ति त्यजन्ति वा पुरुषम् ॥१७॥
परपरिग्रहाभिगम· कन्यादूषणं वा साहसम् ॥१८॥
यत् साहसं दशमुखदण्डिकाविनाशहेतु· सुप्रसिद्धमेव ॥१९॥
यत्र नाहमस्मीत्यध्यवसायस्तत् साहसम् ॥२०॥
अर्थदूषक· कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनम् ॥२१॥
अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थदूषणम् ॥२२॥
हर्षामर्षाभ्यामकारणं तृणाङ्कुरमपि नोपहन्यात्किंपुनर्मर्त्यम् ॥२३॥
श्रूयते किल निष्कारणभूतावमानिनौ वातापिरिल्वलश्च द्वावसुरावगस्त्या-
शनाद्विनेशतुरिति ॥२४॥
यथादोष कोटिरपि गृहीता न दु खायते। अन्यायेन पुनस्तृणशलाकापि
गृहीता प्रजा खेदयति ॥२५॥
तरुच्छेदेन फलोपभोग· सकृदेव ॥२६॥
प्रजाविभवो हि स्वामिनोऽद्वितीयो भाण्डागारोऽतो युक्तितस्तमुपभुञ्जीत॥२७॥
राजपरिगृहीत तृणमपि काञ्चनीभवति [जायते पूर्वसंचितस्याप्यर्थस्या-
पहाराय] ॥२८॥
वाक्पारुष्य शस्त्रपातादपि विशिष्यते ॥२९॥
जातिवयोवृत्तविद्यादोषाणामनुचित वचो वाक्पारुष्यम्[1] ॥३०॥
स्त्रियमपत्यं भृत्यं च तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद्यथा हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिव
न ते दुर्मनायन्ते ॥३१॥

---

१ येन हृदयसंतापो जायते तद्वचनं वाक्पारुष्यम् ॥ इत्यपि पाठ ।

व्यसनः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपारुष्यम् ॥३२॥

एकेनापि व्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गोऽपि राजा विनश्यति, किं पुनर्नाष्टादशभिः ॥३३॥

१७. स्वामिसमुद्देशः

धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी ॥१॥

कोपप्रसादयोः स्वतन्त्र ॥२॥

आत्मातिशयं धन वा यस्यास्ति स स्वामी ॥३॥

स्वामिमूला· सर्वाः प्रकृतयोऽभिप्रेतार्थयोजनाय भवन्ति नास्वामिकाः ॥४॥

उच्छिन्नमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुषप्रयत्नः ॥५॥

असत्यवादिनो नश्यन्ति सर्वे गुणाः ॥६॥

वञ्चकेषु न परिजनो नापि चिरायु· ॥७॥

स प्रियो लोकाना योऽर्थं ददाति ॥८॥

स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहत चेत ॥९॥

प्रत्युपकर्तुरुपकारः सवृद्धिकोऽर्थन्यास इव तज्जन्मान्तरेषु च न केषामृणं येषामप्रत्युपकारमनुभवनम् ॥१०॥

किं तया गवा या न क्षरति क्षोर न गर्भिणी वा ॥११॥

किं तेन स्वामिप्रसादेन यो न पूरयत्याशाम् ॥१२॥

क्षुद्रपरिषत्क· सर्पाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः ॥१३॥

अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सहन्ते. सहायाः ॥१४॥

अविशेषज्ञो विशिष्टैर्नाश्रीयते ॥१५॥

आत्मम्भरिः परित्यज्यते कलत्रेणापि ॥१६॥

अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥१७॥

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता सत्कर्मप्रवीणत्वमुत्साहगुणा ॥१८॥

अन्यायप्रवृत्तस्य न चिर सपदो भवन्ति ॥१९॥

यत्किञ्चनकारी स्वै· परैर्वाभिहन्यते ॥२०॥

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥२१॥

राजाज्ञा हि सर्वेषामलङ्घ्य. प्राकार. ॥२२॥

आज्ञाभङ्गकारिण पुत्रमपि न सहेत ॥२३॥

कस्तस्य चित्रगतस्य च विशेषो यस्याज्ञा नास्ति ॥२४॥

राजाज्ञावरुद्धस्य तदाज्ञा न भजेत् ॥२५॥

परमर्माकार्यमश्रद्धेयं च न भाषेत ॥२६॥

वेषमाचारं वानभिज्ञातं न भजेत् ॥२७॥

विकारिणि प्रभौ को नाम न विरज्यते ॥२८॥
अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥२९॥
राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ॥३०॥
पूजितं पूजयन्ति लोकाः ॥३१॥
प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥३२॥
यथावसरमसङ्गद्वार कारयेत् ॥३३॥
दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यं विपर्यासमासन्नैः कार्यते द्विषतामतिसंधानीयश्च भवति ॥३४॥
वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्धनादिव नियोगिषु भर्तृव्यसनादपरो नास्ति जीवनोपायः ॥३५॥
कार्यार्थिनः पुरुषान् लञ्चलुञ्चानिशाचराणा भूतबलीन्न कुर्यात् ॥३६॥
लञ्चलुञ्चा हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥३७॥
मातु स्तनमपि लुञ्चन्ति लञ्चोपजीविनः ॥३८॥
लञ्चेन कार्यकारिभिरुद्धः स्वामी विक्रीयते ॥३९॥
प्रासादध्वंसनेन लोहकीलकलाभ इव लञ्चेन राज्ञोऽर्थलाभः ॥४०॥
राज्ञो लञ्चेन कार्यकरणे कस्य नाम कल्याणम् ॥४१॥
देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुत प्रजाना कुशलम् ॥४२॥
लुञ्चेनार्थोपाश्रयं दर्शयन् देशं कोशं मित्र तन्त्रं च भक्षयति ॥४३॥
राज्ञान्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालङ्घनमादित्यस्य तमः पोषणमिव मातुश्चापत्यभक्षणमिव कलिकालविजृम्भितानि ॥४४॥
न्यायतः परिपालके राज्ञि प्रजानां कामदुघा भवन्ति सर्वा दिश ॥४५॥
काले वर्षति मघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति, राजानमनुवर्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालाः ॥४६॥
तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपाल राजानमाहु ॥४७॥
अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन संभावयेत् ॥४८॥
राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही कुटुम्बं, कलत्राणि च वंशवर्धनक्षेत्राणि ॥४९॥
अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न गृह्णीयात् ॥५०॥
आगन्तुकैरसहनैश्च सह नर्म न कुर्यात् ॥५१॥
पूज्यैः सह नाधिकं वदेत् ॥५२॥
भर्तुमशक्यप्रयोजनं च जन नाशया परिक्लेशयेत् ॥५३॥
पुरुषस्य पुरुषो न दासः किंतु धनस्य ॥५४॥
को नाम धनहीनो न भवेल्लघुः ॥५५॥
सर्वधनेषु विद्यैव धन प्रधानमहार्यत्वात् सहानुयायित्वाच्च ॥५६॥
सरित्समुद्रमिव नीचोपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि राजान सगमयति ॥५७॥

परंतु भाग्यानां व्यापारः ॥५८॥
सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्तजगत्स्थितिज्ञानम् ॥५९॥
लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायक एव ॥६०॥
ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषा प्रतिबोधनम् ॥६१॥
अनुपयोगिना महतापि कि जलधिजलेन ॥६२॥

१८. अमात्यसमुद्देशः

चतुरङ्गेऽस्ति द्यूते नानमात्योऽपि राजा कि पुनरन्य ॥१॥
नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥२॥
नह्येक चक्र परिभ्रमति ॥३॥
किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥४॥
स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानमानाभ्या सहोत्पत्तिविपत्ती येषा तेऽमात्याः ॥५॥
आयो व्ययः स्वामिरक्षा तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकार. ॥६॥
आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुनिदर्शनम् ॥७॥
आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥८॥
यथास्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्यय ॥९॥
आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽप्यवश्य श्रमणायते ॥१०॥
राज्ञः शरीर धर्मः कलत्र अपत्यानि च स्वामिशब्दार्थ ॥११॥
तन्त्र चतुरङ्गबलम् ॥१२॥
तीक्ष्ण बलवत्पक्षमशुचि व्यसनिनमशुद्धाभिजनमशक्यप्रत्यावर्तनमतिव्यय-शीलमन्यदेशायातमतिचिक्कण चामात्य न कुर्वीत ॥१३॥
तीक्ष्णोऽभियुक्तो म्रियते मारयति वा स्वामिनम् ॥१४॥
बलवत्पक्षो नियोगाभियुक्त कल्लोल इव समूल नृपाङ्घ्रिपमुन्मूलयति ॥१५॥
अल्पायतिर्महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ॥१६॥
अल्पायमुखो जनपदपरिग्रहो पीडयति ॥१७॥
नागन्तुकेष्वर्थाधिकार प्राणाऽधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वापि गन्तारो-ऽपकर्तारो वा ॥१८॥
स्वदेशजेष्वर्थ कूपपतित इव कालान्तरादपि लब्धु शक्यते ॥१९॥
चिक्कणादर्थलाभ पाषाणाद्वल्कलोत्पाटनमिव ॥२०॥
सोऽधिकारी य' स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतु शक्यते ॥२१॥
ब्राह्मण-क्षत्रिय-सबन्धिनो न कुर्यादधिकारिणः ॥२२॥
ब्राह्मणो जातिवशात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति, न प्रयच्छति वा ॥२३॥
क्षत्रियोऽभियुक्त खड्गं दर्शयति ॥२४॥

संबन्धी ज्ञातिभावेनाक्रम्य सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ।।२५।।
संबन्धस्त्रिविध श्रौतो मौख्यो यौनश्च ।।२६।।
सहदीक्षित: सहाध्यायी वा श्रौतः ।।२७।।
मुखेन परिज्ञातो मौख्यः ।।२८।।
यौनेर्जातो यौनः ।।२९।।
वाचिकसबन्धे नास्ति सबन्धान्तरानुवृत्ति ।।३०।।
न त कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ।।३१।।
मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ।।३२।।
चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशङ्कते ।।३३।।
उपकर्त्ताधिकारस्य उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमवलुम्पति ।।३४।।
सहपाशुक्रोडितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ।।३५।।
अन्तर्दुष्टो नियुक्त सर्वमनर्थमुत्पादयति ।।३६।।
शकुनि-शकटालावत्र दृष्टान्तौ ।।३७।।
सुहृदि नियोगिन्यवश्य भवति धनमित्रनाश ।।३८।।
मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसा संदेहो निश्चितौ चानर्थनरकपातौ ।।३९।।
सोऽधिकारी चिर नन्दति स्वामिप्रसादो नोत्सेकयति ।।४०।।
किं तेन परिच्छदेन यत्रात्मक्लेशेन कार्यं सुख वा स्वामिन. ।।४१।।
का नाम निर्वृत्तिः स्वयमूढतृणभोजिनो गजस्य ।।४२।।
अश्वसधर्माणः पुरुषा कर्मसु नियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान् परीक्षेत् ।।४३।।
मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगिषु विश्वासकरणम् ।।४४।।
ऋद्धिश्चित्तविकारिणी नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः ।।४५।।
सर्वोऽप्यतिसमृद्धोऽधिकारी भवत्यायत्यामसाध्यकृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ।।४६।।
भक्षणमुपेक्षण प्रज्ञाहीनत्वमुपरोध. प्राप्तार्थाप्रवेशो द्रव्यविनिमयश्चेत्यमात्यदोषाः ।।४७।।
बहुमुख्यमनित्यं च करण स्थापयेत् ।।४८।।
स्त्रीष्वर्थेषु च मनागप्यधिकारे न जातिसंबन्धः ।।४९।।
स्वपरदेशजावनपेक्ष्यानित्यश्चाधिकार ।।५०।।
आदायकनिबन्धकप्रतिबन्धकनीवीग्राहकराजाध्यक्षाः करणानि ।।५१।।
आयव्ययविशुद्ध द्रव्य नीवी ।।५२।।
नीवीनिबन्धकपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधयेत् ।।५३।।
आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ।।५४।।
नित्यपरीक्षणं कर्मविपर्ययः प्रतिपत्तिदान नियोगिष्वर्थोपायाः ।।५५।।

नापीडिता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तःसारमुद्वमन्ति ॥५६॥
पुनः पुनरभियोगे नियोगिषु भूपतीनां वसुधारा ॥५७॥
सकृन्निष्पीडितं हि स्नानवस्त्रं किं जहाति स्निग्धताम् ॥५८॥
देशमपीडयन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभते ॥५९॥
यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र विनियोजयेत् ॥६०॥
न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किं तु बुद्धिपुरुषकारावेव ॥६१॥
शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥६२॥
अनिवेद्यभर्तुर्न किंचिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः ॥६३॥
सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ॥६४॥
मूलधनाद् द्विगुणाधिको लाभो भाण्डोत्थो यो भवति स राज्ञः ॥६५॥
परस्परकलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ॥६६॥
नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां द्वितीयः कोशः ॥६७॥
सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान्, यतस्तन्निबन्धनं जीवितं सकलप्रयासश्च ॥६८॥
न खलु मुखे प्रक्षिप्तः खरोऽपि द्रम्मः प्राणत्राणाय यथा धान्यम् ॥६९॥
सर्वधान्येषु चिरजीविनः कोद्रवाः ॥७०॥
अनवं नवेन वर्द्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥७१॥
लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥७२॥
सर्वरसमयमप्यन्नमलवणं गोमयायते ॥७३॥

१९. जनपदसमुद्देशः

पशुधान्यहिरण्यसंपदा राजते इति राष्ट्रम् ॥१॥
भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशतीति देशः ॥२॥
विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विषिणोति बध्नातीति विषयः ॥३॥
सर्वकामधुक्त्वेन नरपतिहृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम् ॥४॥
जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥५॥
निजपतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रुहृदयानि दारयति भिनत्तीति दारकम् ॥६॥
आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निर्गमयतीति निर्गमः ॥७॥

अन्योऽन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसा-
रविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षक-
प्राय इति जनपदस्य गुणाः ॥८॥
विषतृणोदकोषरपाषाणकण्टकगिरिगर्तगह्वरप्रायभूमिर्भूरिवर्षाजीवनो
व्याललुब्धकम्लेच्छबहुलः स्वल्पसस्योत्पत्तिस्तरुफलाधार इति देशदोषाः ॥९॥
तत्र सदा दुर्भिक्षमेव, यत्र जलदजलेन सस्योत्पत्तिरकृष्टभूमिश्चारम्भः ॥१०॥
क्षत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वल्पास्वपि बाधासु प्रतियुद्ध्यन्ते ॥११॥
म्रियमाणोऽपि द्विजलोको न खलु सान्त्वेन सिद्धमप्यर्थं प्रयच्छति ॥१२॥
स्वभूमिकं भुक्तपूर्वमभुक्तं वा जनपदं स्वदेशाभिमुखं दानमानाभ्यां परदेशा-
दावहेत् वासयेच्च ॥१३॥
स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति ॥१४॥
क्षीरिषु कणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्वासयति ॥१५॥
लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति ॥१६॥
सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति ॥१७॥
दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात् ॥१८॥
मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ॥१९॥
क्षीणजनसंभावनं तृणशलाकाया अपि स्वयमग्रहः कदाचित्किंचिदुपजीवन-
मिति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ॥२०॥
न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी पिण्डा राज्ञां कामधेनुः ॥२१॥
राज्ञां चतुरङ्गबलाभिवृद्धये भूयांसो भक्तग्रामाः ॥२२॥
सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्यायं युक्तं शुल्कं कोशवृद्धिहेतुः ॥२३॥
देवद्विजप्रदेया गोहतप्रमाणा भूमिर्दातुरादातुश्च सुखनिर्वाहा ॥२४॥
क्षेत्रवप्रखण्डधर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं बाधते न पुनरुत्तरं पूर्वः ॥२५॥

२०. दुर्गसमुद्देशः

यस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति
दुर्गम् ॥१॥
तद्द्विविधं स्वाभाविकमाहार्यं च ॥२॥
वैषम्यं पर्याप्तावकाशो यवसेन्धनोदकभूयस्त्वं स्वस्य परेषामभावो बहुधान्य-
रससंग्रहः प्रवेशापसारौ वीरपुरुषा इति दुर्गसंपत् अन्यद्वन्दिशालावत् ॥३॥
अदुर्गो देशः कस्य नाम न परिभवास्पदम् ॥४॥
अदुर्गस्य राज्ञः पयोधिमध्ये पोतच्युतपक्षिवदापदि नास्त्याश्रयः ॥५॥

उपायतोऽधिगमनमुपजापश्चिरानुबन्धोऽवस्कन्दतीक्ष्णपुरुषोपयोगश्चेति परदुर्गलम्भोपायाः ॥६॥
नामुद्रहस्तोऽशोधितो वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥७॥
श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥८॥
खेटखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं काञ्चीपतिमिति ॥९॥

२१. कोशसमुद्देशः

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तन्त्राभ्युदयं कोशयतीति कोश ॥१॥
सातिशयहिरण्यरजतप्रायो व्यावहारिकनाणकबहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोशगुणा ॥२॥
कोश वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत ॥३॥
कुतस्तस्यायत्या श्रेयांसि य प्रत्यहं काकिरायापि कोश न वर्धयति ॥४॥
कोशो हि भूपतीना जीवनं न प्राणा. ॥५॥
क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ॥६॥
कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीना शरीरम् ॥७॥
यस्य हस्ते द्रव्य स जयति ॥८॥
धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः ॥९॥
न खलु कुलाचाराभ्या पुरुषः सर्वोऽपि सेव्यतामेति किन्तु वित्तेनैव ॥१०॥
स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनम् ॥११॥
किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न संतर्पयति परान् ॥१२॥
तस्य किं सरसो महत्त्वेन यत्र न जलानि ॥१३॥
देवद्विजवणिजा धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूटगणिकासंघपाखण्डिविभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदद्रविणसंविभागप्रार्थनैरनुपक्षयश्रीकामन्त्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां क्षीणकोश कोश कुर्यात् ॥१४॥

२२. बलसमुद्देशः

द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हित स्वामिन सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम् ॥१॥
बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवति ॥२॥
हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञा यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि ॥३॥

जातिः कुलं वनं प्रचारश्च वनहस्तिनां प्रधानं किं तु शरीर बल शौर्यं शिक्षा च तदुचिता च सामग्री सपत्तिः ।।४।।
अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः ।।५।।
सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धो वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः ।।६।।
अश्वबलं सैन्यस्य जगमं प्रकार ।।७।।
अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञ कदनकन्दुकक्रीडाः प्रसीदन्ति श्रियः, भवन्ति दूरस्था अपि शत्रवः करस्थाः। आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धिस्तुरगे एव, सरणमपसरणमवस्कन्दः परानीकभेदन च तुरङ्गमसाध्यमेतत् ।।८।।
जात्यारूढो विजिगीषु' शत्रोर्भवति ततस्य गमन नारातिर्ददाति ।।९।।
तर्जिका, (स्व) स्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गव्हारा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वाना नवोत्पत्तिस्थानानि ।।१०।।
समा भूमिधनुर्वेदविदो रथारूढाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्य नाम नृपाणाम् ।।११।।
रथैरवमर्दित परबल सुखेन जीयते मौल भृत्यकभृत्यश्रेणीमित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं बल यतेत् ।।१२।।
अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं बल यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले परराष्ट्रविलोडनार्थमेव मिलति क्षत्रसारत्व शस्त्रज्ञत्व शौर्यसारत्वमनुरक्तत्व चेत्यौत्साहिकस्य गुणा ।।१३।।
मौलबलाविरोधेनान्यद्बलमर्थमानाभ्यामनुगृह्णीयात् ।।१४।।
मौलाख्यमापद्यनुगच्छति दण्डितमपि न द्रुह्यति भवति चापरेषामभेद्यम् ।।१५।।
न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वामिसमान ।।१६।।
स्वयमनवेक्षण देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारा विशेषविधावसभावन च तन्त्रस्य विरक्तिकारणानि ।।१७।।
स्वयमवेक्षणीयसैन्यं परैरवेक्षयन्नर्थतन्त्राभ्या परिहीयते ।।१८।।
आश्रितभरणे स्वामिसेवायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः ।।१९।।
तावद्देयं यावदाश्रिताः संपूर्णतामाप्नुवन्ति ।।२०।।
न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीय' ।।२१।।
को नाम सचेताः स्वगुड चौर्यात्खादेत् ।।२२।।
किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ।।२३।।
स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ।।२४।।
अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्यये नोत्सहेत ।।२५।।

२३. मित्रसमुद्देशः

य· सपदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ॥१॥

यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ॥२॥

तत्सहजं मित्र यत्पूर्वपुरुषपरम्परायातः संबन्ध. ॥३॥

यद्वृत्तिजीवितहेतोराश्रित तत्कृत्रिमं मित्रम् ॥४॥

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्प· स्त्रीषु परम शौच कोपप्रसादविषये चाप्रतिपक्षत्वमिति मित्रगुणा. ॥५॥

दानेन प्रणय. स्वार्थपरत्व विपद्युपेक्षणमहितसप्रयोगा विप्रलम्भनगर्भप्रश्रयश्चेति मित्रदोषाः ॥६॥

स्त्रीसगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसंबन्धः परोक्षदोषग्रहण पैशुन्याकर्णन च मैत्रीभेदकारणानि ॥७॥

न क्षीरात् पर महदस्ति यत्सगतिमात्रेण करोति नीरमात्मसमम् ॥८॥

न नीरात्पर महदस्ति यन्मिलितमेव सवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ॥९॥

येन केनाप्युपकारेण तिर्यञ्चोऽपि प्रत्युपकारिणोऽव्यभिचारिणश्च न पुन प्रायेण मनुष्या ॥१०॥

तथा चोपाख्यानक—अटव्या किलान्धकूपे पतितेषु कपिसर्पसिंहाक्षशालिकसौवर्णिकेषु कृतोपकारः कंकायननामा कश्चित्पान्थो विशालाया पुरि तस्मादक्षशालिकाद्व्यापादनमवाप नाडोजघश्च गोतमादिति ॥११॥

२४. राजरक्षासमुद्देशः

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षित भवत्यत: स्वेभ्य: परेभ्यश्च नित्य राजा रक्षितव्यः ॥१॥

अत एवोक्तं नयविद्भि —पितृपैतामह महासबन्धानुबद्ध शिक्षितमनुरक्त कृतकर्मणा च जनम् आसन्न कुर्वीत । २॥

अन्यदेशीयमकृतार्थमान स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतमासन्न न कुर्वीत ॥३॥

चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः किन्न भवति मातापि राक्षसी ॥४॥

अस्वामिका प्रकृतय समृद्धा अपि निस्तरीतु न शक्नुवन्ति ॥५॥

देहिनि गतायुषि सकलाङ्गे कि करोति धन्वन्तरिरपि वैद्य ॥६॥

राज्ञस्तावदासन्ना स्त्रिय आसन्नतरा दायादा आसन्नतमाश्च पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथम स्त्रीभ्यो रक्षण ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्य: ॥७॥

आवण्ठादाचक्रवर्तिन· सर्वोऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति ॥८॥

निवृत्तस्त्रीसगस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥९॥

सर्वा. स्त्रिय' क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥१०॥
मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव वक्रशीलाः ॥११॥
स्त्रीणा वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ॥१२॥
कलत्र रूपवत्सुभगमनवद्याचारमपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ॥१३॥
कामदेवोत्संगस्यापि स्त्री पुरुषान्तरमभिलषति च ॥१४॥
न मोहो लज्जा भयं स्त्रीणां रक्षण किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणता च ॥१५॥
दानदर्शनाभ्या समवृत्तौ हि पु सि नापराध्यन्ते स्त्रिय ॥१६॥
परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न मन्येत ॥१७॥
कारणवशान्निम्बोऽप्यनुभूयते एव ॥१८॥
चतुर्थदिवसस्नाता स्त्री तीर्थम्, तीर्थोपराधो महानधर्मानुबन्ध' ॥१९॥
ऋतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणाः पितॄणामृणभाजनम् ॥२०॥
अवरुद्धा स्त्रिय' स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥२१॥
न स्त्रीणामकर्तव्ये मर्यादास्ति वरमविवाहो नोढोपेक्षणम् ॥२२॥
अकृतरक्षस्य कि कलत्रेणाकृषत: किं क्षेत्रेण ॥२३॥
सपत्नीविधान पत्युरसमञ्जस च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणा विरक्तकारणानि ॥२४॥
न स्त्रीणा सहजो गुणो दोषो वास्ति किं तु नद्य समुद्रमिव यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ॥२५॥
स्त्रीणा दौत्य स्त्रिय एव कुर्युस्तैरश्चोऽपि पु'योग स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥२६॥
वंशविशुद्ध्यर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थम् ॥२७॥
भोजनवत्सर्वसमाना' पण्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसर ॥२८॥
यथाकाम कामिनीना सग्रहः परमनीर्ष्यावानकल्याणावहः प्रक्रमोऽदौवारिके द्वारि को नाम न प्रविशति ॥२९॥
मातृव्यञ्जनविशुद्धा राजवसत्युपरिस्थायिन्य' स्त्रिय सभक्तव्याः ॥३०॥
दर्दु'रस्य सर्पगृहप्रवेश इव स्त्रीगृहप्रवेशो राज्ञ ॥३१॥
न हि स्त्री गृहादायातं किंचित्स्वयमनुभवनीयम् ॥३२॥
नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥३३॥
सवनन स्वातन्त्र्य चाभिलषन्त्यः स्त्रिय कि नाम न कुर्वन्ति ॥३४॥
श्रूयते हि किल आत्मन' स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषविदूषितगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवो यवनेषु निजतनुजराज्यार्थं जघान राजानमङ्गराजम्॥३५॥
विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमति शूरसेनेषु सुरतविलास, विषोपलिप्तेन मेखलामणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवम्, निशितनेमिना मुकुरेण

मदिराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कवरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति ॥३६॥

अमृतरसवाप्य इव श्रीजसुखोपकरणं स्त्रियः ॥३७॥

कस्तासा कार्याकार्यविलोकनेऽधिकार ॥३८॥

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीरसस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं नान्यत्र ॥३९॥

अतिप्रसक्तेः स्त्रीषु स्वातन्त्र्य करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदय विश्राम्यति ॥४०॥

स्त्रीवशपुरुषो नदीप्रवाहपतितपादप इव न चिर नन्दति ॥४१॥

पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सव न जनयति ॥४२॥

नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु, शस्त्रीषु पयोलव इव विषमता प्रतिपद्यते ॥४३॥

अध्रुवेणाधिकेनाप्यर्थेन वेश्यामनुभवन्पुरुषो न चिरमनुभवति सुखम् ॥४४॥

विसर्जनाकारणाभ्या तदनुभवे महाननर्थः ॥४५॥

वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥४६॥

धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषम् ॥४७॥

धनहीने कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्या ॥४८॥

स पुमान् न भवति सुखी, यस्यातिशय वेश्यासु दानम् ॥४९॥

स पशोरपि पशु य स्वधनेन परेषामर्थवन्ती करोति वेश्याम् ॥५०॥

आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रह श्रेयान् ॥५१॥

सुरक्षितापि वेश्या न स्वा प्रकृतिं परपुरुषसेवनलक्षणा त्यजति ॥५२॥

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतु शक्येत् ॥५३॥

सुभोजितोऽपि श्वा किमशुचीन्यस्थीनि परिहरति ॥५४॥

न खलु कपि शिक्षाशतेनापि चापल्य परिहरति ॥५५॥

इक्षुरसेनापि सिक्तो निम्ब कटुरेव ॥५६॥

क्षीराश्रितशर्करापानभोजितश्चाहिर्न कदाचित् परित्यजति विषम् ॥५७॥

सन्मानदिवसादायु कुल्यानामपग्रहहेतुः ॥५८॥

तन्त्रकोशवर्धिनो वृत्तिर्दायादान् विकारयति ॥५९॥

तारुण्यमधिकृत्य सस्कारसाराहितोपयोगाच्च शरीरस्य रमणीयत्व न पुन स्वभाव. ॥६०॥

भक्तिविश्रम्भादव्यभिचारिण कुल्य पुत्र वा सवर्धयेत् ॥६१॥

विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ॥६२॥

भर्तुरादेश न विकल्पयेत् ॥६३॥

अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्य ॥६४॥

बलवत्पक्षपरिग्रहेषु दायिष्वाप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशीकरणं गूढपुरुष-निक्षेपः प्रणिधिर्वा ॥६५॥
दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥६६॥
साधुषूपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ॥६७॥
क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥६८॥
कुलविशुद्धिरुभयतः प्रीतिर्मनःप्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसरस्वत्या-वाहनमन्त्रपूतपरमान्नोपयोगश्च गर्भाधाने पुरुषोत्तममवतारयति ॥६९॥
गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारण परमम् ॥७०॥
स्वजातियोग्यसंस्कारहीनाना राज्ये प्रव्रज्याया च नास्त्यधिकार ॥७१॥
असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्तेः ॥७२॥
साधुसपादितो हि राजपुत्राणा विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति ॥७३॥
घुणजग्ध काष्ठमिवाविनीत राजपुत्र राजकुलमभियुक्तमात्रं भज्येत् ॥७४॥
आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धा सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितर नाभिद्रुह्यन्ति ॥७५॥
मातृपितरौ राजपुत्राणा परमं दैवम् ॥७६॥
यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ॥७७॥
मातृपितृभ्या मनसाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ॥७८॥
कि तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहत जन्म ॥७९॥
क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञा नो लङ्घयेत् ॥८०॥
किन्नु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ॥८१॥
य खलु पुत्रो मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्त्तव्यः ॥८२॥
कर्तव्यमेवाशुभ कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्विधानमात्मनो न भवेत् ॥८३॥
ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषा पितरि राजभारः ॥८४॥
अलं तया श्रिया या किमपि सुख जनयन्ती व्यासङ्गपरम्पराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥८५॥
निष्फलो ह्यारम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावह ॥८६॥
परक्षेत्र स्वय कृषत कर्षापयतो वा फल पुनस्तस्यैव यस्य तत्क्षेत्रम् ॥८७॥
सुतसोदरसपत्नपितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्ति ॥८८॥
शुष्कश्याममुखता वाक्स्तम्भः स्वेदो विजृम्भणमतिमात्रं वेपथुः प्रस्खलन-मास्यप्रेक्षणमावेग कर्मणि भूमौ वानवस्थानमिति दुष्कृत कृत. करिष्यतो वा लिङ्गानि ॥८९॥

२५ दिवसानुष्ठानसमुद्देशः

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेति कर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥१॥

सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थग्राहिकाबुद्धय. ॥२॥

उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ॥३॥

आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत् ॥४॥

न प्रातर्वर्षधर विकलाङ्ग वा पश्येत् ॥५॥

सन्ध्यासु धौतमुखं जप्त्वा देवोऽनुगृह्णाति ॥६॥

नित्यमदन्तधावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ॥७॥

न कार्यव्यासङ्गेन शारीर कर्मोपहन्यात् ॥८॥

न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानम् ॥९॥

वेगव्यायामस्वापस्नानभोजनस्वच्छन्दवृत्ति कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥१०॥

शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगसरोधोऽश्मरीभगन्दर-गुल्मार्शसा हेतुः ॥११॥

गन्धलेपावसान शौचमाचरेत् ॥१२॥

बहिरागतो नानाचाम्य गृह प्रविशेत् ॥१३॥

गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धवातकिरूक्षभोजिभ्य ॥१४॥

शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥१५॥

शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायाम सफलयेत् ॥१६॥

आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्या. ॥१७॥

बलातिक्रमेण व्यायामः का नाम नापद जनयति ॥१८॥

अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ॥१९॥

इन्द्रियात्ममनोमरुता सूक्ष्मावस्था स्वाप ॥२०॥

यथास्वात्म्य स्वपादभुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ॥२१॥

सुघटितमपि हितं च भाजन साधयत्यन्नानि ॥२२॥

नित्यस्नानं द्वितीयमुत्सादन तृतीयकमायुष्य चतुर्थक प्रत्यायुष्यमित्यहीन सेवेत् ॥२३॥

धर्मार्थकामशुद्धिदुर्जनस्पर्शा स्नानस्य कारणानि ॥२४॥

श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ॥२५॥

जलचरस्येव तत्स्नान यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥२६॥

प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नान कुर्यात् ॥२७॥

आतपसतप्तस्य जलावगाहो दृग्मान्द्य शिरोव्यथा च करोति ॥२८॥

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥२९॥

अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्त च भवति विषम् ॥३०॥

जठराग्नि वज्राग्नि कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रक बलयेत् ॥३१॥

निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्नि नाशयति ॥३२॥

अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयाया· परं कारणमस्ति ।।३३।।
घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ।।३४।
सकृद्‌भूरिनीरोपयोगो वन्हिमवसादयति ।।३५।।
क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ।।३६।।
विध्याते वन्हौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ।।३७।।
यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते ।।३८।।
अप्रमितसुख विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमतीतरसमकालं चान्नं नानु-
भवेत् ।।३९।।
फल्गुभुजमननुकूल क्षुधितमतिक्रूर च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ।।४०।।
गृहीतग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ।।४१।।
तथा भुञ्जीत यथासायमन्येद्युश्च न विपद्यते वन्हि· ।।४२।।
न भुक्तिपरिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति ।।४३।।
वन्ह्यभिलाषायत्तं हि भोजनम् ।।४४।
अतिमात्रभोजी देहमग्नि च विधुरयति ।।४५।।
दीप्तो वन्हिर्लघुभोजनाद्बल क्षपयति ।।४६।।
अत्यशितुर्दु·खेनान्नपरिणाम ।।४७।।
श्रमार्तस्य पान भोजन च ज्वराय छर्दये वा ।।४८।।
न जिहत्सुर्न प्रस्त्रोतुमिच्छुनसिमञ्जसमनाश्च नानपनीय पिपासोद्रेकमश्नी-
यात् ।।४९।।
भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो व्यापत्तिकारणम् ।।५०।।
आजन्मसात्म्य विषमपि पथ्यम् ।।५१।।
असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यमप्यपथ्यम् ।।५२।।
सर्वं बलवत पथ्यमिति न कालकूट सेवेत् ।।५३।।
सुशिक्षितोऽपि विषतन्त्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात् ।।५४।।
सविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमाहरेत् ।।५५।।
देवान् गुरून् धर्मं चोपचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ।।५६।।
व्याक्षेपभूमनोनिरोधो मन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ।।५७।।
स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणा परम रसायनम् ।।५८।।
यथाकामसमीहानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पद व्याधीनाम् ।।५९।।
सतत सेव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय, सरस· स्वैरालापः ताम्बूलभक्षण
चेति ।।६०।।
चिरायोर्ध्वजानुर्जडयति रसवाहिनीर्नसाः ।।६१।।
सततमुपविष्टो जठरमाध्मापयति प्रतिपद्यते च तुन्दिलता वाचि मनसि
शरीरे च ।।६२।।

अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥६३॥
नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ॥६४॥
देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति संप्रत्ययः ॥६५॥
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥६६॥
तस्यैवैतानि खलु विशेषनामान्यर्हन्नजोऽनन्तः शम्भुर्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ॥६७॥
आत्मसुखानवरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥६८॥
कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मरणसमम् ॥६९॥
आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः ॥७०॥
अवश्यं कर्तव्ये कालं न यापयेत् ॥७१॥
आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत् ॥७२॥
सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मासनं यायात् ॥७३॥
अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ॥७४॥
आराध्यमुत्थायाभिवादयेत् ॥७५॥
देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ॥७६॥
कुहकाभिचारकर्मकारिभिः सह न सगच्छेत् ॥७७॥
प्राण्युपघातेन कामक्रीडां न प्रवर्तयेत् ॥७८॥
जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ॥७९॥
नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत् वा ॥८०॥
नाप्ताशोधितपरस्थानमुपेयात् ॥८१॥
नाप्तजनैरनारूढं वाहनमध्यासीत् ॥८२॥
न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ॥८३॥
न याष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ॥८४॥
न विषापहारौषधिमणीन् क्षणमप्युपासीत् ॥८५॥
सदैव जाङ्गलिकीं विद्यां कण्ठेन धारयेत् ॥८६॥
मन्त्रिभिषग्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥८७॥
वह्नावन्यचक्षुषि च भोज्यमुपभोग्यं च परीक्षेत् ॥८८॥
अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत् ॥८९॥
भक्तिसुरतसमरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ॥९०॥
परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ॥९१॥
मनः परिजनशकुनपवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेर्लिङ्गम् ॥९२॥
नैकोनक्तं दिवं वा हिण्डेत् ॥९३॥
नियमितमनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत् ॥९४॥
अहनि संध्यामुपासीतानक्षत्रदर्शनात् ॥९५॥

चतुः पयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीमुत्साहबालधिं वर्णाश्रमखुरा कामार्थश्रवणा नयप्रतापविषाणा सत्यशौचचक्षुषं न्यायमुखीमिमां गां गोपयामि, अतस्तमहं मनसापि न सहे योऽपराध्येत्तस्यै, इतीमं मन्त्र समाधिस्थो जपेत् ॥९६॥
कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्ध भुञ्जीत ॥९७॥
चकोरवन्नक्तकामो दिवा च ॥९८॥
पारावतकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत् ॥९९॥
बष्कयणीनां सुरभीणा पय सिद्धं माषदलपरमान्न परो योग स्मरस-वर्द्धने ॥१००॥
नावृषस्यन्ती स्त्रीमभियायात् ॥१०१॥
उत्तरः प्रवर्षवान् देश परमरहस्यमनुरागे प्रथम-प्रकृतीनाम् ॥१०२॥
द्वितीयप्रकृति सशाद्वलमृदूपवनप्रदेशः ॥१०३॥
तृतीयप्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् ॥१०४॥
धर्मार्थस्थाने लिङ्गोत्सवं लभते ॥१०५॥
स्त्रीपुंसयोर्न समसमायोगात्पर वशीकरणमस्ति ॥१०६॥
प्रकृतिरुपदेशः स्वाभाविक च प्रयोगवैदग्ध्यमिति समसमायोगकार-णानि ॥१०७॥
क्षुत्तर्षपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्य करोति ॥१०८॥
न सन्ध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुन कुर्वीत ॥१०९॥
पर्वणि पर्वणि सद्यो उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ॥११०॥
न तद्गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधिशयीत ॥१११॥
वशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारो वा क न विडम्बयति ॥११२॥
अपरीक्षितमशोधित च राजकुले न किंचित्प्रवेशयेन्निष्कासयेद्वा ॥११३॥
श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्णनिहितेनासिपत्रेण पल्हवनरेन्द्र हयपतिश्च मेषविषाणनिहितेन विषेण कुशस्थलेश्वरं जघा-नेति ॥११४॥
सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित्क्रिया ॥११५॥

२६ सदाचारसमुद्देशः

लोभप्रमादविश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्चयते वा ॥१॥
बलवताधिष्ठितस्य गमन तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥२॥
विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः विदेशको नाम येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥३॥

अलब्धप्रतिष्ठस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥४॥
आर्त्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ॥५॥
स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ॥६॥
व्याधिग्रस्तस्य ऋते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ॥७॥
स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥८॥
पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावन मन्दमतीनाम् ॥९॥
न भयेषु विषादः प्रतीकारः किंतु धैर्यावलम्बनम् ॥१०॥
स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणे मरणे शरसन्धाने मन.समाधाने च मुह्यति ॥११॥
कृते प्रतिकृतमकुर्वतो नैहिकफलमस्ति नामुत्रिक च ॥१२॥
शत्रुणापि सूक्तमुक्त न दूषयितव्यम् ॥१३॥
कलहजननमप्रीत्युत्पादन च दुर्जनाना धर्मं न सज्जनानाम् ॥१४॥
श्रीर्न तस्याभिमुखी यो लब्धार्थमात्रेण सतुष्टः ॥१५॥
तस्य कुतो वशवृद्धिर्यो न प्रशमयति वैरानुबन्धम् ॥१६॥
भीतेष्वभयदानात्पर न दानमस्ति ॥१७॥
स्वस्यासपत्तौ न चिन्ता किंचित्काक्षितमर्थं [प्रसूते] दुग्धे किन्तूत्साह' ॥१८॥
स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा सर्वेषु कल्पफलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि बन्ध्य ॥१९॥
स सदैव दुःखितो यो मूलधनसवर्धयन्ननुभवति ॥२०॥
मूर्खदुर्जनचाण्डालपतितैः सह सगतिं न कुर्यात् ॥२१॥
किं तेन तुष्टेन यस्य हरिद्राराग इव चित्तानुराग ॥२२॥
स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रम कस्य न परिभवं करोति ॥२३॥
नाक्रान्ति पराभियोगस्योत्तर किंतु युक्तेरुपन्यास ॥२४॥
राज्ञोऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः ॥२५॥
न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषा हृदयेष्वङ्गाराः ॥२६॥
अतीते च वस्तुनि शोक श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः ॥२७॥
शोकमात्मनि चिरमनुवासयस्त्रिवर्गमनुशोषयति ॥२८॥
स किं पुरुषो योऽकिंचन सन् करोति विषयाभिलाषम् ॥२९॥
अपूर्वेषु प्रियपूर्वं सभाषण स्वर्गच्युताना लिङ्गम् ॥३०॥
न ते मृता येषामिहास्ति शाश्वती कीर्ति ॥३१॥
स केवल भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ॥३२॥
परोपकारो योगिना महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ॥३३॥
का नाम शरणागताना परीक्षा ॥३४॥
अभिभवनमन्त्रेण परोपकारो महापातकिना न महासत्त्वानाम् ॥३५॥

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयो जयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहणा-प्रागल्भ्यम् ॥३६॥
तस्य गृहे कुटुम्बं धरणीयं यत्र न भवति परेषामिषम् ॥३७॥
परस्त्रीद्रव्यरक्षणेन नात्मन. किमपि फलं विप्लवेन महाननर्थसंबन्ध· ॥३८॥
आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेत् यद्यस्ति तदन्ते तस्य सतोषः ॥३९॥
आत्मसभावितः परेषा भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुपरिजनमपि करोत्येकाकिन स्वामिनम् ॥४०॥
अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्य. ॥४१॥
देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥४२॥
प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्तव्यम् ॥४३॥
आयानुरूपो व्यय. कार्यः ॥४४॥
ऐश्वर्यानुरूपो विलासो विधातव्य· ॥४५॥
धनश्रद्धानुरूपस्त्यागोऽनुसर्तव्यः ॥४६॥
सहायानुरूप कर्म आरब्धव्यम् ॥४७॥
स पुमान् सुखी यस्यास्ति सतोष. ॥४८॥
रजस्वलाभिगामी चाण्डालादप्यधमः ॥४९॥
सलज्जं निर्लज्ज न कुर्यात् ॥५०॥
सपुमान् पटावृतोऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चारित्रमावरणम् ॥५१॥
स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषित सच्चरित्रेण ॥५२॥
सर्वत्र सशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धि ॥५३॥
न क्षीरघृताभ्यामन्यत् पर रसायनमस्ति ॥५४॥
परोपघातेन वृत्तिर्निर्भाग्यानाम् ॥५५॥
वरमुपवासो, न पुन पराधीनं भोजनम् ॥५६॥
स देशोऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्णसंकरः ॥५७॥
स जात्यन्धो यः परलोक न पश्यति ॥५८॥
व्रत विद्या सत्यमानृशस्यमलौल्यता च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रम् ॥५९॥
नि.स्पृहानां का नाम परापेक्षा ॥६०॥
क पुरुषमाशा न क्लेशयति ॥६१॥
संयमी गृहाश्रमी वा यस्याविद्यातृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ॥६२॥
शीलमलङ्कारः पुरुषाणा न देहखेदावहो बहिराकल्प. ॥६३॥
कस्य नाम नृपतिर्मित्र ॥६४॥
अप्रियकर्तुर्नु प्रियकरणात्परममाचरणम् ॥६५॥
अप्रयच्छन्नर्थिनो न परुषं ब्रूयात् ॥६६॥
स स्वामी मरुभूमिर्यत्रार्थिनो न भवन्तीष्टकामाश्च ॥६७॥

प्रजापालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानामालम्भः ॥६८॥
प्रभूतमपि नानपराधसत्वव्यापत्तये नृपाणा बलं धनुर्वा किंतु शरणागतरक्षणाय ॥६९॥

२७ व्यवहारसमुद्देशः

कलत्र नाम नराणामनिगडमपि दृढ बन्धनमाहु ॥१॥
त्रीण्यवश्य भर्तव्यानि माता कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि ॥२॥
दान तपः प्रायोपवेशन तीर्थोपासनफलम् ॥३॥
तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरण क्रव्यादेषु कारुण्यमिव, स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव प्राहुरधार्मिकत्वमतिनिष्ठुरत्व वञ्चकत्व प्रायेण तीर्थवासिना प्रकृतिः ॥४॥
स किं प्रभुर्यः कार्यकाले एव न सभावयति भृत्यान् ॥५॥
स किं भृत्यः सखा वा य· कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते ॥६॥
यार्थेन प्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टि सा किं भार्या ॥७॥
स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्ति ॥८॥
स किं बन्धुर्यो व्यसनेषु नोपतिष्ठते ॥९॥
तत्कि मित्र यत्र नास्ति विश्वास ॥१०॥
स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसपत्तिः ॥११॥
तत्कि दान यत्र नास्ति सत्कारः ॥१२॥
तत्कि भुक्त यत्र नास्त्यतिथिसविभागः ॥१३॥
तत्कि प्रेम यत्र कार्यवशात् प्रत्यावृत्ति ॥१४॥
तत्किमाचरण यत्र वाच्यता मायाव्यवहारो वा ॥१५॥
तत्किमपत्य यत्र नाध्ययन विनयो वा ॥१६॥
तत्कि ज्ञान यत्र मदेनान्धता चित्तस्य ॥१७॥
तत्कि सौजन्य यत्र परोक्षे पिशुनभाव· ॥१८॥
सा कि श्रीर्यया न सतोषः सत्पुरुषाणाम् ॥१९॥
तत्कि कृत्य यत्रोक्तिरुपकृतस्य ॥२०॥
तयो को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूतमानिनौ पण्डितो लुब्धो मूर्खो चासहनो वा ॥२१॥
स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलाष कुर्यात् ॥२२॥
उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ॥२३॥
परदोषश्रवणे बधिरभाव सत्पुरुषाणाम् ॥२४॥
परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥२५॥

शत्रावपि गृहायाते संभ्रमः कर्तव्यः किं पुनर्न महति ॥२६॥
अन्तःसारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीय ॥२७॥
मदप्रमादजैर्दोषैर्गुरुषु निवेदनमनुशयः प्रायश्चित्तं प्रतीकारः ॥२८॥
श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो यो देवद्विजान् प्रीणाति ॥२९॥
चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥३०॥
स पुमान् वन्द्यचरितो य. प्रत्युपकारमनपेक्ष्य परोपकार करोति ॥३१॥
अज्ञानस्य वैराग्यं भिक्षोर्विटत्वमधनस्य विलासो वेश्यारतस्य शौचमविदित-
वेदितव्यस्य तत्त्वाग्रह इति पञ्च न कस्य मस्तकशूलानि ॥३२॥
स हि पञ्चमहापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत ॥३३॥
उपाश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥३४॥
अर्थी दोष न पश्यति ॥३५॥
गृहदास्यभिगमो गृह गृहिणी गृहपतिं च प्रत्यवसादयति ॥३६॥
वेश्यासग्रहो देवद्विजगृहिणीबन्धूनामुच्चाटनमन्त्रः ॥३७॥
अहो लोकस्य पाप, यन्निजा स्त्री रतिरपि भवति निम्बसमा, परगृहीता
शुन्यपि भवति रम्भासमा ॥३८॥
स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः ॥३९॥
व्यसनिनो यथा सुखमभिसारिकासु न तथार्थवतीषु ॥४०॥
महान् धनव्ययस्तदिच्छानुवर्तनं दैन्य चार्थवतीषु ॥४१॥
अस्तरण कम्बलो जीवधनं गर्दभः परिग्रहो वोढा सर्वकर्माणश्च भृत्या इति
कस्य नाम न सुखावहानि ॥४२॥
लोभवति भवन्ति विफला' सर्वे गुणा ॥४३॥
प्रार्थना कं नाम न लघयति ॥४४॥
न दारिद्र्यात्पर पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्सगेन सर्वे गुणा निष्फलतां
यान्ति ॥४५॥
अलब्धार्थोऽपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ॥४६॥
धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः ॥४७॥
न रत्नहिरण्यपूताज्जलात्पर पावनमस्ति ॥४८॥
स्वय मेध्या आपो वह्नितप्ता विशेषतः ॥४९॥
स एवोत्सवो यत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥५०॥
तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयो. प्रकामं सतर्पणम् ॥५१॥
तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणम् ॥५२॥
सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्ति' ॥५३॥
तत्पाण्डित्य यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥५४॥
तच्चातुर्यं यत्परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम् ॥५५॥

तल्लोकोचितत्वं यत्सर्वजनादेयत्वम् ॥५६॥
तत्सौजन्य यत्र नास्ति परोद्वेगः ॥५७॥
तद्धीरत्व यत्र यौवनेनानपवादः ॥५८॥
तत्सौभाग्य यत्रादानेन वशीकरणम् ॥५९॥
सा सभारण्यानी यस्या न सन्ति विद्वांसः ॥६०॥
किं तेनात्मन· प्रियेण यस्य न भवति स्वय प्रियः ॥६१॥
स किं प्रभुर्यो न सहते परिजनसबाधम् ॥६२॥
न लेखाद्वचनं प्रमाणम् ॥६३॥
अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति संप्रत्यय ॥६४॥
त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति स्वामिद्रोहः स्त्रीवधो बालवधश्चेति ॥६५॥
अप्लवस्य समुद्रावगाहनमिवाबलस्य बलवता सह विग्रहाय टिरिटिल्लि-
तम् ॥६६॥
बलवन्तमाश्रित्य विकृतिभञ्जन सद्यो मरणकारणम् ॥६७॥
प्रवास चक्रवर्तिनमपि सतापयति किं पुनर्नान्यम् ॥६८॥
बहुपाथेय मनोनुकूल परिजनः सुविहितश्चोपस्कर प्रवासे दुःखोत्तरण-
तरण्डको वर्गः ॥६९॥

२८ **विवादसमुद्देशः**

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्या जन्तुषु गौरवलाघवे ॥१॥
राजा त्वपराधालिङ्गिताना समवर्ती तत्फलमनुभावयति ॥२॥
आदित्यवद्यथावस्थितार्थं प्रकाशनप्रतिभा· सभ्याः ॥३॥
अदृष्टाश्रुतव्यवहारा परिपन्थिनः सामिषा न सभ्याः ॥४॥
लोभपक्षपाताभ्यामयथार्थवादिन सभ्या सभापतेः सद्योमानार्थहानिं
लभेरन् ॥५॥
तत्राल विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थी सभ्यसभापत्योरसामञ्ज-
स्येन कुतो जयः किं बहुभिश्छगलै. श्वा न क्रियते ॥६॥
विवादमास्थाय यः सभाया नोपतिष्ठेत, समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तमुत्त-
रोक्तेन बाधते, निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु युक्तमुक्त न प्रतिपद्यते, स्वदोष-
मनुद्धृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजित-
लिङ्गानि ॥७॥
छलेनाप्रतिभासेन वचनाकौशलेन चार्थहानि. ॥८॥
भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणम् ॥९॥

भुक्तिः सापवादा, साक्रोशा. साक्षिणः शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति ॥१०॥
बलोत्कृतमन्यायकृत राजोपधिकृतं च न प्रमाणम् ॥११॥
वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यम् ॥१२॥
असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥१३॥
नीवीविनाशेषु विवाद पुरुषप्रामाण्यात् सत्यापयितव्यो दिव्यक्रियया वा ॥१४॥
यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया किं पुनरुभयसमते मनुष्ये नीचेऽपि ॥१५॥
यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्रोशो दिव्यं वा ॥१६॥
अभिचारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसंभावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः ॥१७॥
लिङ्गिनास्तिकस्वाचारच्युतपतिताना दैवी क्रिया नास्ति ॥१८॥
तेषा युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा ॥१९॥
संदिग्धे पत्रे साक्षे वा विचार्य परिच्छिन्द्यात् ॥२०॥
परस्परविवादे न युगैरपि विवादपरिसमाप्तिरानन्त्याद्विपरीतप्रत्युक्तीना॥२१॥
ग्रामे पुरे वा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात् ॥२२॥
राज्ञा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः ॥२३॥
राजाज्ञा मर्यादा वातिक्रामन् सद्य फलेन दण्डेनोपहन्तव्यः ॥२४॥
न हि दुर्वृत्ताना दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसयोग एव वक्र काष्ठं सरलयति ॥२५॥
ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्रतरुश्छिद्यते यथा सरल ॥२६॥
स्वोपलम्भपरिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥२७॥
न हि भर्तुरभियोगात् पर सत्यमसत्य वा वदन्तमवगृह्णीयात् ॥२८॥
अर्थसंबन्धः सहवासश्च नाकलह संभवति ॥२९॥
निधिराकस्मिको वार्थलाभः प्राणै सह संचितमप्यर्थमपहारयति ॥३०॥
ब्राह्मणाना हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शन च शपथ. ॥३१॥
शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणाना तु क्षत्रियाणाम् ॥३२॥
श्रवणपोतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानाम् ॥३३॥
शूद्राणा क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥३४॥
कारूणा यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकारणानाम् ॥३५॥
व्रतिनामन्येषा चेष्टदेवतापादस्पर्शनात् प्रदक्षिणादिव्यकोशात्तन्दुलतुलारोहणैर्विशुद्धि. ॥३६॥
व्याधाना तु धनुर्लङ्घनम् ॥३७॥
अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मावरोहणम् ॥३८॥

वेश्यामहिला, भृत्यो भण्डः, क्रीणिनियोगो, नियोगिर्मित्रं, चत्वार्यशाश्वतानि ॥३९॥
क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ॥४०॥
यस्य यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव संतापः ॥४१॥
गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ताभारः ॥४२॥
मूर्खस्याग्रहो नापायमनवाप्य निवर्तते ॥४३॥
कर्पासाग्नेरिव मूर्खस्य शान्तावुपेक्षणमौषधम् ॥४४॥
मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपनपिण्ड ॥४५॥
कोपाग्निप्रज्वलितेषु मूर्खेषु तत्क्षणप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव ॥४६॥
अनस्तितोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खं परमाकर्षति ॥४७॥
स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपाताद्गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम् ॥४८॥

२९. षाड्गुण्यसमुद्देशः

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः ॥१॥
कर्मफलोपभोगाना क्षेमसाधन शम कर्मणा योगाराधनो व्यायाम ॥२॥
देव धर्माधर्मौ ॥३॥
मानुष नयानयौ ॥४॥
देव मानुष च कर्म लोक यापयति ॥५॥
तच्चिन्त्यमचिन्त्य वा दैवम् ॥६॥
अचिन्तितोपस्थितोऽर्थसबन्धो दैवायत्तः ॥७॥
बुद्धिपूर्वहिताहितप्राप्तिपरिहारसबन्धो मानुषायत्त ॥ ॥
सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥९॥
न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्न मुखे स्वयं प्रविशति ॥१०॥
न हि दैवमवलम्बमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् संधत्ते ॥११॥
पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयो सदेहः ॥१२॥
निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥१३॥
आयुरौषधयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्परसंयोगः समीहितमर्थं साधयति ॥१४॥
अनुष्ठीयमान स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुबध्नाति ॥१५॥
त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न भूभुज प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥१६॥
प्रतिपन्नप्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुलः सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयाऽलङ्कुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥१७॥

संग्रामराज्यकुलक्रमोदीक्षाभिषेक स्वगुणैः प्रजास्वनुरागं जनयन्त राजानं नारायणमाहुः ।।१८।।
प्रवृद्धप्रतापतृतीयलोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान् द्विषद्दानवान् छेत्तु यतते विजिगीषुभूपतिर्भवति पिनाकपाणिः ।।१९।।
उदासीनमध्यमविजिगीषु-अमित्रमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारान्तर्द्धयो यथासंभवगुणगणविभवतारतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ।।२०।।
अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा संनिकृष्टे वा मण्डले स्थितो मध्यमादीना विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित्कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणो य उदास्ते स उदासीन ।।२१।।
उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित् कारणादन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थः।।२२।।
राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसपन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठान विजिगीषु ।।२३।।
य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रतिकूल्यमियर्ति स एवारि ।।२४।।
मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ।।२५।।
यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात् कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राह ।।२६।।
पार्ष्णिग्राहाद्य पश्चिमः स आक्रन्द ।।२७।।
पार्ष्णिग्राहामित्रमासार आक्रान्दमित्र च ।।२८।।
अरिविजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतन पर्वताटवी कृताश्रयश्चान्तर्द्धि ।।२९।।
अराजबीजो लुब्ध क्षुद्रो विरक्तप्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपन्नमित्रामात्यसामन्तसेनापति शत्रुरभियोक्तव्य ।।३०।।
अनाश्रयो दुर्बलाश्रयो वा शत्रुरुच्छेदनीय ।।३१।।
विपर्ययो निष्पीडनीय कर्षयेद्वा ।।३२।।
समाभिजनः सहजशत्रु ।।३३।।
विरोधो विरोधयिता वा कृत्रिमः शत्रु ।।३४।।
अनन्तर शत्रुरेकान्तर मित्रमिति नैषः एकान्तः कार्यं हि मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्षसंनिकर्षौ ।।३५।।
ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः ।।३६।।
बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी ।।३७।।
शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्त ।।३८।।
कोशदण्डबल प्रभुशक्ति ।।३९।।
शूद्रकशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ ।।४०।।
विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः ।।४१।।

शक्तित्रयोपचितो ज्यायान् शक्तित्रयापचितो हीनः समानशक्तित्रयः सम ।।४२।।
संधिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् ।।४३।।
पणबन्धः संधिः ।।४४।।
अपराधो विग्रह· ।।४५।।
अभ्युदयो यानम् ।।४६।।
उपेक्षणमासनम् ।।४७।।
परस्यात्मार्पणं संश्रयः ।।४८।।
एकेन सह सधायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रौ सधानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभाव. ।।४९।।
प्रथमपक्षे सधीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधोभावो बुद्ध्याश्रय. ।।५०।।
हीयमानः पणबन्धेन सधिमुपेयात् यदि नास्ति परेषा विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लङ्घनम् ।।५१।।
अभ्युच्चीयमान· पर विगृह्णीयाद्यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः ।।५२।।
न मा परो हन्तु नाह पर हन्तु शक्त इत्यासीत् यद्यायत्यामस्ति कुशलम् ।।५३।।
गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवति पश्चात्क्रोधः ।।५४।।
स्वमण्डलमपरिपालयत परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ।।५५।।
रज्जुवलनमिव शक्तिहीनः सश्रय कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ।।५६।।
बलवद्भयादबलवदाश्रयण हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव ।।५७।।
स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयण नद्या वहमानेन वहमानस्याश्रयणमिव ।।५८।।
वर मानिना मरण न परेच्छानुवर्तनादात्मविक्रयः ।।५९।।
आयतिकल्याणे सति कस्मिंश्चित्सबन्धे परसश्रय श्रेयान् ।।६०।।
निधानादिव च राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ।।६१।।
मेघवदुत्थान राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः संधिविग्रहाभ्याम् ।।६२।।
द्वैधीभाव गच्छेद् यदन्योऽवश्यमात्मना सहोत्सहते ।।६३।।
बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः ।।६४।।
भूम्यर्थिन भूफलप्रदानेन सदध्यात् ।।६५।।
भूफलदानमनित्यं परेषु भूमिर्गता गतैव ।।६६।।
अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति बद्धतलः ।।६७।।
उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ।।६८।।
न हि कुलागता कस्यापि भूमि. किंतु वीरभोग्या वसुन्धरा ।।६९।।

सामोपप्रदानभेददण्डा उपाया: ॥७०॥
तत्र पञ्चविध साम, गुणसकीर्तनं सबन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपसधानमिति ॥७१॥
यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपसधानम् ॥७२॥
बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानम् ॥७३॥
योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥७४॥
वधः परिक्लेशोऽर्थहरण च दण्ड· ॥७५॥
शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कल्याणबुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥७६॥
किमरण्यजमौषध न भवति क्षेमाय ॥७७॥
गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रुसबन्धो लोकस्तन्त्रमुद्वासयति ॥७८॥
मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरलाभ श्रेयान् ॥७९॥
हिरण्य भूमिलाभाद्भवति मित्रं च हिरण्यलाभादिति ॥८०॥
शत्रोर्मित्रत्वकारण विमृश्य तथाचरेद्यथा न वञ्च्यते ॥८१॥
गूढोपायेन सिद्धकार्यस्यासवित्तिकरण सर्वां शंका दुरपवाद च करोति ॥८२॥
गृहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥८३॥
शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मन. सफलयेत् क्लेशयेद्वा ॥८४॥
परविश्वासजनने सत्य शपथः प्रतिभू· प्रधानपुरुषपरिग्रहो वा हेतु· ॥८५॥
सहस्रैकीय पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात्कोप इति न यायात् ॥८६॥
सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दोरक प्रविशति ॥८७॥
न पुण्यपुरुषापचय क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभविच्छेदेन सामिषक्रव्याद् इव न परैरवरुध्यते ॥८८॥
शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ॥८९॥
अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रह कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि बिभेति जनः ॥९०॥
अनायका बहुनायका वा सभा न प्रविशेत् ॥९१॥
गणपुरश्चारिणः सिद्धे कार्ये स्वस्य न किंचिद्भवत्यसिद्धे पुन. ध्रुवमपवाद ॥९२॥
सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र परेषामपाय· ॥९३॥
गृहागतमर्थं केनापि कारणेन नावधीरयेद्यदैवार्थागमस्तदैव सर्वातिथिनक्षत्रग्रहबलम् ॥९४॥
गजेन गजबन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ॥९५॥
न केवलाभ्या बुद्धिपौरुषाभ्या महतो जनस्य संभूयोत्थाने संघातविघातेन दण्ड प्रणयेच्छतमवध्यं सहस्रमदण्ड्यम् ॥९६॥

सा राजन्वती भूमिर्यस्या नासुरवृत्ती राजा ॥९७॥
परप्रणेया राजापरीक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुरवृत्तिः ॥९८॥
परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेय ॥९९॥
तत्स्वामिच्छन्दोऽनुवर्तनं श्रेयो यन्न भवत्यायत्यामहिताय ॥१००॥
निरनुबन्धमर्थानुबन्ध चार्थमनुगृह्णीयात् ॥१०१॥
नासावर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबन्धः ॥१०२॥
लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च ॥१०३॥

३० युद्धसमुद्देशः

स किं मन्त्री मित्र वा य प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्याग चोपदिशति स्वामिन सपादयति च महन्तमनर्थसशयम् ॥१॥
सग्रामे को नामात्मवानादादेव स्वामिनं प्राणसदेहतुलायामारोपयति ॥२॥
भूम्यर्थं नृपाणा नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ॥३॥
बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्त शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥४॥
न तथेषव प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावता प्रज्ञा ॥५॥
दृष्टेऽप्यर्थे सभवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥६॥
श्रूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालती साधयामास ॥७॥
प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनाम् ॥८॥
प्रज्ञाहता कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृत ॥९॥
परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भय नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥१०॥
अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिर नन्दति ॥११॥
प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वर प्रहारो यत्र नैकान्तिको विनाश ॥१२॥
कुटिला हि गतिर्दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति जिजीविषु मारयति ॥१३॥
दीपशिखाया पतगवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् ॥१४॥
जीवितसभवे दैवो देयात्कालबलम् ॥१५॥
वरमल्पमपि सार बल न भूयसी मुण्डमण्डली ॥१६॥
असारबलभङ्ग सारबलभङ्ग करोति ॥१७॥
नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ॥१८॥
राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥१९॥
सप्रतिग्रह बल साधुयुद्धायोत्सहते ॥२०॥

पृष्ठतः सदुर्गजला भूमिर्बलस्य महानाश्रयः ॥२१॥
तथा मीयमानस्य वटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः ॥२२॥
निरन्नमपि सप्राणमेव बल यदि जलं लभेत ॥२३॥
आत्मशक्तिमविज्ञायोत्साहः शिरसा पर्वतभेदनमिव ॥२४॥
सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥२५॥
गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विष भुञ्जीत ॥२६॥
अल्पव्ययभयात् सर्वनाश करोति मूर्खः ॥२७॥
का नाम कृतधीः शुल्कभयाद्भाण्ड परित्यजति ॥२८॥
स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ॥२९॥
पूर्णसरः-सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणोपाय ॥३०॥
अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥३१॥
बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिमिषेण प्रयच्छेत् ॥३२॥
आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधि स्यान्निबन्धः शासनम् ॥३३॥
कृतसघातविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥३४॥
विनिःस्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत् ॥३५॥
वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते ॥३६॥
नास्ति सघातस्य निःसारता किं न स्खलयति मत्तमपि वारण कुथिततृणसघात ॥३७॥
सहतैर्बिसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ॥३८॥
दण्डसाध्ये रिपावुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव ॥३९॥
यन्त्रशस्त्राग्निक्षारप्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात् ॥४०॥
उत्पाटितदंष्ट्रो भुजङ्गो रज्जुरिव ॥४१॥
प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः सपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥४२॥
विद्विषा चाटुकार न बहुमन्येत ॥४३॥
जिह्वया लिहन् खड्गो मारयत्येव ॥४४॥
तन्त्रावापौ नीतिशास्त्रम् ॥४५॥
स्वमण्डलपालनाभियोगस्तन्त्रम् ॥४६॥
परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥४७॥
बहूनेको न गृह्णीयात् सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ॥४८॥
अशोधिताया परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥४९॥
विग्रहकाले परस्मादागतं कमपि न संगृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः, श्रूयते हि निजस्वामिना कूटकलह विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविपक्ष विरूपाक्षं जघानेति ॥५०॥

बलमपीडयन् परानभिषेणयेत् ॥५१॥
दीर्घप्रयाणोपहृतं बलं न कुर्यात् स तथाविधमनायासेन भवति परेषां साध्यम् ॥५२॥
न दायादादपरः परबलस्याकर्षणमन्त्रोऽस्ति ॥५३॥
यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्य दायादानुत्थापयेत् ॥५४॥
कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥५५॥
विल्वेन हि विल्व हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ॥५६॥
यावत्परेणापकृत तावतोऽधिकमपकृत्य संधि कुर्यात् ॥५७॥
नातप्त लोहं लोहेन संधत्ते ॥५८॥
तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ॥५९॥
उपचीयमानघटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥६०॥
दैवानुलोम्यं पुण्यपुरुषोपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदय' ॥६१॥
पराक्रमकर्कश' प्रवीरानीकश्चेद्धीन सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥६२॥
दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥६३॥
स्वजीविते हि निराशस्याचार्यो भवति वीर्यवेग' ॥६४॥
लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥६५॥
न चातिभग्नं पीडयेत् ॥६६॥
शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ॥६७॥
समस्य समेन सह विग्रहे निश्चित मरण जये च सन्देह', आमं हि पात्र-मामेनाभिहतमुभयतः क्षय करोति ॥६८॥
ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातियुद्धमिव ॥६९॥
स धर्मविजयी राजा यो विधेयमात्रेणैव संतुष्ट. प्राणार्थमानेषु न व्यभि-चरति ॥७०॥
स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभि-चरति ॥७१॥
सोऽसुरविजयी य प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति ॥७२॥
असुरविजयिन' सश्रय सूनागारे मृगप्रवेश इव ॥७३॥
यादृशस्तादृशो वा यायिन' स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ॥७४॥
चरणेषु पतितं भीतमशस्त्र च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥७५॥
संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ॥७६॥
स्थायिषु ससर्गः सेनापत्यायत्तः ॥७७॥
मतिमदीय नाम सर्वेषा प्राणिनामुभयतो वहति पापाय धर्माय च, तत्रार्थं लोकेऽतीव सुलभं दुर्लभं तद् द्वितीयमिति ॥७८॥
सत्येनापि शप्तव्यं महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः ॥७९॥

सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनम् ॥८०॥
नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ॥८१॥
व्यभिचारिवचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा क्रियास्ति ॥८२॥
न विश्वासघातात् परं पातकमस्ति ॥८३॥
विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ॥८४॥
असत्यसंधिषु कोशपानं जातान् हन्ति ॥८५॥
बलं बुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्प दण्डमण्डलाभोगा संहतव्यूहरचनाया हेतवः ॥८६॥
साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनम् ॥८७॥
न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण योद्धव्य किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण ॥८८॥
व्यसनेषु प्रमादेषु वा परपुरे सैन्यप्रेष्य(ष)णमवस्कन्दः ॥८९॥
अन्याभिमुखप्रयाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूटयुद्धम् ॥९०॥
विषविषमपुरुषोपनिषदवाग्योगोपजापैः परोपघातानुष्ठानं तूष्णीदण्डः ॥९१॥
एक बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधेनैकः समर्थो जनयति महान्त-मनर्थम् ॥९२॥
राजा राजकार्येषु मृताना संततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधु नोपचर्यते तन्त्रेण ॥९३॥
स्वामिनः पुरःसरणं युद्धेऽश्वमेधसमम् ॥९४॥
युधि स्वामिन परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलम् ॥९५॥
विग्रहाभ्योच्चलितस्यार्द्धं बल सर्वदा संनद्धमासीत्, सेनापति- प्रयाणमावासं च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण संचरेयुस्तिष्ठेयुश्च ॥९६॥
धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजेनाटविकाः प्रणधयः परबलान्यागच्छन्ति निवेदयेयु ॥९७॥
पुरुषप्रमाणोत्सेधमबहुजनविनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपाव-काशं च तदङ्गमध्यास्य सर्वदा स्थान दद्यात् ॥९८॥
सर्वसाधारणभूमिक तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ॥९९॥
भूचरो दोलाचरस्तुरङ्गचरो वा न कदाचित् परभूमौ प्रविशेत् ॥१००॥
करिण जपाणं वाप्यध्यासीने न प्रभवन्ति क्षुद्रोपद्रवाः ॥१०१॥

३१ विवाहसमुद्देशः

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥१॥
विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयति ॥२॥

युक्तितो वरणविधानमग्निदेव-द्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः ॥३॥
स ब्राह्म्यो विवाहो यत्र वरायालंकृत्य कन्या प्रदीयते ॥४॥
स दैवो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा ॥५॥
गोमिथुनपुरःसरं कन्यादानादार्षः ॥६॥
'त्वं भवास्य महाभागस्य सहधर्मचारिणीति' विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्य ॥७॥
एते चत्वारो धर्म्या विवाहा. ॥८॥
मातुः पितुर्बन्धूना चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद्-गान्धर्वः ॥९॥
पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥१०॥
सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाच ॥११॥
कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षस ॥१२॥
एते चत्वारोऽधमा अपि नाधर्म्या यद्यस्ति वधूवरयोरनपवाद परस्परस्य भाव्यत्वम् ॥१३॥
उन्नतत्व कनीनिकयोः, लोमशत्वं जङ्घयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्व कटिनाभि-जठरकुचयुगलेषु, शिरालुत्वमशुभसस्थानत्व च बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वा-धरहरीतकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्व कपोलयोः, पिंगलत्वमक्ष्णो-र्लग्नत्व चिल्लिकयो, स्थपुटत्व ललाटे, दुःसनिवेशत्व श्रवणयोः, स्थूल-कपिलपरुषभाव केशेषु, अतिदीर्घातिलघ्वन्यूनाधिकता समकटकुब्जवामन-किराताङ्गत्व जन्मदेहाभ्या समानताधिकत्व चेति कन्यादोषा सहसा तद्गृहे स्वयं दूतस्य चागतस्याग्रे अभ्यक्ता व्याधिमती रुदती पतिघ्नी सुप्ता स्तोका-युष्का बहिर्गता कुलटाप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोद्वासिन्यप्रिय-दर्शना दुर्भगेति नैता वृणीत कन्याम् ॥१४॥
शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥१५॥
मुखमपश्यतो वरस्यानमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा ॥१६॥
सह शयने तूष्णी भवन् पशुवन्मन्येत ॥१७॥
बलादाक्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥१८॥
धैर्यचातुर्यायत्त हि कन्याविस्रम्भणम् ॥१९॥
समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसंबन्धः ॥२०॥
महतः पितुरैश्वर्यादल्पमवगणयति ॥२१॥
अल्पस्य कन्या, पितुर्दौर्बल्यान् महतावज्ञायते ॥२२॥
अल्पस्य महता सह सव्यवहारे महान् व्ययोऽल्पश्चायः ॥२३॥
वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्याया परिग्रहः ॥२४॥
वरं जन्मनाश. कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेप: ॥२५॥

सम्यग्वृता कन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः ॥२६॥
विकृतप्रत्यूढाऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥२७॥
आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजना ब्राह्मणक्षत्रियविशः ॥२८॥
देशापेक्षो मातुलसंबन्धः ॥२९॥
धर्मसततिरनुपहता रतिर्गृहवार्तासुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धिर्देवद्विजा-
तिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मण' फलम् ॥३०॥
गृहिणी गृहमुच्यते न पुन' कुड्यकटसंघातः ॥३१॥
गृहकर्मविनियोग परिमितार्थत्वमस्वातन्त्र्यं सदाचारः मातृव्यञ्जनस्त्रीजना-
वरोध इति कुलवधूनां रक्षणोपायः ॥३२॥
रजकशिला कुर्कुरखर्परसमा हि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ॥३३॥
दानेदौर्भाग्यं सत्कृतौ परोपभोग्यत्वं आसक्तौ परिभवो मरणं वा महोपकारे-
ऽप्यनात्मीयत्व बहुकालसबन्धेऽपि त्यक्ताना तदेव पुरुषान्तरगामित्वमिति
वेश्याना कुलागतो धर्मः ॥३४॥

३२. प्रकीर्णकसमुद्देशः

समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धन प्रकीर्णकम् ॥१॥
वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमतिः सुमुखः सुव्यक्तो मधुरगम्भीरध्वनि
प्रगल्भः प्रतिभावान् सम्यगूहापोहावधारणगमकशक्तिसपन्नः संप्रज्ञात-
समस्तलिपिभाषावर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेखनवाचनसमर्थ-
श्चेति सान्धिविग्रहिकगुणा. ॥२॥
कथाव्यवच्छेदो व्याकुलत्व मुखे वैरस्यमनवेक्षण स्थानत्याग. साध्वाचरितेऽपि
दोषोद्भावन विज्ञप्ते च मौनमक्षमाकालयापनमदर्शन वृथाभ्युपगमश्चेति
विरक्तलिङ्गानि ॥३॥
दूरादेवेक्षणं, मुखप्रसाद सप्रश्नेष्वादरः प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं, परोक्षे गुण-
ग्रहण तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्तलिङ्गानि ॥४॥
श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वमुभयालंकारसपन्नत्वमन्यूनाधिक -
वचनत्वमतिव्यक्तान्वयत्वमिति काव्यस्य गुणाः ॥५॥
अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितगतार्थत्व दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासमयथा-
र्थयतिविन्यासत्वमभिधानाभिधेयशून्यत्वमिति काव्यस्य दोषाः ॥६॥
वचनकविरर्थकविरुभयकविश्चित्रकविर्वर्णकविर्दुष्करकविररोचकीसतुषाभ्यव-
हारी चेत्यष्टौ कवय ॥७॥
मनःप्रसाद कलासु कौशलं सुखेन चतुर्वर्गविषयव्युत्पत्तिरासंसारं च यश
इति कविसंग्रहस्य फलम् ॥८॥

आलप्तिशुद्धिर्माधुर्यातिशयः प्रयोगसौन्दर्यमतीवमसृणतास्थानकम्पितकुहरि-
तादिभावो रागान्तरसंक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥९॥

समत्वं तालानुयायित्वं गेयाभिनेयानुगतत्वं श्लक्ष्णत्वं प्रव्यक्तयतिप्रयोगत्वं श्रुतिसुखावहत्वं चेति वाद्यगुणाः ॥१०॥

दृष्टिहस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुश्लिष्टललिताभिन-
याङ्गहारप्रयोगभावो रसभाववृत्तिलावण्यभाव इति नृत्यगुणाः ॥११॥

स महान् यः खल्वार्तोऽपि न दुर्वचनं ब्रूते ॥१२॥

स किं गृहाश्रमी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ॥१३॥

ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वणिज्या च तादात्विकानां नायतिहितवृत्ती-
नाम् ॥१४॥

स्वस्य विद्यमानमर्थिभ्यो देय नाविद्यमानम् ॥१५॥

ऋणदातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कलहः परिभवः प्रस्तावेऽर्थालाभश्च ॥१६॥

अदातुस्तावत्स्नेह. सौजन्य प्रियभाषण वा साधुता च यावन्नार्थावाप्ति. ॥१७॥

तदसत्यमपि नासत्य यत्र न संभाव्यार्थहानि. ॥१८॥

प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवाद ॥१९॥

अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ॥२०॥

सत्कलासत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः ॥२१॥

रतिकाले यन्नास्ति कामार्तो यन्न ब्रूते पुमान् न चैतत्प्रमाणम् ॥२२॥

तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्य कलहो रतिकैतवं च ॥२३॥

तादात्विकबलस्य कुतो रणे जय' प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा ॥२४॥

तावत्सर्वः सर्वस्यानुवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थ' ॥२५॥

अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ॥२६॥

पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दाहोपशान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागा-
भ्याम् ॥२७॥

तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥२८॥

न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात् सन्धिविग्र-
हयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य च ॥२९॥

पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धम् ॥३०॥

स प्रभुर्यो बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोः फलसंपदा या न भवति परेषामुप-
भोग्या ॥३१॥

मार्गपादप इव स त्यागी य' सहते सर्वेषां सबाधाम् ॥३२॥

पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः ॥३३॥

[illegible] सर्वोऽपि देशः ॥३४॥

अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी ॥३५॥

श्रीमतो ह्यरण्यान्यपि राजधानी ॥३६॥

सर्वस्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिर्विपर्यस्ता ॥३७॥

पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौःस्थ्यम् ॥३८॥

दैवानुकूलः का संपद न करोति विघटयति वा विपदम् ॥३९॥

असूयकः पिशुन कृतघ्नो दीर्घरोष इति कर्मचाण्डालाः ॥४०॥

औरसः क्षेत्रजो दत्त कृत्रिमो गूढोत्पन्नोऽपविद्ध एते षट्पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ॥४१॥

देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दायादविभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्याम् ॥४२॥

अतिपरिचय कस्यावज्ञा न जनयति ॥४३॥

भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्य न मुञ्चति ॥४४॥

अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघु शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरुम् ॥४५॥

रतिमन्त्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥४६॥

सुष्ठुपरिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ॥४७॥

मत्तवारणारोहिणो जीवितव्ये संदेहो निश्चितश्चापायः ॥४८॥

अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभङ्गमनापाद्य न तिष्ठति ॥४९॥

ऋणमददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ॥५०॥

अन्यत्र यतिब्राह्मणक्षत्रियेभ्यः ॥५१॥

तस्यात्मदेह एव वैरी यस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहते ॥५२॥

तस्य किमसाध्य नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीन सर्वक्लेशसहः सर्वत्र सुखशायी च ॥५३॥

स्त्रीप्रीतिरिव कस्य नामेय स्थिरा लक्ष्मीः ॥५४॥

परपैशुन्योपायेन राज्ञा वल्लभो लोकः ॥५५॥

नीचो महत्त्वमात्मनो मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥५६॥

न खलु परमाणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किंतु स्वगुणेन ॥५७॥

न खलु निर्निमित्तं महान्तो भवन्ति कलुषितमनीषा ॥५८॥

स वह्नेः प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णम् ॥५९॥

सुचिरस्थायिन कार्यार्थी वा साधूपचरेत् ॥६०॥

स्थितैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥६१॥

सत्पुरुषपुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतो नास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ॥६२॥

सपदि संपदमनुबध्नाति विपच्च विपदम् ॥६३॥

गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्परं विचारयति ॥६४॥

शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परमात्मानं रञ्जयन्ति ॥६५॥

चित्रगतमपि राजानं नावमन्येत क्षात्रं हि तेजो महती सत्पुरुषदेवतास्वरूपेण तिष्ठति ॥६६॥

कार्यमारभ्य पर्यालोचः शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न इव ॥६७॥

ऋणशेषाद्रिपुशेषादिवावश्यं भवत्यायत्यां भयम् ॥६८॥

नवसेवकः को नाम न भवति विनीतः ॥६९॥

यथाप्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ॥७०॥

अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ॥७१॥

अर्थार्थी नीचैराचरणान्नोद्विजेत्, किन्नाधो व्रजति कूपे जलार्थी ॥७२॥

स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृत्तिहेतु जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्याकरणम् ॥७३॥

ग्रन्थकारकी प्रशस्ति

इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पञ्चपञ्चाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वत श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्ति-वादीभपञ्चाननवाक्कल्लोल-पयोनिधि-कविकुञ्जराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालंकारेण, षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्तामणिस्तव-महेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृत) समाप्तमिति ।

अल्पेऽनुग्रहधी समे सुजनता मान्ये महानादरः,
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि ।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते ॥१॥

सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी,
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्व,
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥२॥

[दुर्जनाङ्घ्रिपकठोरकुठार] स्तर्ककर्कशविचारणसारः ।
सोमदेव इव राजनि सूरिर्वादिमनोरथभूरिः ॥३॥

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे
वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे ।
श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले
वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥४॥

●